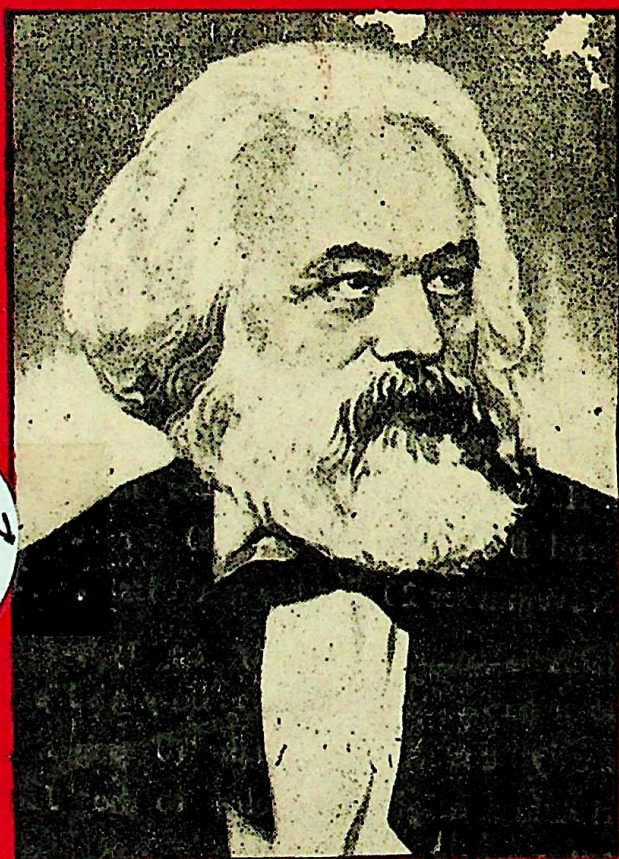


# प्रज्ञा

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका



T4.445213mN  
152 M5

कार्ल मार्क्स स्मृति अंक

अंक 30 ( भाग 2 ) एवं 31 ( भाग 1 ) वर्ष - 1985



## नियम

(1) 'प्रज्ञा', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व ।

(2) सभी प्रकार का शुल्क संपादक 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी 221005 के नाम भेजें ।

(3) पत्रिका में प्रकाशनायें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रथम अंक के लिए 20 जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए 20 नवम्बर तक संपादक-मंडल के पास पहुँच जावा चाहिए ।

(4) लेख फुलस्केप मायड पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यतः 10 पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए । लेखकों को उनके लेख के प्रतिमुद्रण की 25 प्रतियाँ दी जायेंगी ।

(1) The 'Prajna,' shall so far as possible, be published twice a year: one issue immediately after the

issue immediately before the Holi. should be sent to the Editor, Journal, Varanasi-221005

for publication in this Journal. Manuscripts should be submitted to the Editor before July 20 for the first issue and before 20 for the next issue.

Manuscripts should ordinarily be type-written on one side only and should not exceed more than 10 pages. Authors of original articles to the Journal are entitled to 25 off-prints.

T4.445213mN 7938  
152M5

Singh, Vijaypal & others,  
Ed.  
Prajna.



7938

प्रज्ञा

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

[illegible]





# काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अङ्क 30 ( भाग 2 ) एवं 31 ( भाग 1 )

वर्ष—1985

मूल्य : 41-00



सम्पादक मण्डल

डॉ० देवेन्द्र कुमार राय  
डॉ० हरिवल्लभ नेमा  
डॉ० शिव प्रसाद सिंह  
डॉ० जी० बी० मोहन तम्पी  
डॉ० उषा किरण मेहरा  
डॉ० हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव  
डॉ० अबरार अहमद  
डॉ० रवीन्द्र नाथ मिश्र

T4.4452137011  
152115

( कार्लमाक्स स्मृति अंक सम्पादक मण्डल )

इकबाल नारायण ( अध्यक्ष )

बी० एम० शुक्ल

रणधीर सिंह

रवीन्द्र कुमार

नामवर सिंह

कृष्ण बिहारी मिश्र

मनोरंजन झा

शिव प्रसाद सिंह

जी० बी० मोहन तम्पी

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव

JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR दीपक मल्लिक

LIBRARY

Jangamawadi Math, Varanasi

Acc. No. 7938

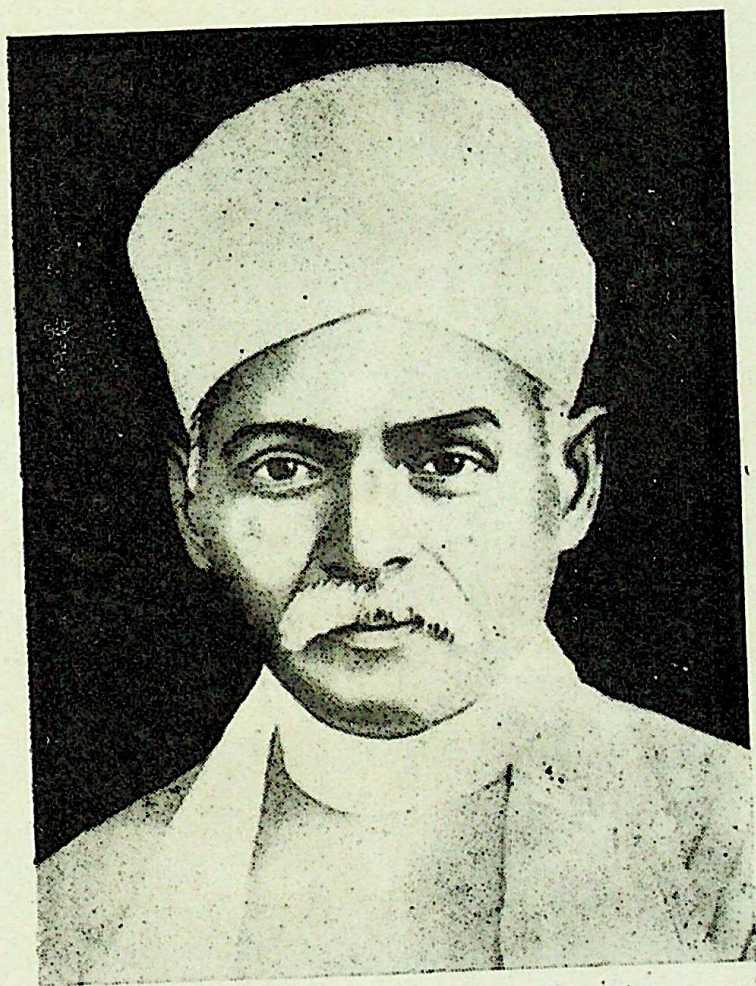
आनन्द कुमार

राम मोहन पाण्डेय ( सम्पादक )

मुद्रक—सीमा प्रेस, ईश्वरभंगी, वाराणसी ।



# काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पं० भदन मोहन मालवीय



न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।  
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम् ॥

अ.विभांनः वि० सं० १९१८ पौष कृष्ण ८ ( २५-१२-१८६१ )  
निगोधनः वि० सं० २००३ मागशीष कृष्ण ४ ( १२-११-१९४६ )







कुलपति  
VICE-CHANCELLOR



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी-221005  
Banaras Hindu University  
Varanasi—221005

May 28, 1985.

### *Message*

I am happy to note that a special issue of *Prajna* is going to be devoted to first hundred years after Marx. There is no doubt that Marx has been amongst foremost thinkers who has influenced world thought. Although Marxist thought has been intensively studied both for and against, it is still a live issue. Even after hundred years after Marx (Marx died on 14 th March, 1883) his work still stimulates fresh lines of enquiry in the fields of epistemology and ontology. Marxist ideas on development of society have profoundly influenced social sciences. Materialist interpretation of history still retains freshness. An objective study of Marx with an open method is still relevant. I hope the special issue will stimulate an objective and non-dogmatic study.

*R. P. Rastogi*

( R. P. Rastogi )  
Vice -Chancellor







## सम्पादकोय

जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स विश्व के उन महापुरुषों में हैं जिन्होंने मानवता को सार्वभौम एवं व्यापक स्तर पर प्रभावित किया है। उनके चिंतन का दार्शनिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व है। राजनीतिक सिद्धान्त की आर्थिक व्याख्या में उन्होंने निश्चित व्यवस्था का उद्घाटन किया है। 'द्वितीय अन्तराष्ट्रीय' में मार्क्सवादियों के बड़े समूह ने मार्क्स को आर्थिक और सामाजिक विचार के प्रतिपादन से आगे जीवन के उन तमाम संदर्भों के साथ जोड़ा जो मानव जीवन में परिवर्तन के लिए साधन बनते हैं। दूसरे पक्ष ने माना कि उनके चिंतन ने एंगेल्स के दार्शनिक विश्लेषण के माध्यम से व्यवस्थित रूप प्राप्त किया। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स दोनों ने मिलकर साम्यवादी चिंतन की काल्पनिक अवधारणा को वैज्ञानिक रूप दिया।

मार्क्सवाद में अद्यतन अभिरुचि की वैचारिक पृष्ठभूमि के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इसकी सैद्धान्तिक परम्परा स्थापित हो चुकी है। मार्क्सवाद के समर्थक तथा विरोधी दोनों के लिए यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि आधुनिक साम्यवाद, सैद्धान्तिक एवं संस्थागत रूप में, मार्क्स के वास्तविक विचारों का कितना वैध उत्तराधिकारी है। इसके तीन उत्तर हैं—१. आधुनिक साम्यवाद मार्क्स का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है, २. आधुनिक साम्यवाद ने मानवता की मुक्ति और मंगल की आशा का विस्तार किया है और ३. आधुनिक साम्यवाद मार्क्स के विचारों का विकृत रूप है जिसने मार्क्सवादी समाजवाद के मूलभूत सिद्धान्तों के साथ विश्वासघात किया है।

जहाँ तक पहले उत्तर का संदर्भ है, यह साम्यवाद विरोधी रूढ़ि का विकसित रूप है। दूसरा, साम्यवाद समर्थकों की रूढ़ि का पिण्डपेण है। तृतीय उत्तर संशोधनवादियों या 'मुक्त मार्क्सवादियों' का है। वस्तुतः मार्क्स के विचारों की ईमानदार व्याख्या में इस प्रकार की बात नहीं आनी चाहिए। मूल प्रश्न है कि क्या आज के जटिलतम सामाजिक विकास, वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्रांति से जनमी आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं के समाधान में मार्क्सवाद पर्याप्त है? इस प्रश्न को इस रूप में भी रखा जा सकता है कि यदि आज मार्क्स होता तो इन समस्याओं के साथ उसके नाम पर चलने वाली संस्थाओं के व्यवहार पर उसकी प्रतिक्रिया क्या होती? कहा तो जाता है कि यदि वह कुछ दिन और जीवित रहता तो अपने विचारों में संशोधन करता। इधर मार्क्स की अप्रकाशित रचनाएँ जिस प्रकार प्रकाश में आ रही हैं उनसे इस बात को बल मिलता है।

मार्क्सवाद को मानवता के प्रति विश्वासघात या उसका एक मात्र उद्धारक मानना अतिवाद है। हमें यह मानकर चलना चाहिए कि कोई भी राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक आंदोलन अपने में पूर्ण नहीं होता। मुख्य बात होती है, उसकी आधारभूत



मान्यता जो मानव कल्याण के लिए उपयोगी हो। यदि उसकी अवहेलना हुई तो ऐतिहासिक व्यंग इस रूप में सामने आता है कि अनुयायी मूल विचारक के प्रतिवाद बन जाते हैं। इसके साथ दूसरा भी पक्ष है कि विचारों की ऐतिहासिक व्याख्या में किसी ऐतिहासिक व्यंग के प्रति समाज सहानुभूति नहीं रखता। वह इस व्याघात को विचारक के विचार की त्रुटि मानता है। इसी आधार पर मार्क्स के चिंतन में मूलभूत त्रुटियों की खोज होती है। सामाजिक विकास में जिन नई शक्तियों का प्रयोग हुआ और विकास प्रक्रिया में जो नये आयात आये, मार्क्स उनकी परिकल्पना कर चुका था, क्योंकि उसकी चिंतन प्रक्रिया वैज्ञानिक भी और सामाजिक विकास के मूलभूत तथ्यों से वह भली प्रकार परिचित था। यह धारणा भी अंध विश्वास ही कही जाएगी। कारण स्पष्ट है—मार्क्स के चिंतन से जुड़े भावी समाज की विकास प्रक्रिया वैसी नहीं रही जैसा मार्क्स ने कहा था। खेद है कि मात्र इतना कहने से ही मार्क्सवादी खेमें में संशोधनवादी शब्द का संकुचित प्रयोग होने लगता है।

विचारों के इतिहास का निरपवाद पक्ष यह भी है कि भविष्य में प्रत्येक विचारधारा के अपने सम्प्रदाय बन जाते हैं। इस स्थिति में 'वास्तविक' मार्क्सवाद क्या है यह सवाल अंध-होना हो जाता है; विशेषतया मार्क्स के सम्बन्ध में जिसमें वैज्ञानिकता और प्रयोग का पुट ज्यादा है। साम्प्रदायिक विचार के दो खतनाक पक्ष होते हैं—मठीय चिंतन और अराजक-चिंतन। आज मार्क्सवाद इन दोनों से ग्रस्त है। एक तरफ सोवियत रूस और चीन जैसे देशों के साम्यवादी मार्क्सवादी व्यवहार ही नहीं उसकी व्याख्या के भी ऐकान्तिक एवं प्रामाणिक व्याख्याकार होने का दावा करते हैं। दूसरी तरफ यूरोप, अमेरिका एवं तृतीय विश्व में मार्क्स से जुड़े अनेक सम्प्रदाय स्पष्ट रूप से मानते हैं कि सोवियतसम और लालचीन ने मार्क्सवाद को नष्ट कर दिया है। ऐसा वे मार्क्स की रचनाओं के आधार पर कहते हैं। लेकिन ऐसा कहने वाले मार्क्सवादियों ने मार्क्स के विचारों को कहीं भी व्यावहारिक रूप नहीं दिया है और जो व्यावहारिक रूप सामने आया उसे वे मार्क्सिय पतन की पराकाष्ठा मानते हैं। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि परस्पर एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी साम्प्रदायिक विचार अपने को मार्क्स का वास्तविक उत्तराधिकारी मानते हैं। अब प्रश्न है यह सिद्ध करवा कि 'वास्तविक मार्क्सवादी' कौन है ?

इस प्रकार के विवाद निश्चित ही शक्तिमान् विचार के लक्षण हैं। मार्क्स के विचार निश्चित ही शक्तिमान् रहे हैं और उसकी शक्ति नाज़ी और फासी विचारों से भिन्न मानव कल्याण के लिए सशक्त हथियार है। पूंजीवादी विचारकों ने मार्क्स की वैचारिक शक्ति को नाज़ी और फासी विचारों के साथ जोड़ने का जो प्रयास किया है उसे मानना उचित नहीं प्रतीत होता।

मार्क्स के प्रकाशित साहित्य की प्रामाणिकता पर भी मतभेद है। मठीय और अराजक मार्क्सवादी लेखकों ने इसमें कस भूमिका नहीं निभायी है। २० वीं शताब्दी में मार्क्स की जो रचनाएँ प्रकाशन में आ रही हैं उनसे मार्क्स की मूलभूत मान्यताओं पर प्रभाव पड़ता है कि नहीं इसे अलग कर भी इस बात की अवहेलना नहीं की जा सकती कि मार्क्स की



रचनाओं में परस्पर असंगतियाँ हैं। आग्रहस्त मार्क्सवादी इसे भले ही अस्वीकार करें लेकिन 'युवा मार्क्स' और 'वृद्ध मार्क्स' जैसे विभाजन विद्वानों में बहुमत सम्मत हो रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मार्क्स की रचनाओं के प्रकाशन से यह माना जा रहा है कि यदि मार्क्स की पूरी रचनाएँ प्रकाशित हो जाँय तो मार्क्सवाद का स्वरूप मठीय मार्क्सवाद से अत्यन्त भिन्न हो जाएगा। अब तक प्रकाशित रचनाओं में जो तारतम्य बत पाया है उसमें व्याख्या के लिए अधिक संभावनाएँ भी सामने आयी हैं। इसका परिणाम यह भी हो रहा है कि मार्क्स के उन विचारों की व्याख्या इस रूप में आ रही है जो मार्क्स के नाम पर स्थापित मान्यताओं से सर्वथा भिन्न है।

मार्क्स के चिंतन में जो मूलभूत दार्शनिकता है उसे ओझल नहीं किया जा सकता। पुनर्जागरण की शब्दावली में मार्क्स मानवतावादी है, अपेक्षाकृत पाण्डित्यपूर्ण लेखक के। उसका मस्तिष्क मानव व्यवहार की समग्रता से जुड़ा हुआ है। मानवता जिन बड़ी समस्याओं से जूझ रही है उसकी समग्र स्वायत्तता और सामाजिक मुक्ति की अपूर्व दृष्टि मार्क्स के सम्बन्ध में सर्वसम्मत मत है। फ्रेंच के तौर पर मार्क्स के विचारों की तीन अवधारणाएँ व्यक्त की जाती हैं—दार्शनिक नृत्तत्व विज्ञान, समाजवाद सिद्धान्त और आर्थिक विश्लेषण। इसका सम्बन्ध जर्मन द्वन्द्ववाद, फ्रांसीसी समाजवाद और ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र से जोड़ा जाता है। वैज्ञानिक क्रांति के साथ चिंतन पूरी मानवता का अनिवार्य विषय है। मार्क्स के विचार देश, जाति एवं साम्प्रदायिक संकीर्णता से परे समग्र मानवता से जुड़े हैं। वैदिक एवं बौद्ध दार्शनिकों के समान उसने दुःख के कारणों एवं उन कारणों के उन्मूलन के लिए विचार किया। फलतः मार्क्स के विचार चिंतन या विश्लेषण ही नहीं परिवर्तन के हथियार हैं। मार्क्सवाद पर हमला करने वाले 'मार्क्सवादी' जो उसमें अपर्याप्तता या काल सापेक्षता की सीमा स्थापित करते हैं वे भी मार्क्स का यह अर्थ अस्वीकार नहीं कर पाते कि मार्क्स मानव कल्याण के लिए होने वाले संघर्ष में आज भी ताजा और टटका है और मार्क्स को आज भी शोषण के विपरीत संघर्ष और सामाजिक क्रांति का अगुआ माना जाय।

मार्क्स पर आधुनिक दुनियाँ में प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। धरती का बहुत बड़ा अंश मार्क्स के विचारों से जुड़ा हुआ है। आज भी मार्क्स समर्थन और विरोध का केन्द्र बिन्दु बना है। मार्क्स के इस रूप को हम महापुरुष का प्रतीक मानते हैं। निश्चित ही विचार विनिमय की प्रक्रिया में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का जो उद्देश्य रहा है उसे ध्यान में रखते हुए 'प्रज्ञा' परिवार ने अपना दायित्व माना कि मार्क्स की शताब्दी पूर्व पर मार्क्स विशेषांक के रूप में उसका सम्मान किया जाय। इसी संकल्प का फल प्रस्तुत 'कार्ल मार्क्स स्मृति अंक' है।

सम्पादक मण्डल आग्रह मुक्त है। साथ ही वह विशेषांक को बहस का मंच भी नहीं मानता। लेखकों के विचार उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति हैं। हम विनम्र भाव से सबका आदर करते हैं।

हमारे ज्ञानयज्ञ के निमंत्रण पर विषय से सम्बद्ध देश-विदेश के विद्वानों ने अपने लेख भेजकर न केवल हमारी शोध पत्रिका को समृद्ध किया है अपितु हमारे सम्मान की



रक्षा भी की है। उनके इस स्नेह-सदभाव के मंदराचल से हम मार्क्स के विचार बारिधि का कहाँ तक मथन कर पाये हैं इसका निर्णय तो सुप्री जनों पर छोड़ना ही उचित होगा—“कविः करोति काव्यानि स्वादु जानन्ति पण्डिताः” हम अपने सभी सहयोगी लेखकों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने हमारी अमूर्त कल्पना को मूर्त रूप प्रदान किया है। कुछ युवा विचारकों के लेखों को भी इस अंक में स्थान देकर हमने उभरती हुई पीढ़ी की भावना रक्षा का प्रयास किया है। इस संदर्भ में जनवादी कवि गोस्वामी तुलसीदास की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

मुखिया मुख सों चाहिए खान पान कहै एक ।

पालै पोसै सकल अंग तुलसी सहित विवेक ॥

इस विशेषांक के प्रेरणा स्रोत प्रो० इकबाल नारायण, भूतपूर्व कुलपति काशी हिन्दू विश्व विद्यालय का स्मरण आवश्यक है। उन्होंने हमें न केवल इस दिशा में प्रेरित किया अपितु अपने कुशल निर्देशन और अप्रतिम सहयोग से भी गौरवान्वित एवं उपकृत किया है।

सम्पादक मण्डल के बाहर के परामर्शदाताओं में प्रो० वी० एम० शुक्ल, कुलपति गोरखपुर विश्वविद्यालय, प्रो० रणधीर सिंह, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रो० रवीन्द्र कुमार निदेशक, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लाइब्रेरी, नई दिल्ली, प्रो० नामवर सिंह, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय एवं डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र कलकत्ता के सत् परामर्श एवं सहयोग के प्रति भी हम हृदय से अभारी हैं।

विश्वविद्यालय सम्पादक मण्डल के अपने वरिष्ठतम सहयोगी स्व० प्रो० मनोरंजन झा के प्रति हम किन शब्दों में आभार व्यक्त करें। उन्होंने सचिपुर्वक जिस तत्परता और उत्साह से इस कार्य का शुभारम्भ कराया उसकी स्मृति उनके कर्मठ व्यक्तित्व का जीवन्त दर्पण बनकर शेष रह गयी है। अस्वस्थता के क्षणों में भी घंटों बैठकर उन्होंने हमारा सहयोग किया है। आज वे हमारे बीच नहीं रहे पर उनकी अमूर्त चेतना का तेजस्वरूपः इस अंक के रूप में विद्यमान है। प्रस्तुत अंक का प्रकाशन ही उनकी आत्मा के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि है।

सम्पादक मण्डल के अन्य सहयोगी एक शरीर एक प्राण के रूप में अनवरत मिलकर कार्य करते रहे हैं। इसमें नामोल्लेख स्वतः अपनी प्रशंसा के समान होगा।

प्रस्तुत अंक के लिए शुभाशंसा के दो शब्द लिखकर हमारे वर्तमान कुलपति प्रो० रघुनाथ प्रसाद रस्तोगी ने हमें उपकृत किया है। अपनी व्यस्तचर्या से समय निकालकर हमारे आग्रह का अभिषेक सदाशयता के साथ उनके अपूर्व विद्यानुराग का भी परिचायक है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि विशेषांक सहृदय एवं विचारशील पाठकों को अभीष्ट परितोष प्रदान करेगा।

राय मोहन पाण्डेय



## कालंभाक्संशतकम्

### शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी

स जयति कालो माक्सः पीडितजनबन्धुतामासः ।  
 श्रसधनतत्त्वविवेचनपाण्डित्यं यज्जगद्विदितम् ॥ १ ॥  
 विपुलतमाध्ययनानां संसारे संचरन् योज्यम् ।  
 वैचारिकविश्वस्मिन् नूतनां धारां प्रवाहितवान् ॥ २ ॥  
 शोषितजनताहृदयस्पन्दनमन्दाकिवीस्नातः ।  
 कालो माक्सः श्वासान् सर्वान् तस्यै समर्पणमास ॥ ३ ॥  
 दर्शनगतविषयाणां सर्वेषां मूलमन्विष्यन् ।  
 प्रामाणिकसद्ग्रन्थान् सर्वान् सोऽयं विलोडयामास ॥ ४ ॥  
 सामाजिकसंरचनाविभागमध्ये स्वयं पतितः ।  
 निखिलोद्योतितविश्वः साम्यं वाद विवेचयामास ॥ ५ ॥  
 गरलाभैस्तैः श्वानैः कदर्थनायां प्रजातायाम् ।  
 -भीतामिवमानवतामभयाऽरण्ये निवेष्टयामास ॥ ६ ॥  
 गगने विहरणशीला दार्शनिकाः सुप्रसिद्धास्ते ।  
 माक्संस्थ दर्शनेनोन्मथितस्वान्तास्तथा जाताः ॥ ७ ॥  
 यन्त्राणामाधारे प्राभून्नवसंध्यतोन्मेषः ।  
 तेनानेनैवैको शोषकवर्गः समुन्नीतः ॥ ८ ॥  
 कोटिप्रमितजनानां सुस्वास्थ्यं धूलिसात्कृत्वा ।  
 तेषां श्रमेण सुखमयराज्यं भुङ्क्तेऽथ तादृशो वर्गः ॥ ९ ॥  
 कोट्यबुद्बुदेषु मुद्रा यत्पार्श्वे राजते सततम् ।  
 तच्छक्त्या वर्गोऽयं निष्किञ्चनरक्तक्षोपणे लग्नः ॥ १० ॥  
 विपुला सेयं मुद्रा श्रमिकाणां सत्परिश्रमेणैव ।  
 एकत्रिता निकाशं ते तु पुनर्वञ्चिता एव ॥ ११ ॥  
 श्रमिकाणां पार्थक्ये विचारमात्राद्यभावे वा ।  
 शोषकवर्गस्येयं माया सर्वा ममुच्छलिता ॥ १२ ॥  
 तेषां खलु सीमागयाज्जर्मनदेशे समुद्भूतम् ।  
 -संसारे दलितानां जीवनसंदायकं ज्योतिः ॥ १३ ॥  
 वैचारिकसंघर्षोन्माये देशस्य तस्यैव ।  
 मे शासकाः समासंस्ते माक्सति संप्रकम्पिता जाताः ॥ १४ ॥



निर्वासनमथ विहितं जर्मनदेशात् माक्संस्य ।  
लन्दननगरे स्थित्वा माक्सोऽध्ययनं प्रवर्तयामास ॥ १५ ॥  
एंगेल्सं मित्रवरं भाग्यान्नूनं समालम्ब्य ।  
श्रमिकाणां जागरणे माक्सो धारां प्रवाहितवान् ॥ १६ ॥  
सर्वस्मिन् संसारे भूकम्पं किमपि तादृशं तन्वन् ।  
संप्रस्तुतं स्वकीयं श्रमिकाणां किमपि घोषणापत्रम् ॥ १७ ॥  
शतशः सहस्रशो वा लेखान् सम्यग् विरचयन् सोऽयम् ।  
संसारधारणायामुत्तेजकतां समादधौ ॥ १८ ॥  
संसारस्य समस्ताः श्रमिका एकीभवन्तु चाऽयान्तु ।  
एकीभावे भवतां श्रेयोलाभोऽस्ति सर्वेषाम् ॥ १९ ॥  
श्रमिका एव नितान्तं सर्वोन्नततां भजन्तो वै ।  
स्वर्गस्थमपि समस्तमैश्वर्यं कर्गतं कुर्युः ॥ २० ॥  
अर्थाधारित - दर्शन - दान - प्रोन्नमन - संकायः ।  
संसारं विलब्धं कृतवान् माक्सो निकामनञ्जः सन् ॥ २१ ॥  
नानाविध - कष्टानां स्वीकारेष्वस्ति यादृशी तृप्तिः ।  
सा सर्वाप्यनुभूता कालेन तु वैपरीत्येषु ॥ २२ ॥  
यदि नाऽभवदैंगिल्सः माक्सो माक्सः कथं भूयःत् ।  
सन्मित्रलक्षणं यत्तत्तस्मिन्नस्ति चरितार्थम् ॥ २३ ॥  
माक्सो प्रविष्टमात्रे विचारधाराप्रवाहेषु ।  
भूकम्पः समजायत सर्वेष्वप्यसुरभावेषु ॥ २४ ॥  
नाना नियन्त्रणानामासीत्सा काऽपि परिपाटी ।  
निगडितवाचो यस्यां सर्वाभाशां समापयन्त्येव ॥ २५ ॥  
किन्तु स कालो माक्सो विपरीतायां परिस्थितौ तादृक् ।  
वैचारिकमन्थनमथ सम्यक् कृतवान् सुबोधार्थम् ॥ २६ ॥  
इतिहासानां मननं स्वीकृतवानात्मबोधार्थम् ।  
संसारवेशसंस्कृतिसमधिकसाहसभरं नितराम् ॥ २७ ॥  
सामाजिकाधिकविपदवैरूप्येषु प्रजागरूकेषु ।  
ये क्षान्तिं मग्नानः स्तेषामालोचनां चक्रे ॥ २८ ॥  
हीगलकाष्टप्रभृतिभिरत्यादिष्टे हि दर्शने सम्यक् ।  
मननं विधाय तेषां नितरां सम्पूर्तिमातेने ॥ २९ ॥  
लन्दननगरे निवसन् पुस्तकसन्धिरमथापि सक्नुर्वन् ।  
नाना लेखान् विलिखन् विचारसारा-पुरश्चक्रे ॥ ३० ॥  
सा च तदीया दयिता कष्टानां संघबद्धानाम् ।  
मध्येऽधिकं समृद्धा सेवां चक्रे सुनिपुणस्य ॥ ३१ ॥  
अर्थाभावस्यासीत्प्रत्यक्षाऽनुभव एतादृक् ।  
सम्यक् परिचरणानामभावे भावे मृता हि तत्पुत्री ॥ ३२ ॥



भूधन्या ये मान्या जगस्ति विचारान्समर्पयन्तो वा ।  
 स्वीये जीवनकाले सर्वं कष्टं सहन्ते नु ॥ ३३ ॥  
 नाना सुखभोगानां शक्तियपिस्ति मानवस्येयम् ।  
 वैचारिकवैषम्यं प्रतिकूलं यत्र चोल्लसति ॥ ३४ ॥  
 संघर्षाणां गाथाभिनवभावप्रपूरितामेवाम् ।  
 साक्षात् कृतवान् लन्दननगरे माक्सो विनीतभावेषु ॥ ३५ ॥  
 कैपटलाख्ये ग्रन्थे यद्यल्लिखितं पुनस्तेन ।  
 सा ननु गीता जाता श्रमिकाणां स्वात्मलाभाय ॥ ३६ ॥  
 नाना क्लेशान् सोढुं वा तादृशपुस्तकविलेखने सम्यक् ।  
 जागरणेषु वितान्तं प्रसन्नतायाः परा काष्ठा ॥ ३७ ॥  
 संपूर्णं जीवनमथ जागरणे संव्यतीतं यत् ।  
 तेन च नवनीतं तत् प्रकटीभूतं किमपि तादृक्-॥ ३८ ॥  
 संसारे ये विज्ञास्तैरेतत्सर्वं भाकृतम् ।  
 सधारितं नितान्तं न भ्रतरैस्तैर्मनोभावैः ॥ ३९ ॥  
 क्रान्तिं सूते यस्य च विचारधारा श्रमासारा ।  
 कारायितभूभारा वाराधितवैभवाध्वारा ॥ ४० ॥  
 माक्सो बनु जनतायां देवः सेवासमारम्भैः ।  
 कार्यैः क्रान्तिभरैर्ननु सम्पूज्यः कोऽपि संजातः ॥ ४१ ॥  
 माक्सः कालविशाले जाले सततं परिव्याप्तः ।  
 निखिलमिदं जगतीतलमथ संक्षुब्धं परं कृतवान् ॥ ४२ ॥  
 परितोऽपि जायताभिरेताभिर्ये समस्याभिः ।  
 सततं पलायमानाः किं ते नूनं प्रकुर्वन्ति ॥ ४३ ॥  
 प्राचीनं सर्वमिदं समापनीयं पुनर्नूलम् ।  
 सर्वं प्रगुणीकार्यं सर्वं तत्साम्यभावेच ॥ ४४ ॥  
 साम्यं सर्वं स्थाप्यं वैषम्यं दूरणीयं हि ।  
 वैषम्ये वाक्षोऽयं साम्ये सा सर्वसम्पत्तिः ॥ ४५ ॥  
 उत्पादनवेलायां घनं श्रमश्चापि संप्रय ।  
 माला बबधस्तूनां वैपुल्यं संप्रकाशयति ॥ ४६ ॥  
 धमिवाभिमिपतिभावो दूरीकार्यः प्रयत्नेन ।  
 सर्वेषां अपि नूनं श्रमिकाणामर्बलाभोऽयम् ॥ ४७ ॥  
 श्रमिका एते वित्तं सर्वविधं दोह्यमुपयाताः ।  
 स्वामित्वे कथं वा स्वयंबुताः स्युर्विशेषतो यत्नैः ॥ ४८ ॥



मानवमात्रस्य तथाऽलोभ्यः कश्चिन्नबोन्मेषः ।  
 यस्य च विकासधारा क्रोडीकुस्तेऽखिलं विश्वम् ॥ ४९ ॥  
 मावर्सेन समुद्योगः कश्चन सोऽयं समारब्धः ।  
 येनानेन नितान्तं युगसद्भावः सामायातः ॥ ५० ॥  
 बहुमतमास्ते तदिदं श्रमिकाणां सर्वसंसारं ।  
 अत्यन्ताल्पीयस्त्वे धनिका एते स्थिता नूनम् ॥ ५१ ॥  
 ते ननु धनमदगर्वं मानवमात्रस्य परिशेषे ।  
 सर्वा स्वीयां बुद्धिं चालितवन्तो निकामसन्तुष्टाः ॥ ५२ ॥  
 जीवनसरणिरियं सा तेषां कृपया च यैर्लब्धा ।  
 तेऽपि नितान्तं दीप्ताः श्रमिकाणां शोषणे लग्नाः ॥ ५३ ॥  
 कालो मावर्षः सर्वा श्रमिकाणां तां विशृङ्खलां सक्तिम् ।  
 प्रगुणीकृतुं नूनं दिवानिशं सत्परिश्रमं कृतवान् ॥ ५४ ॥  
 रुन्दननिवासकाले श्रमिकाणां दुर्दशां दृष्ट्वा ।  
 तेषामुत्थानार्थं मार्क्सो जीवनसमर्पणं कृतवान् ॥ ५५ ॥  
 तां दुर्दशां च दृष्ट्वा श्रमिकाणां विषमतामथ ताम् ।  
 मार्क्सो दिवानिशं वा विचारमार्गे विवश्राम ॥ ५६ ॥  
 आलस्यमथ च दैन्यं विचारभेदो मिथो कलहः ।  
 श्रमिकाणां सर्वेषां मारकतत्त्वानि तान्यासन् ॥ ५७ ॥  
 केवलमथ चैतेषां श्रमिकाणां प्रावधानेषु ।  
 सर्वा समुन्नतिः सा विहिता विश्वस्य तोषकरी ॥ ५८ ॥  
 नानाविधरुढीनां नितरां दूरीकरणलग्नः ।  
 मार्क्सः सर्वसामर्थ्यं तासां रूपं प्रदर्शितवान् ॥ ५९ ॥  
 जड़तायाः सम्प्राप्तौ रुढीनामस्ति साम्राज्यम् ।  
 एताभिर्वा नित्यं शोषणलाभो भवत्येव ॥ ६० ॥  
 रुढीनामुन्मादे श्रमिका एते नितान्तपरिहीनाः ।  
 नो किञ्चिदपि विधातुं सामर्थ्यं धारयामासुः ॥ ६१ ॥  
 सर्वसामर्थ्यतासां रुढीनां दूरकरणेषु ।  
 मार्क्सेन नव्यमार्गानुमानकार्यं सभारब्धम् ॥ ६२ ॥  
 संगठनं श्रमिकाणां विश्वस्मिन् सावधानतया ।  
 तेषां हितावहविचारान् सर्वान् संप्रकल्पयामास ॥ ६३ ॥  
 एगिल्सो ननु तेषां सर्वेषां सद् विचाराणाम् ।  
 सम्यक् प्रकाशनाय प्रबन्धबन्धं प्रबोधितवान् ॥ ६४ ॥



उभयोरपि तत्साम्यं सम्यग् विश्वं प्रकल्पितवान् ।  
 संसारे नवदीप्तिर्येनानेनैव संजाता ॥ ६५ ॥  
 अस्तंगता हि सर्वा श्रमिकाणां कार्यशक्तिश्च ।  
 सा जाग्रता निकामं लेनिन सदृशो विनिर्गतो यस्याः ॥ ६६ ॥  
 मावसंस्य विचाराणां या धारा संप्रवाहिता जाता ।  
 तामथ सम्यगधीत्यैवासीवक्षनु लेनिनस्तु संतुष्टः ॥ ६७ ॥  
 सोवियतनाम्नि देशे रक्तां सेनां विनिर्माय ।  
 माक्सैस्य तां व्यवस्थां मूर्तां कृतवान् स लेनिनः पूर्णाम् ॥ ६८ ॥  
 काऽपि तदीया क्रान्तिविश्वस्मिन् ख्यातिभागता सेयम् ।  
 रक्तप्रवाहपूर्णा जाता देशेऽथ सम्पूर्णे ॥ ६९ ॥  
 जाराख्योऽपि स राजा युद्धे सम्यक् पराजितो जातः ।  
 श्रमिकाणामथ राज्यं सर्वजनाणां सुसंजातम् ॥ ७० ॥  
 शासनकार्ये लग्नास्ते चेमे लेनिनादयो भूयः ।  
 पञ्चानामब्दानां योजनमथ संप्रकल्पयामासुः ॥ ७१ ॥  
 एताभिश्च सुनिर्मलश्रमपरिपूर्णाभिरेव पद्धतिभिः ।  
 सोवियतदेशमध्ये सर्वविधा सा समुन्नतिर्जाता ॥ ७२ ॥  
 माक्सैस्य च यत्स्वप्नं तद्वै नूनं सुचरितार्थम् ।  
 अर्धञ्चैतद्विश्वं माक्सैयां पद्धतिं कृणुते ॥ ७३ ॥  
 वैयक्तिकसम्पत्तेः शून्यत्वं यत्र संजातम् ।  
 सर्वं कार्यवशादथ सर्वेषां वैभवं यत्र ॥ ७४ ॥  
 यत्र पुरा मुष्टिमिता लोकाः सम्पत्तिशालिनश्चासन् ।  
 तत्र समस्तं राष्ट्रं संपत्तिभिरथ संपूर्णम् ॥ ७५ ॥  
 सर्वापीयं घटना सर्वविचित्रान्विता जाता ।  
 माक्सैस्यैव विचारोत्तेजकता तत्र कारणीभूता ॥ ७६ ॥  
 बहूयो विचारधारा विद्वद्भिः संप्रकाशिता एव ।  
 किन्तु क्रोडीभूतं विश्वं माक्सैस्य धाराभिः ॥ ७७ ॥  
 वैज्ञानिकयन्त्राणामविष्कारेण या नूतनम् ।  
 पद्धतिराविर्भूता पूर्णा सा माक्सैधाराभिः ॥ ७८ ॥  
 अद्यत्वे बत लोके वैज्ञानिकयन्त्रमयतायाम् ।  
 पूर्णतमं साभ्राज्यं सर्वत्रैवान्वितप्रसरम् ॥ ७९ ॥  
 यन्त्रोपलब्धिभागः सम्पूर्णः सर्वसाधनैर्युक्तः ।  
 कस्याप्येकस्य पुनर्नैवास्ते तत्र स्वत्वं भोः ॥ ८० ॥



नैवालस्यं क्षम्यं नो वा विपरीतसंचारः ।  
 राष्ट्रोन्वतिहि परमा साध्या सर्वस्य संतुष्ट्यै ॥ ८१ ॥  
 माक्सोपदर्शिता ये पन्थानस्ते समासाद्याः ।  
 जीवनमेव तदात्वे सम्पूर्णं सम्यगुन्नतं जातम् ॥ ८२ ॥  
 सुस्वास्थ्यं कियदस्तीत्येतादृशप्रश्ननिर्णयायेदम् ।  
 सोवियतनाम्नि देशे जन्तास्वास्थ्यं निभास्यतां सम्यक् ॥ ८३ ॥  
 कीदृशशिक्षापद्धतिरुन्नतये संप्रकल्पते सैषा ।  
 विचिकित्सा वा नूनं तत्रोत्तरभावमुपयाता ॥ ८४ ॥  
 बालानां वा मध्ये संचितमास्ते परं राष्ट्रम् ।  
 बालानां सर्वेषां सेवा वा तत्र दर्शनीयैव ॥ ८५ ॥  
 महिलानामेतासां समानभावः समुन्नतये ।  
 संबोभवीति विपुलो भावस्तत्रानुसन्धेयः ॥ ८६ ॥  
 रूढीनामुन्मादेर्दूरीभूतं च तद्राष्ट्रम् ।  
 बाघाभिर्विविधाभिर्दूरतरं सत्यमायातम् ॥ ८७ ॥  
 सोन्दर्यस्य समग्रा संसृष्टिस्तत्र या जाता ।  
 नाना कलाभिरामैर्मनोहरा साऽस्ति संदृश्या ॥ ८८ ॥  
 धार्मिकविश्वासानां व्यक्तिगतं मूल्यमेवाऽस्ते ।  
 राष्ट्रोन्नतये नतमां स्पृहणीयास्ते समाचाराः ॥ ८९ ॥  
 धर्मोन्मादे येयं समुन्नतिः कापि सन्दृष्टा ।  
 अभिकाणां वर्चस्वं भूवललुण्ठितमभूतत्र ॥ ९० ॥  
 अन्ये क्षमं प्रकुपुंश्चान्ये तस्मात्संतुष्टाः ।  
 भूयासुर्ववेयमासीत्सर्वा सुगुम्फिता सरणिः ॥ ९१ ॥  
 नैव किमप्यायोजनमत्र कदाचित्सुसंभवति ।  
 यत्र परार्थं बुद्धिः श्रमश्च सर्वः समर्पितो भवति ॥ ९२ ॥  
 आत्मार्यं राष्ट्रार्यं यत्र समेषां समुन्नतये ।  
 संस्कृतिः संजाता नूनं सन्माक्सवादोज्यम् ॥ ९३ ॥  
 सर्वविधोन्नतिरेषा सम्यक् श्रमसत्यसंभरिता ।  
 आयत्यामत्तिदीर्घा संजाता विश्वबन्धुत्वे ॥ ९४ ॥  
 दैत्यानां तु समेषां हानिः काचित्समस्तेयम् ।  
 माक्सैव तत्र लिखिता मानवताशोधकाणां वा ॥ ९५ ॥  
 सम्पूर्णा मानवता क्षन्या जाता यदा माक्सैः ।  
 स्वीयं जीवधमसमं मानवतायै समर्पितवान् ॥ ९६ ॥



माक्सोऽद्यापि समीपे समास्थितः सम्यगातनुते ।  
 मैत्रीभावं विपुलं विलोपिते साम्यता भावे ॥ ९७ ॥  
 भारतवर्षे ननु तत्साम्यं मूले विनिश्चितं चास्ते ।  
 एकोऽहमेव भणितिः सैषा वेदे समादिष्टा ॥ ९८ ॥  
 एको माक्सो वादो व्यवहारेषु स्वयं दीप्तः ।  
 व्यर्थधारितधर्मो यत्र प्रोच्यैः समुल्लसति ॥ ९९ ॥  
 माक्सस्येयं धारा वैषम्याणां विलोपयित्री स्यात् ।  
 मानवतापातकमथ सर्वञ्चैतत्सुद्वुरितं भूयात् ॥ १०० ॥  
 तन्माक्ससतकमेतद्रचितं शिवदत्तशर्मणा सम्यक् ।  
 श्रमिकाणां सर्वेषां मोदावहमेव बोधूयात् ॥ १०१ ॥

•

कविवर डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी ने माक्स सतकम् की रचना द्वारा संस्कृत साहित्य की सजीवता, निरंतरता और समकालीनता संबंधी प्रवृत्ति को उजागर किया है। माक्स के विचारों को संस्कृत साहित्य में यथोचित स्थान दिलाने की दिशा में चतुर्वेदी का यह प्रयास स्तुत्य है।

डॉ० चतुर्वेदी का ऐसा विचार है कि भारतीय परम्परा के अनुसार माक्स को 'ऋषि' की संज्ञा देनी चाहिए। पाठकों की सुविधा हेतु इस सतकम् का हिन्दी में सारांश कवि के शब्दों में ही प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रस्तुत माक्स विशेषांक इस प्रकार की रचना से समृद्ध हुआ है। हम इसके लिए डॉ० चतुर्वेदी के आभारी हैं।

—संपादक

•



## सारांश

कार्ल मार्क्स का जीवन अनेक ग्रन्थों में विस्तार से प्रकाशित हुआ है। भारत की पारम्परिक दृष्टि से इतने शिखरस्थ महान् व्यक्तित्व को अवतार या ऋषि कहा जाता है। यही संज्ञाएँ व्यक्तित्व के उन्नततम शिखरों पर आरूढ़ व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होती हैं। अवतार की विशेषताओं में सभी कार्यों में सफल होना आवश्यक तत्व है। ऋषि की पृष्ठ भूमि चरम कष्ट सहिष्णुता या तपस्या में है। कार्ल मार्क्स को भारतीय दृष्टि से एक ऋषि के रूप में देखा जा सकता है।

इतने बड़े विश्व व्यापी वर्ग को खड़ाकर देना और ऐसा विचार दर्शन उनके हाथ सौंपना जिससे कोई भी खुशहाली से वंचित न रह पाये यह मार्क्स की पूरी मानवता को अभ्यस्तित्व देन है। कृष्ण को जैसे अर्जुन प्राप्त थे वैसे ही संभवतः मार्क्स को एगिल्स और लेनिन उपलब्ध हुए।

गगन विहारी दार्शनिक विद्वानों के विचारों का आद्योपान्त मनन चिन्तन करके प्रत्यक्ष संसार से पूरा दर्शन प्राप्त करके मानवता को एक अद्भुत सच्चाई से लाभान्वित करने का जो सफल कार्य मार्क्स ने किया वह मानवता के इतिहास में अतुलनीय है।

भीषणतम मतभेदों के बावजूद विचारों की क्रियागत सफलता आज आधे विश्व में प्रत्यक्ष चरितार्थ है। यह आलस्य का मार्ग नहीं है, इसीलिए कितने ही लोग इससे नाराज हैं। छोटे से छोटे व्यक्ति में भी बड़े से बड़ा बनने की क्षमता दिखाने वाला नहीं अपितु उसे उस स्थान पर पहुँचा देने वाला यह दर्शन है।

मार्क्स का जीवन क्षण-क्षण का भी हिसाब रखने वाला जीवन था। मार्क्स का कैपिटल अमिकों की गीता है। मार्क्स के नजदीक करोड़ों जीवन स्वयं अपने अभ्युदय और श्रम की कहानी कहते प्रतीत होते हैं।

लन्दन के सभी पुस्तकालयों की प्रायः सभी श्रेष्ठ पुस्तकें मार्क्स की गंभीर दृष्टि से गुजरती थीं। वहाँ के सभी विशाल कारखानों के मजदूरों का मार्क्स से निकट का परिचय था। उसकी लेखनी कभी थकी ही नहीं। कितनी मुसीबतों का सामना करते हुए कार्ल मार्क्स एक एक क्षण अपने रास्ते पर आगे बढ़े, इसका विवरण किसको रोमान्चित नहीं करता। विचार तो सुन्दर से सुन्दर दिये हैं अनेकानेक दार्शनिकों ने, परन्तु क्या एक गाँव या किसी एक शहर को भी अपने विचार के अनुरूप बनाकर कोई दिखा पाया। पर मार्क्सवाद आज आधे विश्व की क्रियात्मक गतिविधियों का सफलता से संचालन करते हुए जीवन को पूर्ण सुख समृद्धि और रहस्यभेदन करने के लिए सज्जद करता जा रहा है।

संस्कृत साहित्य इतना विपुल और विराट् है कि उसमें नए से नए सभी विचारों के मूल विन्दु उपलब्ध होते हैं। परन्तु जीवन को उनसे लाभान्वित करने के लिए उन विचारों को जो कुछ चाहिए वह तो आज की दुनियाँ ही देगी।

संस्कृत आर्या छन्दों में मार्क्स के प्रति श्रद्धा समर्पित करने का इस शतक काव्य में अल्पमति के द्वारा छोटा सा प्रयत्न किया गया है।



## EDITORIAL NOTE

The spate of publications commemorating the death centenary of Karl Marx in 1983 proved the continuing relevance and vitality of Marxism as a tool of socio-economic analysis and as a guide to revolutionary political action.

The distinguishing feature of Marxism is that it combines scientific objectivity in social analysis and passionate commitment to revolutionary social transformation. Instead of stopping at interpreting the world, Marx made his interpretation a theoretical facet of the task of changing the world.

No other thinker of the nineteenth century has had so profound an impact on the course of history during the last hundred years. The socialist countries inhabited by one third of mankind are an eloquent proof of the correctness of the Marxian vision of historical evolution.

Capitalism today is not the same socio-economic formation subjected to analysis by Marx in the mid-nineteenth century. Some of his individual predictions and anticipations did not come true. But Marx's fundamental thesis that the antagonistic class contradictions in capitalism will inevitably generate revolutionary movements which will overthrow the rule of capital and establish socialist society is still valid.

Those who stand to lose their ownership and control of means of production will naturally attempt to disprove Marxism and suppress revolution. Those who are still under the ideological influence of the propertied classes will be sceptical of the success of the revolution. However, millions of the working masses in capitalist countries are learning the truth of Marxism from their experience.

The philosophy that Marx founded, in collaboration with Frederick Engels, has become a powerful weapon in the hands



of the international proletariat. It has been enriched by Lenin and many other thinkers in the course of the last century. This enrichment has often taken place in the form of fierce ideological struggles against attempts to revise the basic tenets of Marxism by revisionists and ultra-leftist forces.

..... Different interpretations of Marxist thought are natural because interpreters look at theory from differing levels and stages of revolutionary practice. The practical requirements of revolutionary movements will condition theoretical perceptions and interpretations. Within Marxist thought itself areas like domestic politics or international policy cannot brook anarchist pluralism, but in other fields, cultural policy for example, a degree of tolerance and flexibility is conducive to artistic creativity.

If all the contingents of the world revolutionary movement, i.e., the socialist countries, the national liberation movements, and communist parties, had a common strategy to deal with imperialism it would have effectively curtailed the threat of war and would have given an immense fillip to the world peace movement. The same kind of uniformity need not be expected in the interpretation of cultural and literary phenomena.

..... If Marxism is considered to be a dogmatic orthodoxy whose self-appointed custodians administer inhuman punishments to the so-called heretics it can cause immense damage to communism. The period when the cult of personality dominated the Soviet Communist Party and the latter phase of the Cultural Revolution in China are reminders of the dangers of the inquisitorial method replacing open scientific criticism and self-criticism in the interpretation of specific issues of Marxist thought. At the other extreme we find the attempts of some Western sociologists to emasculate the revolutionary essence of Marxism by detaching theory from practice and by repudiating the historic achievements of the existing socialist countries.

No other nineteenth-century philosopher's work has stimulated as much productive research and controversy as Marx's.



The research inspired by Marx's thought is productive because dialectical and historical materialism can illuminate many facets of social phenomena which bourgeois ideologies obscure or misread. The studies are inevitably controversial because in class societies social science can not be impartial. Class struggle finds expression not merely in economic and political fields but also in the ideological field. Class prejudice and hostility masquerade as love of individual freedom and promotion of free enterprise.

Will India's development follow a direction that will make the Marxist social prognosis irrelevant? Our national struggle for independence culminated in the transfer of power in 1947. The economic content of the social transformation was decided on by the bourgeois-landlord class combine that inherited the state apparatus. It was to be a 'mixed economy'. In practice we find that our 'mixed economy' has all the vices of capitalism without any of the virtues of socialism. The path the ruling class has chosen shifts the burden of development to the working masses and the middle class. Every crisis in the path of development is sought to be resolved by intensified exploitation of the masses. In the light of the historical experience of last hundred years the question is not whether Marxism is relevant to India but how it should be creatively applied to the concrete conditions obtaining in the country.

The special number of Prajna commemorating the centenary of Marx's death is offered as a humble homage to the memory of a thinker whose profound philosophy inspires reformers and revolutionaries all over the world. We record our gratitude to Prof. Iqbal Narain, former Vice-Chancellor, B. H. U., for taking initiative in planning the special number and for consenting to be the chairman of its editorial board. We also thank our contributors who have co-operated with us by sending their articles for publication.

G. B. MOHAN THAMPI



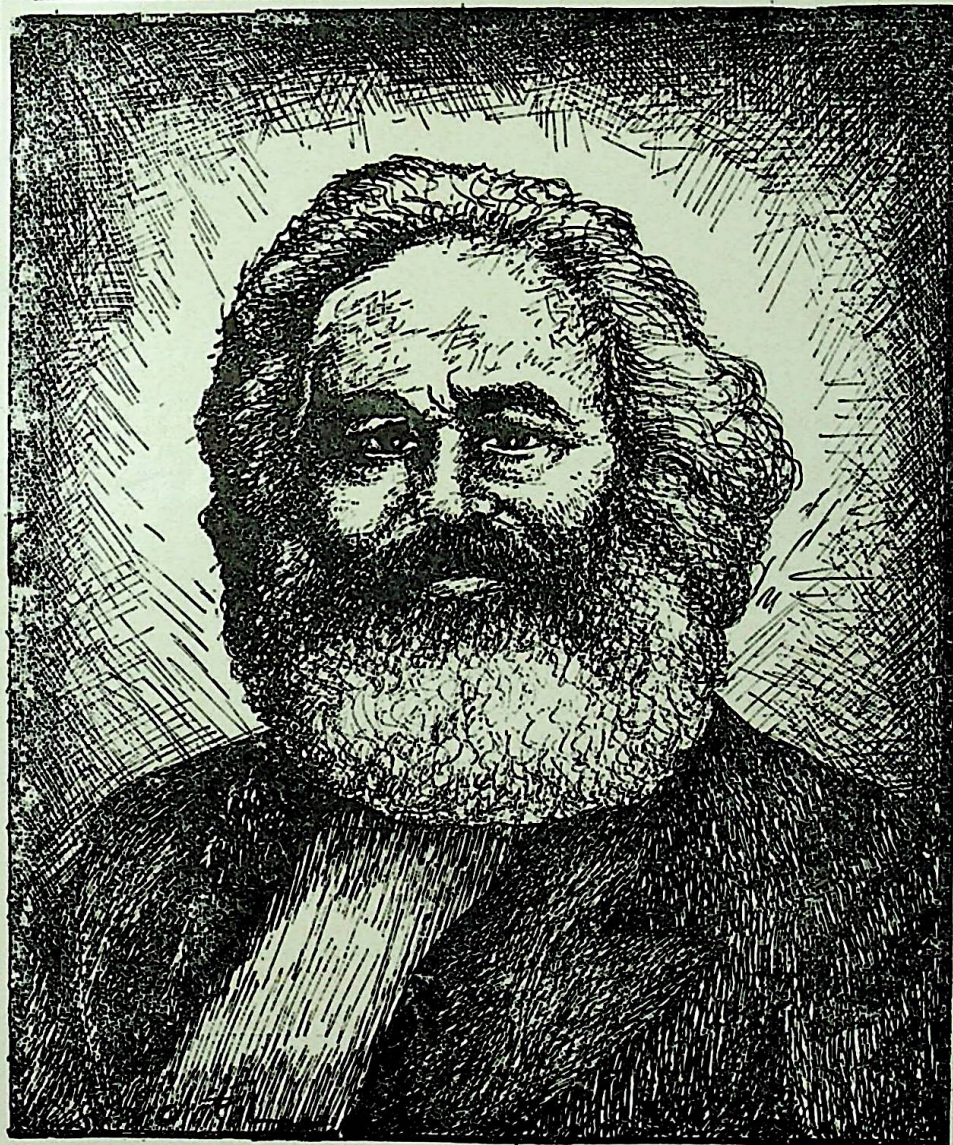
# CHRONOLOGY OF MARX'S LIFE AND WRITINGS

- 1818 Birth of Karl Marx ( 5 May )
- 1841 Completes doctoral thesis
- 1843 Marriage; leaves for Paris
- 1844 *Critique of Hegel's Philosophy of Right*  
Meets Frederick Engels  
*Economic and Philosophical Manuscripts*
- 1845 *Theses on Feuerbach*
- 1846 *The German Ideology* ( with Engels )
- 1847 Foundation of the Communist League  
*The Poverty of Philosophy*
- 1848 *The Communist Manifesto*
- 1849 Settles in London  
*Wage, Labour and Capital*
- 1850 *The Class Struggles in France 1848-50*
- 1851-62 Articles for *New York Daily Tribune*
- 1852 *The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte*
- 1853 Articles on India
- 1857 General Introduction to the *Grundrisse*
- 1858 *Outlines of a Critique of Political Economy*
- 1859 *Preface to Critique of Political Economy*
- 1864 *Inaugural Address of the First International*
- 1867 *Capital* Vol. I published
- 1871 Paris Commune  
*The Civil War in France*
- 1875 *Critique of the Gotha Programme*
- 1881 Death of wife ( Jenny Marx )
- 1883 Death of Marx ( 14 March )



K A R L M A R X

5 May 1818 - 14 March 1883



“The philosophers have only *interpreted* the world, in various ways; the point, however, is to change it.”

*Theses on Feuerbach*







## विषय-सूची

	पृष्ठ
* कार्ल मार्क्स शतकम् शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी	1
* मार्क्सवाद और राहुल सांकृत्यायन प्रभाकर माचवे	11
* मार्क्स और भारत शोभा शंकर	23
* समकालीन युग में मार्क्सवाद की उपादेयता, भारत के सन्दर्भ में मुहम्मद एहसानुल्लाह	31
* भारत के समसामयिक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के सन्दर्भ में मार्क्स की प्रासंगिकता गौरीशंकर	39
* मार्क्स-एंगेल्स और उपनिवेशवाद कृष्णनाथ	45
* मार्क्सवाद और साहित्य कुंवरपाल सिंह	61
* मार्क्सवादी चिंतन में साहित्य और कला रमाकान्त अस्थाना	67
* स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी ग्राम कथा : सामाजिक संदर्भ-मार्क्सवादी दृष्टिकोण श्रीकान्त पाण्डेय	73
* तीसरी दुनिया के पिछड़ेपन के मार्क्सवादी प्रारूप राजेंद्र पाण्डेय	83
* भारतीय कृषि उत्पादन पद्धति की मार्क्सवादी समीक्षा कुंवर पाल सिंह	99
* औद्योगिक संघर्ष एवं मार्क्सवाद बो० पी० गुप्ता	107
* आचार्य कौटिल्य और कार्लमार्क्स बीणा व्यास	117
* मार्क्सवादी समाज विज्ञान सत्य प्रकाश शर्मा	



* कार्ल मार्क्स का जीवन परिचय	...	...	123
भगवान शरण भारद्वाज			
* मार्क्सवादी साहित्य चिंतन	....	....	131
नरेन्द्र सिंह			
* मुक्तिबोध की सृजन प्रक्रिया पर मार्क्सवादी चिंतन का प्रभाव		....	145
मोहन			
* मार्क्स और स्वामी करपात्रीजी	...	....	153
कोसल किशोर मिश्र			
* राजशेखर द्वारा वर्णित समाज में वर्ग-संघर्ष	...	....	161
प्रवेश भारद्वाज			
* लोहिया और दीनदयाल की दृष्टि में मार्क्सवाद	...	...	169
बैरिस्टर सिंह			
* मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र	...	....	175
जनादेन उपाध्याय			
* महात्मागांधी और समाजवाद	...	...	179
कैलाश नाथ तिवारी			

आवरण सज्जा—हीरालाल प्रजापति

कार्ल मार्क्स का चित्र—अविरल श्रीवास्तव



## CONTENTS

	Page No.
* <b>Marx and History; Fruitful and Unfruitful Emphases</b>	1
Immanuel Wallerstein	
* <b>The Problem of Autonomy of the State in Marxist Thought</b>	15
.....	
Jaganath Pathy	
* <b>Marxism and Bureaucracy</b>	27
O.P. Dwivedi, William Graf and J. Nef	
* <b>Imperialism, World Economy and the Newly Industrializing Countries</b>	43
.....	
James Petras	
* <b>Towards a Marxist Theory of Development</b>	63
S. K. Chaube	
* <b>Marxism and the Agrarian Question: A note on "Subaltern studies"</b>	79
.....	
Narhari Kaviraj	
* <b>Workers' Co-operatives in the Capitalist System, Reformism or Radicalism</b>	85
.....	
Sharit K. Bhowmik	
* <b>Relevance of Marx for the Grave Diggers of Emerging Capitalist Society in India</b>	106
.....	
A. R. Desai	
* <b>Marxism and the Indian Programme of Agrarian Reform</b>	113
.....	
M. L. Upadhyaya	
* <b>Co-operatives in India : The Lack of A Marxist Viewpoint</b>	123
.....	
N. Rajaram	
* <b>Social Reality of Deviance and Control : Towards a Marxian Perspective for Indian Criminology...</b>	133
R. S. Srivastava	



	Page No.
* Marxian Aesthetic Humanism P. N. Singh	145
* Gramsci's Concept of Intellectual : An Overview Aditi Misra	159
* A Marxist's Criticism of Marx H. N. Tripathi	169
* Material Interests, Class Compromise, and the Transition to Socialism ... .. Adam Przeworski	189
* Voluntarism and Revolution in New Marxian Thought ... .. Rajender Prasad Dube	227
* National Self - Determination in Marxism ... Priyankar Upadhyaya Anjoo Sharan Upadhyaya	253
* Sartre and Marxism Pitamber Dutta Kaushik	267
* A Study of Chinese Peasant Society and the Concept of Class and Class Relation ... .. Kamalshil	277





## माक्सवाद और राहुल सांकृत्यायन

प्रभाकर माचवे

मैंने महापंडित राहुल सांकृत्यायन के प्रथम दर्शन किये गत महायुद्ध के समय। तब पी०सी० जोशी वम्बई में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के मंत्री थे। “जनयुद्ध” पत्र कई भाषाओं में निकलता था। हिन्दी “सेल” में रमेश सिनहा, ओम प्रकाश संगल, शमशेर बहादुर सिंह और नेमिचन्द्र जैन काम करते थे। वहीं से बाद में “नया साहित्य” निकला। उर्दू सेल में अली सरदार जाफरी, क़ेफी आज़मी आदि थे। मराठी में प्रभाकर ऊर्ध्वरेषे, फडनवीस, देशपांडे आदि। तब स्मरण आता है कि भारत-सोवियत मैत्री संघ की प्रथम बैठक द्वारा स्थापना हुई थी। उस उत्सव में राहुल जी आये थे। “जोश” मलीहाबादी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हरेन्द्रनाथ चटोपाध्याय, मुहासिनी जंभेकर आदि अनेक लोग थे। ख्वाजा अहमद अब्बास, सज्जाद ज़हीर, बलराज साहनी, अमर शेख आदि दामोदर परेल हाल में एक सांस्कृतिक कार्यक्रम में इकट्ठा हुए थे।

इसके बाद राहुल जी उज्जैन में हमारे छोटे से घर में पधारे। श्यामू संन्यासी ने प्रगतिशील लेखक संघ की ओर से इन्दौर में एक फाशिस्तविरोधी लेखक सम्मेलन बुलाया था। उज्जैन में गजानन माधव मुक्तिबोध, हरि नारायण व्यास, नरेश मेहता आदि आयोजक थे, उस संघ के। मैं तब माधव कालेज में दर्शनशास्त्र पढ़ाता था। सन्, 43 की बात है। मैंने मराठी “मनोहर” (‘किलॉस्कर’ के साहित्यिक मासिक) में राहुल जी पर एक लेख लिखा था। उनका मुखपृष्ठ पर चित्र छपा था। उनकी जीवनी से हम-लोग विलक्षण रूप से प्रभावित थे। विश्व प्रवासी, प्रकांड विद्वान, बहुभाषाविद् राहुल जी ने रूस में विवाह किया था और उनका पुत्र ईगोर एवं पत्नी लोला स्मेटॉलना के साथ फोटो भी उस लेख में छपा था।

उस समय भारतीय माक्सवाद की ओर कई समाजवादी और वामपन्थी विचारों के लोग झुके थे। पार्टी काफी उदार थी। कांग्रेस समाजवादी, रैडिकल ह्यूमैनिस्ट (एम० एन० राय के अनुयायी) नेहरूवादी (फैवियन समाजवादी), विप्लवीदल के वैयक्तिक क्रांतिपक्षी जैसे सरदार पृथ्वी सिंह, कल्पना दत्त या शचीन्द्र नाथ सान्याल आदि कम्युनिस्ट पार्टी में आ गये थे। अनेक वैज्ञानिक, प्रोफेसर, अध्यापक, महिलाएँ, अल्पसंख्यक नेता सब नाजी विरोधी अभियान में एक साथ थे। ‘हुंस’ और “नया साहित्य” में तब वम्बई के नरेन्द्र शर्मा, अमृतलाल नागर, शील, (तब फिल्मों में थे) डा० जगदीश-चन्द्र जैन, वंसीधर पन्डा आदि लखनऊ से, डा० राम विलास शर्मा और यशपाल, इलाहाबाद से प्रकाशचन्द्र गुप्त और उपेन्द्रनाथ ‘अस्क’ आगरा से रांगेय राघव आदि अनेक हिन्दी साहित्यकार लिखते थे।



आजमगढ़ के राहुल सांकृत्यायन ( केदार नाथ पाण्डेय ) की विचार यात्रा सनातनी ब्राह्मण वेदांती से, महन्त दामोदर दास, आर्यसमाजी प्रचारक और फिर त्रिपिटकाचार्य; तिब्बत, श्री लंका, वर्मा, प्रवासी राहुल सांकृत्यायन तक हो चुकी थी। पीतचीवर छोड़कर वे मार्क्सवादी हो गये थे। साम्यवादी दल के सदस्य बने थे। रूस में विजिटिंग प्रोफेसर के नाते बौद्ध दर्शन पढ़ाने उन्हें प्रो० स्क्वेर्वास्की ने स्वयं बुलाया था। वहीं मंगोलियान भाषा पढ़ाने वाली विदुषी लोला से, उनका प्रेम और विवाह हुआ। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद राहुल भारत में वापिस आये तो सोवियत रूस में स्तालिनशाही से नाराज होकर। 1948 की जनवरी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन में सभापति पद से उन्होंने भाषण दिया। और हिन्दी-उर्दू के प्रश्न पर कम्युनिस्ट पार्टी से उनका मतभेद हुआ। 1948 से 1957 तक वे पार्टी से बाहर रहे। इस समय मेरा उनका बहुत निकट सम्पर्क रहा और बाद में वह उनके स्मृतिभ्रम तथा उनकी मृत्यु तक बराबर बना रहा।

यहाँ इस लेख में, वे मार्क्सवाद की ओर क्यों आकृष्ट हुए, मार्क्सवाद के प्रचार-प्रसार में उन्होंने क्या योगदान दिया, उससे वे विरत क्यों हुए, और जीवन के अन्तिम नौ वर्षों में उनका उसके प्रति क्या रवैया रहा, यह चार बातें जितनी मेरी समझ में आई, मैं, संक्षेप में देना चाहता हूँ। उनके सब ग्रन्थ, यहाँ, मेरे पास नहीं हैं। अन्यथा अपने इस लेख में प्रचुर उद्धरण उनकी रचनाओं से देता।

## : 2 :

राहुल जी का अपने परिवार से असन्तोष उनकी जीवन यात्रा में स्पष्ट है। वे घर से भाग निकले। पिता उन्हें मठ में लिवाने के लिए कई बार आये, पर वे घर की ओर नहीं लौटे। यह स्पष्ट है कि उनकी अदम्य ज्ञान पिपासा की तृप्ति के लिए घर की चहारदीवारी में कोई क्षेत्र नहीं था। यद्यपि कहीं भी किसी कालेज यूनिवर्सिटी में उन्होंने शिक्षण नहीं पाया। पर वे अनेक भाषाएँ सीखते गये और उन्होंने अपने सुदृढ़ संकल्प से सारी दुनिया छानी। तिब्बत जैसे "अगम्य" देशों की यात्राएँ की। वहाँ से दुर्लभ संस्कृत ग्रन्थ लाये। तिब्बती कन्जूर व तन्जूर लाए। पटना म्युजियम में ब्रह्म सामग्री अभी भी रखी है। उनका असन्तोष अपने जन्म ग्राम, अपने जाति-वंश, परिवार संस्कार, विवाहिता स्त्री, गुरुजन, शिक्षा, परिवेश सबसे बढ़ता गया। वे महन्ती और सामन्ती संस्कारों से अपने को मुक्त करना चाहते थे। सनातन धर्म की जकड़न से वे आर्यसमाज की ओर झुके। बाद में उसके अन्दर भी एक तरह का कट्टरपन देखकर वे बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए। फिर बने मार्क्सवादी। क्या वहाँ कट्टरपन कम था ?

बौद्धदर्शन में, उनकी प्रज्ञा को, स्वतंत्र तर्क वितर्क को, उन्हें प्रचुर मुक्त क्षेत्र मिला। परन्तु किसी भी धर्म, पंथ की एक सीमा होती है, मर्यादा होती है। एशियाई देशों में बौद्ध धर्म ने जो नाना रूप लिए, हीनयान (स्थविरवाद) से महायान तक की जो उनकी वैविध्यपूर्ण यात्रा है, इसका विस्तृत वर्णन राहुल जी अपनी श्री लंका, तिब्बत, जापान, चीन-विषयक यात्रा, पुस्तकों में देते हैं। वे पालि मूल ग्रन्थों के अनुवाद में जुट गये। 'दीर्घनिकाय' का अनुवाद किया। 'बुद्ध चर्चा' लिखी। 'प्रमाणवातिक' की टीका लिखी।



धीरे-धीरे धर्म से अधिक समाजविज्ञान, नृतत्वविज्ञान की ओर आकृष्ट होते गये। मानव के सामाजिक-राजनीतिक विकास में ऐतिहासिक द्वंद्ववाद, भौतिक तथा आधिभौतिक प्रेरणाओं कारणों के परस्पर संघर्ष में उनकी रुचि बढ़ती गयी। उन्होंने पीत चीवर भी उतार दिया। अपने जीवन का सूत्र बनाया बुद्ध का बचन—‘मैंने विचारों वादों को नाव की तरह लिया है।’ नाव घाट या किनारा नहीं होती। वह नये-नये भूखण्डों की खोज का साधन मात्र है। हर धर्म एक पड़ाव है।

धर्म-प्रचारक राहुल सांकृत्यायन नामक एक लेख में डा० राम विलास शर्मा ने ‘हंस’ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और राहुल जी दोनों को पुनरुज्जीवनवादी कहा था। कार्ल मार्क्स ने लिखा था कि कोई भी अपने कंधों पर नहीं चढ़ सकता। इतिहास ने जितना उसे कपड़ा दिया है, उसी में से वह अपने कपड़े सियेगा। मार्क्स यहां भूल गये कि ऐसे भी महामानव इस विश्व में हुए जिन्होंने कपड़ा मात्र त्याग दिया—डायोजेनीस टब में बैठता था, तंगा, बुद्ध ने राजसी वेश तजकर जंगल की राह पकड़ी, एक चांडाली के कफन को अपना चीवर बनाया (एक फ्रेंच लेख के अनुसार)। महावीर निरंजना नदी को पार कर रहे थे। एक नागफनी के पेड़ में उनका श्वेताम्बर अटक गया। वे दिगम्बर हो गये। ईसा के शिष्य संत पाल ने लिखा—“अवर टेर्डर्ड क्लोदस एण्ड वन मील ए डे शैल बी अवर ग्लोरी” (हमारे फटे तार-तार कपड़े और एकाहार हमारे लिए धन्य होगा) गांधी ने काठियावाड़ी पगड़ी और बारहबंदी छोड़कर, इंग्लैंड में पहनते थे वह वैरिस्ट्री का “ग्री पीस सूट” छोड़कर (जार्ज पंचम से मजाक में उन्होंने कहा था कि आप “ग्री प्लस” हैं, तो हम फोर प्लस हैं—यानी चार कपड़ा ब्रती) धोती और चद्दर अपना ली। तो ऐसे स्वेच्छया दैन्यवरण करने वाले, दरिद्र नारायण से एकाकार होने वाले को, श्रमणधर्मी या संन्यासी भिक्षुओं को अपनी जरूरतें बढ़ाने और उनके लिए बाजार में उपभोगवाद को प्रोत्साहन देने और उनके लिए साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद बढ़ाने वाले भौतिकवादी वर्शनों का क्या अर्थ रह जाता है? राहुल उस परंपरा से मार्क्सवाद की ओर आये थे।

मार्क्स ने भी “डी क्लास” होने की बात लिखी। वर्ग-च्युत होकर दरिद्रनारायण के साथ एकाकार होने से पहले उसने पूंजीवादी, या गरीब को गरीब बनाये रखने वाली विचार-प्रणाली और जीवन प्रणाली पर प्रहार किया। राहुल जी उसका प्रत्यक्ष प्रमाण क्रांत्युत्तर सोवियत रूस में, लेनिन के रूस में, देख आये थे। स्टालिन के रूस तक आते-आते उस जीवन पद्धति से उनका मतभेद हो गया। परन्तु इस मतभेद के होने से पहले राहुलजी हिंदी में हजारों पृष्ठों की सामग्री, पुस्तकाकार और लेखों में, वैज्ञानिक भौतिकवाद मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, माओ आदि की जीवनियाँ, मध्य एशिया में सोवियत रूस का इतिहास, भारत में कम्युनिस्ट और कम्युनिज्म के सहप्रवासी नेताओं की ‘नये भारत के नये नेता’ के रूप में जीवनियाँ और ‘बोल्गा से गंगा’ जैसे ग्रन्थ में विश्वइतिहास को वर्ग-संघर्ष की कहानियों के रूप में गूँथना आदि अनेक प्रकार के विचार और जानकारी प्रस्तुत कर चुके थे। जहाँ-जहाँ वे घूमे, जहाँ-जहाँ उन्होंने भाषण दिये, उन्होंने बराबर सामंती-महंती, पूंजीवादी और साम्राज्यवादी षडयंत्र पर कशाघात किये। तर्क के तीक्ष्ण शस्त्र से



उन्होंने अंध-श्रद्धा और अंध विश्वास के अंधेरे को मिटाने का प्रयास किया 'भागो नहीं; दुनिया को बदलो' इसी का परिणाम था।

इससे भी सबसे बड़ा प्रयास उनके 'दर्शन दिग्दर्शन' में मिलता है। हिन्दी में हिन्दू धर्म के साथ-साथ इस्लाम की तथा पश्चिम के धर्म और दर्शन, पंथों की ऐसी वृहद विवेचना पहली बार हिन्दी में हुई। उन्होंने जीवन का प्रथम एक तिहाई मार्क्सवाद तक पहुँचने में, अगला तिहाई हिस्सा उसके प्रचार-प्रसार में बिताया।

### : 3 :

परन्तु मार्क्सवाद भी कोई 'हफ्ते-आखिर' नहीं है' न कार्लमार्क्स आखिरी 'पैगम्बर।' मार्क्सवाक्य प्रमाणम्' ('बाबा मात्र केवलम्' की तरह) उन्हें मान्य नहीं था। कई खूटावादी (डोंगैटिक) और यांत्रिक मार्क्सवादी, मार्क्स से भी अधिक कट्टर नये मुल्ला बन रहे थे। भारत में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी। चार्वाक के बाद मार्क्स कहने वाले भूल गये थे कि महाभारत में कई जगह बहुत सख्त बातें जातिवाद और राजा-शाही के विरुद्ध कही गयी थीं। उदाहरणार्थ वनपर्व में (180 में) लिखा है—'जिसमें संस्कारजन्य उच्चशील है, वही ब्राह्मण है'। महाभारत में कहीं सती का उल्लेख नहीं, कहीं परदा प्रथा नहीं है। पांडु और धृतराष्ट्र नियोगजन्य संतति थे। जरत्कारु की पत्नी वासुकी और अर्जुन की पत्नी उलूपी नाग जाति से थीं, क्षत्रिय नहीं थीं। भीम तो राक्षसी हिडिंबा से विवाह करता है। ब्राह्मण ऋषि मत्स्यगंधा पर आसक्त हो जाता है। आर्य-आर्येतर विवाह के अनेक उदाहरण हैं। शांतिपर्व में (188-14) कर्मानुसार वर्णभेद कहा है—

महाभारत में स्पष्टतः लिखा है—

स एव धर्मः सो धर्मो देशे काले प्रतिष्ठितः

अदानिमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः ( शांतिपर्व, 36.99 )

( योग्य स्थल और समय पर जो धर्म होता है, वहीं अयोग्य स्थल और अयोग्य समय पर अधर्म होता है। चौर्य कर्म, असत्य भाषण, हिंसा ये सब बातें परिस्थित्यानुसार निश्चित करनी होती हैं )।

नीति नियम शाश्वत नहीं होते, सापेक्ष होते हैं, यह हमारे यहां पुरानी मान्यता है। महाभारत में ही शांतिपर्व में (141, 104) कहा गया—

'बुद्धिमास्थाय लोकेस्मिन् वसितव्यं दृतात्मना'

( धर्म और अधर्म का निश्चय करने के लिए बुद्धि का उपयोग आवश्यक है। )  
अश्वमेधपर्व में महाभारत कहता है—

क्षुधा निर्णुदति प्रज्ञा धर्मबुद्धि व्यपोहति ।

क्षुधा परिगतज्ञानो धृति त्यजति चैव हि ।

( भूख से मनुष्य का बुद्धि भ्रंश होता है और धर्मनिष्ठा का भी लोप होता है )



क्षुधा मनुष्य का ज्ञान नष्ट करके धैर्य भी नष्ट कर देती है । ) 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?'

जिस अनुशासन पर्व की विनोबा भावे ने आपात्काल के समय दुहाई दी थी । उसमें ( 61, 32, 33 ) कहा गया है—

अरक्षितारं हतारं विलोप्तारय नायकम् ।

तं वै राजकलि हन्युः प्रजाः संनह्य निवृणम् ॥

( प्रजा का रक्षण न करके जो उससे कर लेता है, और प्रजा को सन्मार्ग पर न लगाकर जो लूटता है, ऐसे राजरूपी 'कलि' को प्रजा सज्ज होकर निष्ठुरता से मार डाले । )

उसी से अगला अनुष्टुप है—

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।

स संहत्य निहन्तव्यः इवेव सोन्माद आतुरः ॥

( मैं तुम्हारी रक्षा कर रहा हूँ ऐसा कहकर जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता, उसे सब लोग मिलकर जैसे पागल कुत्ते को मारते हैं, वैसे मार डालें । )

शांतिपर्व में यहाँ तक कहा गया है कि 'संक्षेपो नीतिशास्त्राणामविश्वासः परो मतः' ( अविश्वास ही राजनीति का मुख्य और संक्षिप्त स्वरूप है । )

राहुल जी यह सब पढ़े थे और मार्क्स के ग्रन्थ भी । उनकी नज़र में अत्याचारी अत्याचारी होता था । वह रावण हो या कंस, नीरो हो या ज़ार, हिटलर हो या चर्चिल और आगे इसी कड़ी में जोड़ना चाहेंगा-स्तालिन हो या माओ-जे तुंग ।

जैसे भूख का कोई धर्म या नस्ल, राष्ट्र या शास्त्र, नीति या चेहरा नहीं होता, अन्याय और शोषण का भी कोई देश-काल-आवृद्ध ऐतिहासिक मानचित्र बनाना कठिन है । यूरोप में ही सब मार्क्सवादी होते हुए बुल्गारिया, युगोस्लाविया, रूमानिया तीन तरह के मार्क्सवादी क्यों हैं ? क्यों सोवियत रूस और चीन एक ही विचार स्रोत से निकलकर आज समान-धर्मा नहीं । क्यों भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के आज चार रूप स्पष्ट हैं ? डांगेवादी, सी० पी० ( आई ), सी० पी० ( एम ) सी० पी० ( एम०एल० ) । मै त्रात्स्की-वादी और क्यूबा के कास्त्रोवादियों की बात नहीं करना चाहता । युरोकम्युनिज्म एक अलग आमाय है । अतः राहुल जी को आज किस मार्क्सवादी मानदंड से तौला जाये, और उन्हें इतना प्रतिशत मार्क्सवादी, या इतना प्रतिशत अ-मार्क्सवादी करार दिया जाये ? अलग-अलग राजनैतिक दल अलग-अलग मत रखेंगे ।

पर हमें निर्णय उनके लेखन से करना होगा । वे गांधीवाद के कट्टर आलोचक थे । वे समाजवादियों को 'ढुलमुलवादी' कहते हैं ( देखें 'जपनिया राक्षस' ) । वे हिन्दुत्व-निष्ठ की राजनीति को फासिस्ट ओर नेशनल सोशलिस्ट ( नाज़ी ) विचारधारा से प्रभावित मानते थे । कांग्रेस की राजनीति की उन्होंने कटु आलोचना 'आज की राजनीति' में की थी । वे मार्क्सवाद की निम्न मूल स्थापनाओं से सहमत जान पड़ते हैं ।



( 1 ) मनुष्य का मन और सामाजिक संगठन भी आर्थिक सम्बन्धों से प्रभावित और नियमित होता है ।

( 2 ) प्रगति का आधार विरोध विकासवाद या द्वंद्वात्मकता है ।

( 3 ) भारत का प्राचीन मध्ययुगीन समाज धार्मिक, सामंती और महाजनी ( ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ) तंत्र पर आधारित था । तीनों में पंडे, पुरोहित राजा-नबाब, कर्ज देनेवाले सूदखोर लाला, पठान सब शोषक थे । 'त्रिवेणी संगम' पर उनका 'नया समाज' में लेख पढ़ें ।

( 4 ) अंग्रेज शासन ने फूट की नीति डालकर शोषण को साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी आयाम दिया ।

( 5 ) उसके विरोध में पांच तरह के विरोधी संग्राम हुए—(अ) वैयक्तिक, विप्लवी, साहसी, आतंकवादी ( आ ) क्रांतिकारी सामूहिक किसान आदिवासियों के संगठनों से उत्पन्न ( इ ) मजदूर संघों द्वारा व्यापारी इजारेदारी और पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध संघर्ष ( ई ) गांधी का अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन, जिसकी परिणति कांग्रेस द्वारा सत्तान्तर में देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् बागडोर संभालने में हुई ( उ ) नेहरू का गांधीवाद-समाजवाद का मिश्रित अर्थसंकल्पना का विचार ( ऊ ) साम्यवादी दल का इन सब विचारधाराओं के निषेध में नया आंदोलन ।

: 4 :

1948 में बम्बई हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भाषण के बाद राहुल और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का विचार-वैषम्य उभर कर आया । इसका आरंभ रूस में ही हो चुका था । मंगोल भाषाओं की विशेषज्ञता, राहुल जी की रूसी पत्नी लोला लेनिनग्राद में पहले ग्रन्थालय विभाग में और बाद में अध्यापिका थी । संस्कृत में प्रेमपत्र लिखकर दोनों में आकर्षण बढ़ा । अलेक्सान्द्रारास्त्रिखोव, कल्याणोव आदि संस्कृत पंडित और श्चैर्वास्की जैसे बौद्ध-दर्शन के रूसी विद्वान उस समय दोनों के मित्र थे । मुझे लेनिनग्राद में 1972 में, लोला ने सफेद पगड़ी पहने ( राधाकृष्णन् जैसे ) लम्बा कोट-धोती पहने संस्कृत पंडित के वेश में रूसी विद्वान श्चैर्वास्की के फोटो दिखाये । राहुल जी उस फोटो में तब सूट-बूट में एम० एन० राय की वेशभूषा में थे, टाई बगैरह लगाये । बच्चे ईगोर के भी फोटो लोला ने दिखाये । बंगाली मार्क्सवादी आलोचक 'एकदा' के लेखक गोपाल हालदार ने तब 'संस्कृतीर रूपान्तर' पुस्तक का आरंभ ही राहुल, लोला विवाह प्रसंग से किया था ।

इतने कट्टर मार्क्सवादी होने पर भी, स्तालिनशाही से, और उसकी डोर पर माचने वाली भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नेता मण्डली से उनका विरोध किन कारणों से हुआ ? उनकी संक्षिप्त तालिका, जो उनके 1948 से 57 तक के लेखों, भाषणों, पुस्तकों के आधार पर मिलती है, मैं देना चाहता हूँ—



( क ) राहुल जी रूस से लौटे थे तो भाषावार भारत-विभाजन में मातृभाषाओं का प्रश्न प्रधान मानकर, जनपदीय भाषाओं में हिन्दी प्रदेश के भी व्रज, अवधी, कन्नौजी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, राजस्थानी, मालवी, छत्तीसगढ़ी, पहाड़ी आदि उप-भाषाओं के आधार पर राष्ट्रको ( नेशनलिटीज ) की सांस्कृतिक इकाइयाँ बनाने की बात मन में रखकर। कम्युनिस्ट पार्टी इतने दूर तक भाषा-विभाजन नहीं चाहती थी।

( 2 ) कम्युनिस्ट पार्टी में जो प्रच्छन्न सम्प्रदायवादी पाकिस्तान-निर्माण समर्थक नेता थे, वे हिंदी-उर्दू के प्रश्न पर तूल देते थे। राहुल जी उर्दू के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में थे। राहुल जी सब भाषाओं के नागरी लिपि को आधार मानकर चल रहे थे।

( 3 ) राहुल जी अंग्रेजी के विरोधी थे। कम्युनिस्ट पार्टी के दक्षिण और बंगाल के नेता राहुल जी की मृत्यु के इक्कीस वर्ष बाद भी, अंग्रेजी का मोह नहीं छोड़ते। उनके मुखपत्र भारतीय भाषाओं से अधिक अंग्रेजी में बिकते हैं—सिवा केरल के, जहाँ मलयाली 'जनयुगम्' की बिक्री अधिक है।

( 4 ) राहुल जी राजनीति को किसान-केन्द्रित बनाना चाहते थे। वे स्वामी सहजानन्द के मित्र थे। आचार्य नरेन्द्रदेव, राजेन्द्र प्रसाद आदि के लिए उनके मन में बहुत आदर था। वे महानगर वाली राजनीति को केवल ऊपर से थोपी हुई बौद्धिक राजनीति मानते थे। 'सलमी के बच्चे' या 'मानव-समाज' में उनकी भाषा-शैली, अपभ्रंश की काव्यधारा का पुनरुद्धार, 'पञ्च चरित्र' के आधार पर रामचरित मानस की रचना पर जोर, बुद्ध की तरह राहुल जी को संस्कृत से अधिक प्राकृत आधार की सांस्कृतिक अवचेतन में बलवान स्रोतमुखता मान्य थी।

( 5 ) राहुल जी की रूचि पुरातत्व में अधिक थी। अतः 'गंगा' के पुरातत्वांक की एक प्रति मुझे देकर उन्होंने कहा था कि चन्द्रबली पाण्डेय, किशोरीदास बाजपेयी या वासुदेवशरण अग्रवाल की कई धारणाएँ अवैज्ञानिक होने पर भी उनके वैदुष्य को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। मोतीचन्द्र जैसे थोड़े प्रगतिशील अपवाद थे, पर पुरातत्वज्ञों में या तो पुसालकर, अलतेकर जैसे हिंदुत्वनिष्ठ अधिक थे, या ब्रिटिश दृष्टिवाले निष्पक्ष। उत्खनन वादी म्यूजियमों के क्यूरेटर अधिकारी। राहुल दुनिया घूमकर आये थे, और इन सब शास्त्रों का, इतिहास और पुरातत्व का आज के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे। देखिये 'कनैला की कथा' या 'जीवनयात्रा' का प्रथम खण्ड।

( 6 ) राहुल जी बहुभाषाविद् और अनेक एशियाई भाषाओं के पंडित थे। वे कम्युनिस्ट पार्टी की सुविधावादी राजनीति प्रेरित भाषा-नीति से असंतुष्ट थे। वे जानते थे कि भाषाएँ अपने ढंग से विकसित होती हैं। वे डा० रघुवीर या सज्जाद जहीर के उपदेश या हुक्मनामे से नहीं बढ़ती या चलती। उनके लेखे पं० सुन्दरलाल के प्रयत्न उतने ही कृत्रिम थे, जितने कि मौलवी अब्दुल हक या सावरकर के शुद्ध अरबी, शुद्ध संस्कृत के आग्रही शुद्धिवादी रख।

( 7 ) राहुल का यहाँ मौलिक मतभेद स्तालिन की तानाशाही नीति में था। क्रांति का आधार बुर्जुआ राष्ट्रीय संगठनों के साथ लेकर ( जैसे लेनिन ने कहा था ) नहीं



हो सकता था। एम० एन० राय ने उसका विरोध किया था और प्रथम कांफिटर्न में उपनिवेशों में लेनिन ने राय के संशोधन को मानकर आगे चलने की बात कही थी। डा० रामविलास शर्मा के 'मार्क्सवाद और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' वाले नये ग्रन्थों में इन पहली भूलों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

( 8 ) इस दृष्टि से राहुल जी के 'दर्शन-दिग्दर्शन' में विटिगेनस्टाइन और नये पदार्थ-वैज्ञानिकों के प्रसंग में मार्क्सवाद से अतिरिक्त 'अन्य संभावनाओं का, 'मेंढक उछाल' का उल्लेख और 1956 में लिखी उनकी 'माओ-चे-तुंग' पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण है। आज के वे कम्युनिस्ट जो आज की सत्तारूढ़ पार्टियों और नेताओं के समर्थक हैं या जो अपनी पुरानी कुर्बानी की पूंजी पर जी रहे हैं ( हिंदी साहित्य में जिसका दयनीय दृश्य बासी कढ़ी में उवाल की तरह सरकारी पुरस्कारों की स्पृहा में, अपनी पुरानी अनछपी कविताओं के संग्रह, या पुराने लेखों-स्तम्भों के संग्रह छापने की होड़ लग रही है, और एक ही साथ व्यक्तिवादी कुंठावादी लेखकों के समर्थक आलोचक उन बूढ़े तथा कथित क्रांति-कर्मियों को ही उछाल रहे हैं ) राहुल जी को समझने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं।

इस प्रकार से मार्क्सवाद के रूढ़, पार्टी-बद्ध रूप से राहुल जी मोहभंग की स्थिति में अलग होते गये। उस समय के उनके लेखन में 'कौरवी की गीतें और कथाएँ' भी हैं, 'विस्मृत यात्री' जैसे उपन्यास भी है, 'दक्खिनी काव्य धारा' भी है और 'दोहाकोश' भी है। वे राजनीतिक प्रचार-प्रसार बहुत कर चुके थे। वे अब जुट गये थे 'मध्यएशिया के बृहद इतिहास' में। दुर्भाग्य तो यह है कि उनके इतने विराट और भव्य योगदान का पूरा मूल्यांकन न उनके जीवन काल में हुआ, न आजतक किसी ने उनपर कोई बड़ा शोध-कार्य किया, न उनके नाम से कोई संस्थान खुला न आसंदी विश्वविद्यालय में स्थापित या निर्मित हुई, न उनके नाम से व्याख्यानमाला ही किसी संस्था ने चलाई। राहुल जी संस्थावाद के विरोधी थे, मार्क्स बिना संस्था के कोई बात ही नहीं करता था। यह मौलिक मतभेद मुझे दिखाई देता है। संस्था का अर्थ है अनुशासन। अनुशासन का अर्थ है एक नेता, एक नारा, एक कार्यक्रम वाला एकेश्वरवाद। राहुल जी अच्छे अर्थ में ऐसी व्यक्तिपूजा के प्रति घोर आस्तिक थे। नागार्जुन जैसे सर्व-निषेधवादी अराजकवादी शिष्य राहुल जी की ही छाया में पले-बढ़े।

अन्त में, मैं उनके 'माओ-चे-तुंग' पुस्तक ( 1956 में लिखी ) के कुछ उद्धरण देकर इस लेख को समाप्त करूँगा। ग्रंथ की भूमिका में वे लिखते हैं—

'यद्यपि मार्क्सवाद का प्रयोग ( व्यवहार ) हरेक देश में उसकी परिस्थिति के अनुसार करना पड़ता है, जो सबसे मुश्किल काम है, वल्कि कहना चाहिये कि मार्क्सवाद को अपने देश में व्यवहृत करने में मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन माओ-चे-तुंग जैसी प्रतिभाओं की आवश्यकता हैं। हर देश में क्रांति और नव-निर्माण की शक्तियाँ मौजूद हैं, समय भी कभी-कभी मिलता है, लेकिन क्रांति की सफलता के लिए वहां ऐसी ही महान् प्रतिभाओं की आवश्यकता है। आवश्यकता है तो प्रतिभा जरूर पैदा होकर रहेगी।'



फिर इसी ग्रन्थ में 'माओ की कला और साहित्य की समस्याएँ' प्रसंग में पृ० 225 पर 22-23 मई 1942 में येनान् में, चीन के सभी भागों के साहित्यकारों और कलाकारों के सम्मेलन में माओ के उद्बोधन को सविस्तार देकर राहुल जी लिखते हैं (पृ० 230) — "बुद्ध ने बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय को अच्छापन का लक्षण बतलाया था। माओ भी उसी तरह श्रेष्ठ या भद्र होने की व्याख्या करते हुए कहते हैं— "यदि आप जनता के सांस्कृतिक तल को ऊँचा नहीं कर सकते और उसकी जगह और कुछ न कर केवल आप उनके पिछड़ेपन को दोष देते हैं, तो आप बेकार की बात बघार रहे हैं" "साहित्यकला के संबन्ध में हमारी आलोचना साम्प्रदायिक नहीं होनी चाहिये। प्रतिरोध युद्ध और राष्ट्रीय एकता के सामान्य सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए हमें साहित्य-कला की उन सारी कृतियों को सहन करना चाहिये, जो कि राजनीतिक रुखों के हर प्रकार और हर रंग को प्रकट करते हैं। (पृ० 232)।

इसी तरह से राहुल जी ने माओ-चे-तुंग की मुस्लिम जातियों विषयी मतावली पृ० 325 से 329 तक दी है और कहा है—चीन में मुस्लिम अल्प-संख्यक और तिब्बती अल्पसंख्यकों की भाषाई और साहित्यिक-शैक्षणिक मांगों का कहां तक और कैसे समर्थन और संरक्षण किया गया था। राहुल जी ने यहां तक लिखा (पृ० 334) कि इसमें शक नहीं कि अगले दस वर्षों में तिब्बत भारत को बहुत सी बातों में पीछे छोड़ जायेगा। क्या उनकी भविष्यवाणी सच होने जा रही है ?









## मार्क्स और भारत

शोभा शंकर

वैश्विक दृष्टि रखने वाले क्रान्तिकारी मानवतावादी विचारक के रूप में मार्क्स ( 1818-1883 ) का भारत में रुचि लेना स्वभाविक था। मार्क्स की जीवनी बताती है कि अप्रैल 1850 के मध्य में लंदन में "यूनिवर्सल सोसाइटी आफ़ कम्युनिस्ट रीवोलशनरीज़" की स्थापना का निर्णय लिया गया। कम्युनिस्ट लीग के प्रतिनिधि के रूप में इसके मसविदे पर मार्क्स-एंगेल्स तथा विलि ने हस्ताक्षर किये। इसमें कहा गया कि इस सोसाइटी का उद्देश्य होगा - सभी विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों की समाप्ति और इन वर्गों को सर्वहारा के अधिनायकतंत्र के अधीनस्थ रखना। साम्यवाद की स्थापना तक क्रांति को स्थिर करना होगा, जो मानव जाति के संगठन का अंतिम रूप होगा।<sup>1</sup> इसके पूर्व मार्क्स-एंगेल्स दिसम्बर 1847-जनवरी 1848 में "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र" लिख चुके थे, जो पहले-पहल लंदन में फरवरी, 1848 में जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ था। इसका आरंभ यों होता है : "आज यूरोप को एक भूत आतंकित कर रहा है-कम्युनिज्म का भूत। इस भूत को भगाने के लिए पोप और जार, मेटर्निख और नीजों, फ्रांसीसी उग्रवादी और जर्मन खुफिया पुलिस बूढ़े यूरोप के सारे सत्ताधारी एक हो गये है।"<sup>2</sup> 1850 के पूर्व मार्क्स ने जिन क्षेत्रों में कार्य किया, उनमें हेगेल, फायरबाख, तथा काल्पनिक समाजवादियों की सीमाओं को दर्शा कर, "वैज्ञानिक समाजवाद" का प्रतिपादन प्रमुख है। "दर्शन की दरिद्रता" का संकेत कर उन्होंने स्पष्ट कहा कि दार्शनिकों ने अब तक संसार की व्याख्या की है, हमारा दायित्व इसे बदल देना है। सही कहा गया कि जो दर्शन सिर के बल खड़ा था, उसे मार्क्स ने पैरों पर खड़ा कर दिया। 1852 तक मार्क्स-एंगेल्स जर्मनी-फ्रांस के समाजों का विश्लेषण कर चुके थे। "लुई बोनापार्ट की अठारहवीं बूमेरे" 1851-1852 में मार्क्स द्वारा लिखा गया जिसमें फ्रांसीसी किसानों का भी वर्णन है।

मार्क्स की जीवनी से ज्ञात होता है कि 1850-52 तक मार्क्स योरप में अधिक रुचि लेते हैं और "राजनीति अर्थशास्त्र की समीक्षा का एक प्रयास" की संक्षिप्त भूमिका में उन्होंने उसे स्वीकार भी किया है।<sup>3</sup> कई दृष्टियों से यह मार्क्स के सबसे महत्वपूर्ण अध्ययनों में है जिसमें मार्क्स पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली पर विचार करते हुए अंत में वैदेशिक व्यापार और विश्व बाजार को लेते हैं। 1857 में योरप में जो विश्व व्यापी आर्थिक संकट आया, उसे लेकर मार्क्स ने "न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून" में विस्तृत टिप्पणियां लिखीं। मार्क्स के जीवनीकारों का कहना है कि 1850-60 के बीच विश्व बाजार में पूंजीवाद बहुत सक्रिय हुआ, पर मार्क्स ने यह अनुमान लगा लिया था कि यह किसी आर्थिक संकट की अग्रिम सूचना है। और यही हुआ भी। 1857 में जो भी आर्थिक



संकट आया, उस पर मार्क्स ने कई लेख लिखे जिनमें उन्होंने उत्पादन में कटौती, फैक्ट-रियों का बन्द होना, आर्थिक दिवालियापन, बाजार में मंदी, बढ़ती बेरोजगारी आदि का उल्लेख किया।

मार्क्स ने योरप के बाद एशिया की ओर ध्यान दिया। एशिया में भारत बड़ी जनसंख्या वाला देश था, इसलिए इसकी ओर उनकी दृष्टि गयी। पर भारत के विषय में मार्क्स ने जो लेख लिखे, उनकी पृष्ठभूमि पांचवे-छठे दशक के औद्योगिक समाज की आर्थिक स्थितियाँ हैं, इसे ध्यान में रखना होगा। मार्क्स जानते हैं कि योरप में जो औद्योगिक क्रांति हुई—उससे पूंजीवादी विकास में सहायता मिली। अपने माल की खपत के लिए पूंजीवादी शक्तियाँ बाजारों की तलाश में संसार भर में बढ़ी। पूंजीवाद की इस यात्रा में लेनिन की टिप्पणी बहुत सही है कि आर्थिक शक्ति स्वयं को राजनीतिक शक्ति में रूपान्तरित करती है और साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अंतिम चरण है। भारत के विषय में लिखते हुए मार्क्स के दिमाग में पूंजीवाद की इस निर्मम प्रवृत्ति के प्रति तीखी प्रतिक्रियाएँ हैं जो पिछड़े समाजों का शोषण करती हैं।

मार्क्स-एंगेल्स ने भारत के विषय में जो लेख लिखे वे “द फर्स्ट इंडियन वार आफ इन्डिपेन्डेन्स, 1857-1859” नाम से 1959 में अंग्रेजी में सोवियत संघ में प्रकाशित हुए। इनमें से अधिकांश “न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून” में निकले थे, मार्क्स ने जिसके सम्वाद-दाता के रूप में काम किया था। इसके अंश मार्क्स-एंगेल्स की संकलित रचनाओं में हिन्दी में मास्को में अनूदित हुए। “उपनिवेशवाद के बारे में” पुस्तक में भी ये संकलित हैं। जनवरी 1963 में रमेश सिनहा ने “भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम,” 1857-59 शीर्षक से हिन्दी में अनुवाद किया। इनसे गुजरने पर ज्ञात होता है कि मास्को से जिन अंशों के अधिकारिक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुए थे, उनमें और पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस के अनुवादों में आंशिक अन्तर है। जैसे पहले लेख को लें, जो शुक्रवार 10 जून 1853 को लिखा गया और 25 जून के “न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून” में प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी में शीर्षक है: “द ब्रिटिश रूल इन इंडिया।” मास्को का हिन्दी अनुवाद है। “भारत में ब्रिटिश राज”।<sup>6</sup> पर पी पी एच का शीर्षक है: “भारत में ब्रिटिश शासन”। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए ‘राज’ शब्द अधिक सही है, क्योंकि शासन शब्द “एडमिनिस्ट्रेशन” बताता है। जिन लेखों के हिन्दी अनुवाद मास्को में हो चुके हैं, उनका सहारा भारतीय संस्करण में लिया गया है, ऐसा प्रतीत होता है कि, यद्यपि कुछ परिवर्तन किये गये हैं, जिनका तार्किक कारण समझ में नहीं आता। पर जहाँ सीधे अंग्रेजी संस्करण से अनुवाद किये गये हैं, वहाँ थोड़ी स्वतंत्रता ली गयी है। भारत से सम्बद्ध मार्क्स-एंगेल्स के लेखों के प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद “उपनिवेशवाद के बारे में” पुस्तक में भी उपलब्ध हैं।

“न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून” में मार्क्स योरप के आर्थिक संकट के विषय में अपनी टिप्पणियाँ भेज रहे थे और इसी बीच भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम आया और मार्क्स-एंगेल्स ने इसके विषय में विस्तार से लिखा। इसी शीर्षक से संकलित लेखों में प्रथम तीन



लेख जून-जुलाई 1853 के हैं। भारत में ब्रिटिश राज, ईस्ट इंडिया कम्पनी—उसका इतिहास तथा परिणाम, भारत में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम। ये तीनों टिप्पणियाँ बताती हैं कि मार्क्स भारत के विषय में विचार करते हुए, उसकी स्थितियों को व्यापक संदर्भ में रखकर देखते हैं : पूंजीवादी उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद आदि। हिन्दुस्तान को “एशियाई आकार का इटली” बताते हुए मार्क्स, कुछ बातों में उसे आयरलैंड की तरह मानते हैं : “इटली और आयरलैंड के, विलासिता के संसार और पीड़ा के संसार के इस विभिन्न समिश्रण का आभास हिन्दुस्तान के धर्म की प्राचीन परम्पराओं में पहले से मौजूद हैं।” और मार्क्स उसके “योगी-भोगी” के अन्तर्विरोधी रूप का संकेत करते हैं। मार्क्स भारत के धार्मिक आधार की बात करते हुए, कई प्रचलित भ्रांतियों को तोड़ना चाहते हैं। जैसे प्रायः भारतीय इतिहास के किसी स्वर्ण युग की कल्पना की जाती है। पर मार्क्स इसे स्वीकार नहीं करते। बिना विस्तार में जाये, वे मानते हैं कि भारतीयों की दुःख-गाथा काफी पहले से शुरू हो गयी थी। अर्थात् धार्मिक शोषण, सामन्ती शोषण पहले से चले आ रहे थे।

मार्क्स ने इतिहासकारों के आधार पर भारतीय इतिहास पर विस्तृत नोट्स तैयार किये थे, और उनकी सहायता से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि “उसका सम्पूर्ण पिछला इतिहास अगर कुछ भी है, तो वह उन लगातार जीतों का इतिहास है जिसका शिकार उसे बनना पड़ा है।” पर इसी सिलसिले में कहे गये उनके अगले वाक्यों को लेकर बहस हो सकती है कि “भारतीय समाज का कोई इतिहास नहीं है, कम से कम ज्ञात इतिहास तो बिल्कुल ही नहीं है जिसे हम उसका इतिहास कहते हैं, वह वास्तव में उन आक्रमण-कारियों का इतिहास है जिन्होंने आकर उसके उस समाज के निष्क्रिय आधार पर अपने साम्राज्य कायम किये थे, जो न विरोध करता था, न कभी बदलता था।” और मार्क्स की टिप्पणी है कि ये ऐसी स्थितियाँ हैं कि कोई भी आक्रमण कर सकता है। मार्क्स भारत के इतिहास की बात नहीं कर रहे हैं जो निश्चित ही महान इतिहास-पुरुषों से समृद्ध है : चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, हर्षवर्द्धन से लेकर बाबर-अकबर, जहांगीर-शाहजहाँ तक। पर मार्क्स भारतीय समाज की जड़ता अथवा गतिहीनता की बात कर रहे हैं। कुछ भारतीय विद्वानों ने भारतीय समाज के ऐतिहासिक विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। “भारतीय चिन्तन परम्परा” की भूमिका में के० दामोदरन का कथन है कि “हमारे दर्शन के इतिहास को आदर्शवाद और भौतिकवाद के बीच संघर्ष के इतिहास के रूप में नहीं अंकित किया गया था, वरन् उसे आदर्शवादी विचारधारा की एक अटूट और अखण्ड-श्रृंखला के रूप में प्रस्तुत किया गया था।”<sup>6</sup> डा० भगवतशरण उपाध्याय और कौशाम्बी आदि ने भारतीय समाज के ऐतिहासिक विश्लेषण की दिशा में प्रयत्न किया।

मार्क्स की भारत-संबन्धी कुछ टिप्पणियों को यदि भावुक राष्ट्रीयता की दृष्टि से देखा जाय तो तीखी प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं। जैसे भारतीय सामाजिक इतिहास का न होना, भारतीय स्वर्णयुग का मिथ, श्रेष्ठकर सभ्यता के कारण अंग्रेजों की विजय,



1857 में हमारी पराजय आदि। पर मार्क्स वैज्ञानिक दृष्टि लेकर चलते हैं, इसलिए उनकी टिप्पणियों के तर्क और प्रमाण हैं। जब वे अंग्रेजों की श्रेष्ठतर सभ्यता की बात करते हैं तब उनका आशय यही है कि वे पूंजीवाद की वेहतर विकसित साधनों से सज्जित थे, जब कि भारत मध्यकालीन सामंती व्यवस्था में जकड़ा था। इस विश्लेषण को पीछे की ओर तक लागू किया जा सकता है कि जाति, सम्प्रदाय, भाषा, प्रदेश के टुकड़ों में बँटा भारत बार-बार हारता है।

भारत के प्राचीन आर्थिक-सामाजिक ढाँचे को मार्क्स स्वयं सम्पूर्ण इकाइयों के रूप में देखते हैं, विशेषतया ग्रामीण संगठनों को। कृषि आधारित ग्रामसमाज का विश्लेषण करते हुए मार्क्स लिखते हैं कि "भारत के अतीत का राजनीतिक स्वरूप चाहे कितना ही अधिक बदलता हुआ दिखलायी देता हो, प्राचीन से प्राचीन काल से लेकर 19वीं शताब्दी के पहले दशक तक उसकी सामाजिक स्थिति अपरिवर्तित ही बनी रही है। नियमित रूप से असंख्य कातने वालों और बुनकरों को पैदा करने वाला करघा और चर्खा ही उस समाज के ढाँचे की धुरी थी"। मार्क्स ने भारतीय ग्राम संगठन को छोटी-छोटी अर्द्ध-बर्बर, अर्द्ध-सभ्य वस्तियों के रूप में देखा और उन्हें "उद्योगशील पितृसत्तात्मक और निरीह सामाजिक संगठन" कहा। यहां तक कि उन्हें "काव्यमय ग्रामीण वस्तियाँ" कहा। मार्क्स कहते हैं कि इस ग्राम संगठन के टूटने-बिखरने की जो प्रक्रिया अंग्रेजी पूंजीवाद के दबावों में आरम्भ हुई, वह कष्टकर है, "जिनसे मानव-भावना अवसाद में डूब जाती है" यह है मार्क्स की उदार, करुण मानवीय दृष्टि।

प्राचीन भारतीय सामाजिक संगठन, विशेषतया ग्राम-समाज की अपनी विशेषताएं रही हैं, उनका स्वयं सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचा, विकसित हस्तशिल्प, आत्मनिर्भर समाज आदि। मार्क्स इन ग्राम इकाइयों की अहमियत स्वीकार करते हैं और यह दुख भी व्यक्त करते हैं कि अंग्रेजों ने इन्हें तहस नहस कर डाला। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने ग्रामसमाज के करघा, चर्खा को तोड़ा, कुटीर-उद्योग नष्ट किये जिन्हें हम भारतीय समाज की धुरी कह सकते हैं। मार्क्स का कथन है। "हिन्दुस्तान के अतीत का राजनीतिक पहलू कितना ही परिवर्तनशील क्यों न रहा हो, उसकी सामाजिक स्थिति अति प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी की पहली दशाब्दी तक समायी रही। करघा और चरखा इस सामाजिक ढाँचे की धुरी थे, जिनसे निरन्तर असंख्य बुनकर तथा सूत कातने वाले पैदा होते रहते थे। पुरातन काल से योरप हिन्दुस्तानी बुनकरों के तैयार किए हुए वेहतरिन कपड़े मगवाता रहा और बदले में अपनी मूल्यवान वस्तुएं भेजता रहा, जो सुनार के पास पहुंचती रहीं।"⁸ इस प्रकार मार्क्स भारतीय कलाकौशल को स्वीकार करते हैं, ग्राम इकाइयों को "काव्यमय ग्रामीण वस्तियाँ" कहते हैं। अंग्रेजों के शोषण पर तीखी टिप्पणियां करते हैं। पर एक वैज्ञानिक समाजशास्त्री के रूप में मार्क्स की प्रसिद्ध टिप्पणी है: "अंग्रेजों की दस्तन्दाजी सूत कातने वाले को लंकाशायर में और बुनकर को बंगाल में बैठकर, या भारतीय समुदायों को, उनके आर्थिक आधार तोड़कर, मिटा दिया और इस प्रकार एशिया में



सबसे बड़ी और सच कहे तो एकमात्र सामाजिक क्रांति पैदा कर दी।”<sup>9</sup> 10 जून 1853 को लिखित और 25 जून 1853 को प्रकाशित लेख : “भारत में ब्रिटिश राज” का अंत मार्क्स महाकवि गेटे की कविता पंक्तियों से करते हैं जिसमें बर्बर तैमूर का उल्लेख है।

मार्क्स के उन लेखों की चर्चा सबसे अधिक की जाती है जिसमें वे भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणामों की चर्चा करते हैं और जिसका संकेत वे “सामाजिक क्रांति” शब्द के द्वारा कर चुके हैं, जहाँ मार्क्स अंग्रेजों की शोषक-नीति पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं : “यह सत्य है कि हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रांति उत्पन्न करने में इंग्लैंड निकृष्टतम स्वार्थों से प्रेरित हुआ था और जिस ढंग से उसने उन स्वार्थों की सिद्धि की थी वह मूर्खतापूर्ण था। पर सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि क्या मानव जाति एशिया की सामाजिक व्यवस्था में मौलिक क्रान्ति हुए बिना अपने प्रारब्ध की पूर्ति कर सकती है? यदि नहीं, तो इंग्लैंड ने जो भी अपराध किये हों, इस क्रांति को लाने में वह अनजाने में ही इतिहास का हथियार बन गया।”<sup>10</sup> भारत में ब्रिटिश राज के भावी परिणामों की बात करने से पूर्व मार्क्स भारत के उस सामन्ती परिवेश का उल्लेख करते हैं जिनमें बाहरी जातियों का योग रहा है। इस दिशा में उन्होंने “भारत की नितान्त अवरुद्ध उत्पादक शक्तियों की बात की है। भारत के गांव एक-दूसरे से अलग-थलग थे। एक भारी अलगाव था और “ग्राम समुदायों की इस आत्मनिर्भर गतिहीनता” के कारण भारत में उत्पादक शक्तियाँ रुकी-ठहरी थीं।

प्राचीन भारतीय ग्रामव्यवस्था का विश्लेषण करते हुए मार्क्स बताते हैं कि ग्रामसमाज की गतिहीनता के कारण अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ और अंध विश्वास प्रचलित थे। ग्राम के सामान्यजन कई प्रकार के शोषण के शिकार थे और पटेल से लेकर पटवारी तक उसमें साझेदार थे। इन गांवों का इतिहास की धारा से कोई सम्पर्क न था। नगरों में शासक, सामन्त आते-जाते थे, पर ग्रामजन की उनमें कोई रुचि नहीं थी। उनमें विद्रोह का भाव जन्म न लेता था, जबकि शोषण की प्रक्रिया निरन्तर चलती थी। ब्रिटिश राज के आने पर स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन हुआ। पर इसे इतिहास के परिणाम के रूप में देखना चाहिए, क्योंकि भारत के विकास में अंग्रेजों की रुचि बहुत सीमित थी। रेल की पटरियाँ बिछीं, कुछ सड़के बनीं तो इसलिए की प्रशासन में सुविधा हो, विशेषतया सेना-पुलिस के आने-जाने में। भारत का कच्चा माल आसानी से बन्दरगाहों तक पहुँचाया जा सके और ब्रिटेन का बना माल भारतीय नगरों में पहुँच सके। मार्क्स ने इस सामाजिक क्रांति को “सामन्ती अभिजात वर्ग पर, पूँजीपति वर्ग की प्रथम निष्पत्ति विजय” कहा है। वास्तविकता यह है कि जब मार्क्स कहते हैं कि “अंग्रेज पहले विजेता थे, जिनकी सभ्यता ऊँची थी”, तब उनका आशय यह कि भारतीय मध्ययुगीन सामन्तवाद में उलझा था जबकि ब्रिटिश सत्ता औद्योगिक क्रांति और पूँजीवाद के विकास को लेकर चल रही थी। इसलिए मार्क्स ने कहा कि “इंग्लैंड को भारत में दोहरे ध्येय की पूर्ति करनी है: एक विनाशकारी, दूसरा सृजनात्मक “पुराने एशियाई समाज को तोड़ना और पश्चिमी समाज के भौतिक आधार को एशिया में स्थापित करना।”<sup>11</sup>



ब्रिटिश सत्ता के आगमन से शोषण की प्रक्रिया जो मध्यकाल से चली आ रही है और निर्मम हुई। भारतीय पूंजी ब्रिटेन जाने लगी और देश नये-नये करों से लद गया। पर उसका परिणाम अनजाने ही यह हुआ कि भारतीय गांवों का अलगाव कम हुआ, उनकी जड़ता टूटी और उनकी "आत्मसंतोषी निश्चलता भंग हुई।" भारत की श्रम शक्ति को सराहते हुए मार्क्स ने कैम्पवेल को उद्धृत किया। "भारत की अधिकांश जनता में महान औद्योगिक शक्ति है, पूंजी इकट्ठा करने की क्षमता है, गणित के लिए उसका मस्तिष्क विलक्षण रूप से साफ है और सांख्यिकी तथा तथ्यविज्ञानों के लिए उसमें मेधा है। . . . उनकी बुद्धि बहुत अच्छी है।" <sup>12</sup> भारतीय ग्राम व्यवस्था की "आत्मनिर्भर गतिहीनता" इतिहास के दबावों से समाप्त हुई और इसका सीधा श्रेय ब्रिटिश राज को नहीं दिया जा सकता क्योंकि भारत के विकास में उनकी रुचि बहुत सीमित है। पर मार्क्स इतिहास के प्रवाह को वखूबी पहचानते हैं कि इतिहास के परिवर्तन की यह प्रक्रिया आरम्भ हो गयी तो रुकेगी नहीं। और यही हुआ भी। लगता है मार्क्स जैसे भविष्यवाणी कर रहे हैं। एक सच्चे क्रांतिकारी की तरह वे भारतीय समाज को सीधे ही क्रांति के लिए सम्बोधित करते हैं: "भारत के लोग समाज के उन नये तत्वों ( सामाजिक-क्रांति ) से, जिन्हें ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग ने उनके बीच बिखेरा है, तब तक कोई लाभ नहीं उठा सकेंगे- जब तक की खुद ब्रिटेन में औद्योगिक सर्वहारा आज के शासक वर्ग की जगह न ले ले ( जो आज तक नहीं हो सका ), या जब तक की भारतीय लोग स्वयं इतने मजबूत न हो जायें कि अंग्रेजों के जुए को विल्कुल उतार फेंके।" इसी क्रम में मार्क्स लिखते हैं: "कुछ भी हो, हम आश्चर्य से यह आशा कर सकते हैं कि भविष्य में, कुछ कम ज्यादा लम्बे अरसे बाद, उस महान और दिलचस्प देश का पुनरुत्थान होगा, जिस देश के सुशील लोग, प्रिंस सात्तिकोव के शब्दों में, सबसे निचले वर्गों में भी वे इटालियों से भी ज्यादा पैनी बुद्धि वाले और कुशल होते हैं, जिनकी पराधीनता में भी एक विशेष शांत औदार्य होती है और जो अपनी स्वभाविक सुस्ती के बावजूद अंग्रेज अफसरों को अपनी बहादुरी से चकित कर चुके हैं- जिनका देश हमारी भाषाओं और हमारे ब्राह्मण प्राचीन यूनानियों के।" <sup>13</sup> पी पी एच के अनुवाद में "इन्टरेस्टिंग" के लिए "चिन्ताकर्षक" शब्द का उपयोग किया गया है जब कि दिलचस्प अधिक अर्थगर्भी है।

भारत पर विचार करते हुए मार्क्स-एंगेल्स की पूरी सहानुभूति इस परतंत्र राष्ट्र के साथ है और इसे वे कई प्रकार से व्यक्त करते हैं। भारत में अंग्रेजी राज पर विचार करते हुए मार्क्स के "विजन" में पूरा एशिया मौजूद है जिसका मूल ढांचा सामंती है। छोटे-छोटे टुकड़ों से चिपके रहते हैं। पटेल या मुखिया गांव के मामलों की देख-रेख करता है और पुरोहित पूजा-पाठ कराते हैं। गांव इतिहास के प्रवाह से इतना अलग-थलग हैं कि उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। मार्क्स ने भारतीय समाज का विश्लेषण किया, पर उनकी दृष्टि पूरे एशिया पर है: "अंग्रेजों की दस्तन्दाजी ने सूत कातने वाले को लंकाशायर



में और बुनकर को गंगाल में बैठाकर, या भारतीय बुनकर और भारतीय सूत कातने वाले क्षेत्रों का सफाया करके इन छोटे-छोटे अर्द्धवर्ग तथा अर्द्ध सभ्य समुदायों को, उनके आर्थिक आधार तोड़कर, मिटा दिया और इस प्रकार एशिया में सबसे बड़ी और सच कहें तो एकमात्र सामाजिक क्रांति पैदा कर दी।”<sup>14</sup> मार्क्स ने ब्रिटिश शासन से सम्बद्ध तीन लेख लिखे: भारत में ब्रिटिश राज, ईस्ट इंडिया कम्पनी—उसका इतिहास तथा परिणाम और भारत में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम। इनसे ज्ञात होता है कि मार्क्स ने सर्वप्रथम भारतीय ग्रामबहुल समाज का विश्लेषण किया। उसके अनन्तर उन्होंने ब्रिटिश सत्ता के आगमन से होने वाले प्रभावों पर टिप्पणी की। इसके भी दो पक्ष हैं। एक ब्रिटिश राज का आर्थिक-सामाजिक प्रभाव और दूसरा ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शोषण नीति पर आक्रमण। मार्क्स अपने तीसरे लेख का अंत करते हुए, उपसंहार के रूप में लिखते हैं। “हमारी आंखों के सामने, पूंजीवाद सभ्यता का वह घोर पाखण्ड और स्वभाव गत वर्गता निरावरण होकर आ गयी, जो अपने देश में भद्रता की चादर ओढ़े रहती है और उपनिवेशों में नंगी घूमती है।” इस सिलसिले में मार्क्स ने ब्रिटिश क्रूरता, लूट-खसोट, धार्मिक हस्तक्षेप, पूंजीवादी शोषण आदि का उल्लेख किया है। पर इस सबको मार्क्स इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से जोड़ते हुए कहते हैं। “भारत में जो यूरोप जैसा विशाल है और जिसमें 15 करोड़ एकड़ भूमि है, ब्रिटिश उद्योग के जो विनाशकारी परिणाम हुए हैं वे स्पष्ट और भयानक हैं। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि वे वर्तमान उत्पादन पद्धति के मात्र स्वाभाविक परिणाम हैं। --- इतिहास के पूंजीवादी युग को नयी दुनिया का भौतिक आधार तैयार करना है।”<sup>15</sup>

मार्क्स ने 1857 के भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम को लेकर ‘न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून’ में लगभग बीस लेख लिखे। उसी समय एंगेल्स ने भी इसी विषय पर टिप्पणियां लिखीं, जो एक साथ ‘भारत का प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम’ पुस्तक में संकलित है। तथा ‘उपनिवेशवाद’ के बारे में भी हैं। मार्क्स के इन लेखों से ज्ञात होता है कि उन्होंने 1857 की क्रांति में गहरी रुचि ली और स्थितियों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। समाचार पत्रों में छपी सूचनाओं से प्राप्त विवरणों में वे जाते हैं, और उनकी पूरी हमदर्दी भारत के साथ है। मार्क्स 1857 को एक आकस्मिक घटना नहीं मानते, उसे इतिहास की एक परिणति मानते हैं। यदि हम उनकी जीवनी पर विचार करें तो पाएंगे कि मार्क्स 1857 के आर्थिक संकट का उल्लेख विस्तार से करते हैं। जीवनीकार का कहना है कि “मार्क्स-एंगेल्स आश्वस्त थे कि प्रतिक्रियावाद की विजय अस्थायी होगी, और उन्हें आशा थी कि 1857 के संकट से उपजे पूंजीवादी उतार-चढ़ाव के राजनीतिक परिणाम होंगे। एक और क्रांति का ‘प्रलय’ आ सकता है। इन्हीं परिस्थितियों में मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र पर अपने कार्य को पूरा करना अपना प्राथमिक कर्तव्य माना।”<sup>16</sup> राजनीतिक अर्थशास्त्र का प्रकाशन लन्दन में 1859 में हुआ। इसके आरंभ में ही मार्क्स कहते हैं: “इस समय यूरोपीय महाद्वीप में हड़तालों की सचमुच एक महामारी आई हुई है और मजदूरी



बढ़ाने के लिए आमतौर से शोर मच रहा है।<sup>17</sup> भारत की घटनाओं पर मार्क्स को टिप्पणियों को इसी व्यापक संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के विषय में मार्क्स द्वारा लिखे गए लेख बताते हैं कि वे आजादी की पहली लड़ाई के सभी पक्षों पर विचार करते हैं। उसके विवरणों में जाते हैं और उनकी सहानुभूति भारतीय जनता के साथ है। यही बात एंगेल्स के लेखों में है जो मार्क्स के साथ ही संकलित हैं। 1853 के अपने लेख का अन्त करते हुये मार्क्स मि. डिकिन्सन को उद्धृत करते हैं : “परिस्थिति यह है कि जिस तरह भारत में अपना साम्राज्य खो देने पर इंग्लैंड तबाह हो जायगा, उसी तरह उसे अपने कब्जे में बनाए रखने के लिए वह स्वयं हमारी वित्तीय व्यवस्था को तबाही की ओर लिए जा रहा है।” मार्क्स प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम पर विस्तार से लिखते हुये इस अन्तर्विरोध को समझते हैं और यह भी जानते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य के भारत में ऐसे निहित आर्थिक-राजनीतिक स्वार्थ हैं कि सारे दबावों के बावजूद वह इस उपमहाद्वीप पर अपना अधिकार समाप्त नहीं कर सकता।

मार्क्स के लेख 1857 की क्रांति से सीधे ही सम्बन्ध रखते हैं, एक प्रकार के विस्तृत रपटें हैं जो उन्होंने ‘न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून’ के संवाददाता रूप में लिखी हैं। पर इनमें मार्क्स की समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक दृष्टि बराबर काम कर रही है। वे उन आर्थिक कारणों का विशेष विश्लेषण करते हैं जिनमें मुक्तिसंग्राम अवश्यभावी था। वे ब्रिटिश सत्ता की साम्राज्यवादी नीतियों पर तीखे आक्रमण करते हैं। 15 जुलाई 1857 को प्रकाशित अपने पहले लेख का आरम्भ ही वह ‘फूट डालो और राज्य करो’ की घिनौनी ब्रिटिश नीति पर प्रहार करते हुये करते हैं। मार्क्स यह मानने को तैयार नहीं कि 1857 की क्रांति के मूल में वे कारण हैं जिनका उल्लेख ब्रिटिश सत्ता ने किया है, विशेष रूप से देशी फौजों का भय कि संसार उनके कर्म में हस्तक्षेप करेगी, जैसे सिपाहियों को दिए गए कारतूसों में गाय-सूअर की चर्बी की बात। मार्क्स इसे ‘तथाकथित कारण’ कहते हैं। अपने अपने लेखों में मार्क्स आजादी की पहली लड़ाई को उन आर्थिक स्थितियों से जोड़ते हैं जिसका उल्लेख वे 1853 के अपने लेखों में कर चुके थे—ब्रिटिश सत्ता द्वारा भारत का आर्थिक शोषण। मार्क्स ने ‘नोट्स आन इण्डियन हिस्ट्री’ ( 664-1858 ) में 1858 को 1849 में पंजाब को हड़प लेना, 1856 में अवध को हड़प लेना आदि घटनाओं से भी जोड़ा है।<sup>18</sup> मार्क्स 1857 के सम्बन्ध में लिखते हुए, अपने प्रथम लेख ( प्रकाशित 15 जुलाई 1857 ) में कहते हैं:—“बहुत सम्भव यही है कि दिल्ली के विद्रोही बिना किसी लम्बे प्रतिरोध के ही हार जायेंगे। किन्तु इसके बावजूद, यह उस भयानक दुखान्त नाटक की मात्र भूमिका है जो वहाँ ( भारत में ) अभी खेला जायगा।”

मार्क्स का समर्थन आजादी की लड़ाई को है, पर वे उन तथ्यों का सही विश्लेषण भी करते हैं जिनसे इस संघर्ष में सफलता मिलने की सम्भावना कम है। वे रणनीति और ब्यूहचरणा पर विचार करते हुये लिखते हैं कि “केवल उसके पानी की सप्लाई को काटकर ही, बहुत थोड़े समय के अन्दर, वे उसे ( भारतीय विप्लवकारी ) आत्मसमर्पण



के लिये मजबूर कर द सकते हैं। इसके अलावा, विद्रोही सिपाहियों की एक ऐसी असंगठित भीड़ जिसने स्वयं अपने अफसरों को मार डाला है, अनुशासन के बन्धनों को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया है और जो अभी तक ऐसा कोई आदमी ढूँढ़ने में सफल नहीं हुई है, जिसको वह अपना सर्वोच्च सेनापति बना सके—निश्चित रूप से ऐसी शक्ति नहीं है जो किसी गम्भीर और दीर्घकालीन प्रतिरोध का संगठन कर सके।<sup>19</sup> संगठित विद्रोह ही क्रांति का रूप ले सकता है, मार्क्स इसे रेखांकित करते हैं।

ब्रिटिश नेता डिज़रायली पार्लियामेन्ट में 1857 के विषय में जो वक्तव्य देते हैं, उस पर मार्क्स को भरोसा नहीं। इन्हें वे 'झूठा दावा' मानते हैं। डिज़रायली को ही उद्धृत करते हुये मार्क्स वह प्रश्न उठाते हैं, जिसके विषय में भारतीय इतिहासकार भी एकमत नहीं हैं: "भारत की उथल-पुथल एक फौजी बगावत है या वह एक राष्ट्रीय विद्रोह है? फौजी का व्यवहार किसी आकस्मिक उत्तेजना का परिणाम है, अथवा वह एक संगठित पडयंत्र का नतीजा है।" मार्क्स अपने लेख के अन्त में कहते हैं: "भारत की वर्तमान अशांति एक फौजी बगावत नहीं है, बल्कि वह एक राष्ट्रीय विद्रोह है—सिपाही उसके केवल सक्रिय साधन हैं।"<sup>20</sup> सोवियत संघ से दो खण्डों में प्रकाशित भारत का इतिहास में मार्क्स-एंगेल्स के विचारों का ही समर्थन किया गया है।<sup>21</sup> इसी प्रकार मास्को से ही प्रकाशित संक्षिप्त विश्व इतिहास में 1857-1859 का भारतीय विद्रोह के विषय में संपादक अ. ज. मानफ़ेद लिखते हैं: "महान भारतीय जन-विद्रोह ग़दर जो अन्ततः पराभूत कर दिया गया। भारत में अभी तक औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व करने की क्षमता रखने वाला कोई वर्ग नहीं था। सामंत लोग, जिनके एक हिस्से ने ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने का अन्तिम प्रयास किया था, व्यवहार में अब सभी प्रकार से अंग्रेजों के सहायक बन गये थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य में हिन्दुस्तान में ऐसी अवस्थाएँ विद्यमान नहीं थीं कि समूचे तौर पर देश भर में ऐसे संघर्ष को समन्वित किया जा सकता। फिर भी 1857-59 का असफल विद्रोह पूर्णतः निष्फल नहीं गया। उसने जनव्यापी संघर्ष की असीम सम्भावनाओं को प्रकट किया और भारतीय देश भक्तों को प्रेरणा का एक स्रोत प्रदान किया। ग़दर में भाग लेने वाले कुषक जन-साधारण का अनुभव जनसंघर्ष की आगामी मंजिलों में अमूल्य सिद्ध हुआ।"<sup>22</sup> लेनिन ने 'एशिया का जागरण' शीर्षक टिप्पणी में कहा है कि "जनवादी क्रांति सारे एशिया में तुर्की, फारस, चीन में फैली। ब्रिटिश भारत में भी उबाल आ रहा है।"<sup>23</sup>

1859 की घटनाओं पर लिखते हुए मार्क्स एक-एक विवरण देते हैं। पूरा घटना चक्र हमें बताते हैं। भारत से आने वाला समाचार, भारतीय विद्रोह की स्थिति, भारतीय विद्रोह, भारत में विद्रोह आदि लेख इसके प्रमाण हैं। आजादी की पहली लड़ाई सफल क्यों नहीं हुई, इसके मार्क्स कई कारण बताते हैं, जिनमें प्रमुख हैं: नेतृत्व का अभाव, संगठन की कमी, अनुशासनहीनता, आपसी झगड़े और फूट, ग़लत रणनीति आदि। मार्क्स ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति का विरोध करते हुये भारत में किये जाने वाले बर्बर अत्याचारों पर तीखी टिप्पणियाँ करते हैं। वे कहते हैं कि भारतीय जनता का शोषण



कई प्रकार से किया जाता रहा है—घरेलू, कुटीर उद्योग का विनाश, भारत से कच्चे माल का ब्रिटेन को निर्यात और उससे निर्मित माल का भारत में आयात, करों की निर्मम वसूली और उसका भुगतान न होने पर शारीरिक दण्ड, अन्यायी व्यवस्था आदि। 'भारत में किये गए जुल्मों की जाँच' रपट में मार्क्स ब्रिटिश शासन के अनेक अत्याचारों का उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं : "इन तथ्यों को देखते हुए विचारशील तथा निष्पक्ष लोग शायद यह पूछने पर बाध्य होंगे कि जिस प्रजा के साथ इतना बुरा व्यवहार किया जाता हो, यदि वह अपने विजेताओं को निकाल बाहर करने का प्रयत्न करे तो इसमें क्या बुराई है ? और यदि अंग्रेज लोग इतनी निर्दयता से ऐसे काम कर सकते थे तो विद्रोह और लड़ाई की उत्तेजना में बलवाई भारतीयों द्वारा अपराधों और अत्याचारों के किये जाने पर हमें हैरान नहीं होना चाहिए।" 24

1857 से 1859 तक की घटनाओं पर विचार करते हुए मार्क्स कई दृष्टियों से सोचते हैं। एक आर्थिक पक्ष है जहाँ मार्क्स ब्रिटिश पक्ष की शोषण नीति का पर्दाफाश करते हैं। लेनिन की यह धारणा कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की आखिरी मंजिल है, यहाँ देखी जा सकती है। 'भारत में अंग्रेजों की आय' लेख में वे बताते हैं कि इंग्लैंड की राष्ट्रीय निधि कैसे बढ़ रही है। दूसरा इसका राजनीतिक पक्ष है। भारत की बात करते हुए मार्क्स की दृष्टि इस क्षेत्र के पूरे भूगोल पर है और वे जानते हैं कि ब्रिटेन पूरे एशिया को अपने प्रभाव में रखना चाहता है, एक बड़े बाजार के रूप में उसका उपयोग करना चाहता है। 'उपनिवेशवाद के बारे में' पुस्तक में ही 'पूँजी' खण्ड अध्याय 31 का अंश 'औद्योगिक पूँजीपति की व्युत्पत्ति' शीर्षक से संकलित है। यहाँ भारत के सन्दर्भ में कहा गया है : "सभी जानते हैं कि अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ईस्ट इण्डिया में राजनीतिक शासन के अलावा चाय-व्यापार का विशेष एकाधिकार, आमतौर पर चीन के साथ सामान्य व्यापार का एकाधिकार तथा यूरोप से माल लाने और ले जाने का एकाधिकार प्राप्त किया। परन्तु भारत के तटवर्ती व्यापार-द्वीपों के बीच व्यापार तथा भारत के आन्तरिक व्यापार का एकाधिकार कम्पनी के उच्च कर्मचारियों के हाथ में था। नमक, अफीम, पान तथा अन्य माल के एकाधिकार सोने की खान थे। कर्मचारी स्वयं कीमतें निर्धारित करते थे और मनमाने ढंग से बेचारे हिन्दुओं (भारतवासी) को लूटते थे। इस निजी व्यापार में स्वयं गवर्नर जनरल भाग लेता था। उसके चहेतों को ऐसी शर्तों पर ठेके दिये जाते थे कि उनकी सहायता से वे शून्य में से सोना निकाल लेते। धूर्तता में कीमियागर भी आज मुकाबिला नहीं कर सकते।" 25 इस प्रकार मार्क्स भारत में अंग्रेजी राज का विश्लेषण पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के शोषण रूप में करते हैं और उनकी दृष्टि एशिया पर है। इसी पुस्तक में चीन, बर्मा, फारस, अफ़गानिस्तान आदि से संबंधित लेख भी संकलित हैं।

मार्क्स ने 'नोट्स ऑन इण्डियन हिस्ट्री' में भारत-संबंधी कुछ सूचनाएँ संकलित की हैं जिनका सम्बन्ध 664 से 1858 तक की घटनाओं से है। इसका रूसी संस्करण 1959 में प्रकाशित हुआ था—बाद में अंग्रेजी अनुवाद आया। मार्क्स ने अधिकांश



सामग्री अंग्रेजी इतिहासकारों से प्राप्त की थी और इसे सम्पादित-संशोधित करने का अवसर उन्हें नहीं मिल पाया। मार्क्स के नोट्स भारत में अरबों का पहला प्रवेश 664 ई० हिजरी 44 उल्लेख आरम्भ में करते हैं। 632 में पैगम्बर मुहम्मद का निधन हुआ। ये नोट्स कई खंडों में हैं : भारत में मुसलिम विजय, मुगल साम्राज्य (1526-1671), ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा भारत में विजय और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अंत (1823-1858)। मार्क्स भारत को आदिम जातिग्रस्त समाज के रूप में देखते हैं और सामन्ती समाज के रूप में उसका अध्ययन करते हैं। बाबर आक्रमण के समय की भारतीय राजनीतिक दशा का उल्लेख करते हुए मार्क्स बहमनी राज्य, बीजापुर-अहमदनगर, गोलकुण्डा-बरार-बीदर, गुजरात, मालवा, खानदेश तथा चित्तौड़, मारवाड़ा (जोधपुर) बीकानेर, जैसलमेर, जयपुर का नाम गिनाते हैं।<sup>26</sup> अर्थात् उस समय का विखंडित भारत-अनेक टुकड़ों में बटा हुआ। मार्क्स बताते हैं कि विदेशी भारत में व्यापारी होकर आए। औरंगजेब के समय में 1698 ई० कम्पनी को बंगाल में तीन गांव खरीदने की अनुमति मिली।<sup>27</sup> और धीरे-धीरे भारत ब्रिटिश साम्राज्य का भाग बन गया। शिवाजी के विषय में मार्क्स की टिप्पणियों को लेकर भारतीय विद्वान अंसतुष्ट रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मार्क्स ने जिन सूत्रों से सामग्री प्राप्त की, उनमें उसी प्रकार की बातें कही गई हैं, इसीलिए यह भूल हुई। इस दृष्टि से 1857 के विषय में मार्क्स की सूचनाएं अधिक प्रामाणिक हैं।

मार्क्स ने भारत के विषय में अपनी टिप्पणियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में लिखीं थीं और उन्हें दूसरों की सूचनाओं पर निर्भर रहना पड़ा था। पर मार्क्स की दृष्टि भारत के साथ, पूरे एशिया पर है और इसे वे यूरोपीय पूंजीवाद शक्ति को साम्राज्यवादी विस्तार के रूप में देखते हैं। कई स्थलों पर उनका विश्लेषण एक भविष्यवक्ता का है।

### संदर्भ

1. कार्ल मार्क्स : अ बायोग्राफी (सम्पादित), पृ० 227
2. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र
3. मार्क्स-एंगेल्स : संकलित रचनाएं, भाग 2, पृ० 12
4. कार्ल मार्क्स : अ बायोग्राफी ( सं० ), पृ० 302
5. मार्क्स-एंगेल्स : संकलित रचनाएं, भाग 1, पृ० 257
6. के दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा, भूमिका
7. मार्क्स-एंगेल्स : भारत का प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम, पृ० 11
8. मार्क्स-एंगेल्स : संकलित रचनाएं, भाग 1, पृ० 260
9. वही, पृ० 263
10. वही, पृ० 264



कई प्रकार से किया जाता रहा है—घरेलू, कुटीर उद्योग का विनाश, भारत से कच्चे माल का ब्रिटेन को निर्यात और उससे निर्मित माल का भारत में आयात, करों की निर्मम वसूली और उसका भुगतान न होने पर शारीरिक दण्ड, अन्यायी व्यवस्था आदि। 'भारत में किये गए जुल्मों की जाँच' रपट में मार्क्स ब्रिटिश शासन के अनेक अत्याचारों का उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं : "इन तथ्यों को देखते हुए विचारशील तथा निष्पक्ष लोग शायद यह पूछने पर वाध्य होंगे कि जिस प्रजा के साथ इतना बुरा व्यवहार किया जाता हो, यदि वह अपने विजेताओं को निकाल बाहर करने का प्रयत्न करे तो इसमें क्या बुराई है ? और यदि अंग्रेज लोग इतनी निर्दयता से ऐसे काम कर सकते थे तो विद्रोह और लड़ाई की उत्तेजना में बलवाई भारतीयों द्वारा अपराधों और अत्याचारों के किये जाने पर हमें हैरान नहीं होना चाहिए।" <sup>24</sup>

1857 से 1859 तक की घटनाओं पर विचार करते हुए मार्क्स कई दृष्टियों से सोचते हैं। एक आर्थिक पक्ष है जहाँ मार्क्स ब्रिटिश पक्ष की शोषण नीति का पर्दाफास करते हैं। लेनिन की यह धारणा कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की आखिरी मंजिल है, यहाँ देखी जा सकती है। 'भारत में अंग्रेजों की आय' लेख में वे बताते हैं कि इंग्लैण्ड की राष्ट्रीय निधि कैसे बढ़ रही है। दूसरा इसका राजनीतिक पक्ष है। भारत की बात करते हुए मार्क्स की दृष्टि इस क्षेत्र के पूरे भूगोल पर है और वे जानते हैं कि ब्रिटेन पूरे एशिया को अपने प्रभाव में रखना चाहता है, एक बड़े बाजार के रूप में उसका उपयोग करना चाहता है। 'उपनिवेशवाद के बारे में' पुस्तक में ही 'पूँजी' खण्ड अध्याय 31 का अंश 'औद्योगिक पूँजीपति की व्युत्पत्ति' शीर्षक से संकलित है। यहाँ भारत के सन्दर्भ में कहा गया है : "सभी जानते हैं कि अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ईस्ट इण्डिया में राजनीतिक शासन के अलावा चाय-व्यापार का विशेष एकाधिकार, आमतौर पर चीन के साथ सामान्य व्यापार का एकाधिकार तथा यूरोप से माल लाने और ले जाने का एकाधिकार प्राप्त किया। परन्तु भारत के तटवर्ती व्यापार-द्वीपों के बीच व्यापार तथा भारत के आन्तरिक व्यापार का एकाधिकार कम्पनी के उच्च कर्मचारियों के हाथ में था। नमक, अफीम, पान तथा अन्य माल के एकाधिकार सोने की खान थे। कर्मचारी स्वयं कीमतें निर्धारित करते थे और मनमाने ढंग से बेचारे हिन्दुओं (भारतवासी) को लुटते थे। इस निजी व्यापार में स्वयं गवर्नर जनरल भाग लेता था। उसके चहेतों को ऐसी शर्तों पर ठेके दिये जाते थे कि उनकी सहायता से वे शून्य में से सोना निकाल लेते। धूर्तता में कीमियागर भी आज मुकाबिला नहीं कर सकते।" <sup>25</sup> इस प्रकार मार्क्स भारत में अंग्रेजी राज का विश्लेषण पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के शोषण रूप में करते हैं और उनकी दृष्टि एशिया पर है। इसी पुस्तक में चीन, बर्मा, फारस, अफ़गानिस्तान आदि से संबंधित लेख भी संकलित हैं।

मार्क्स ने 'नोट्स ऑन इण्डियन हिस्ट्री' में भारत-संबंधी कुछ सूचनाएँ संकलित की हैं जिनका सम्बन्ध 664 से 1858 तक की घटनाओं से है। इसका रूसी संस्करण 1959 में प्रकाशित हुआ था—बाद में अंग्रेजी अनुवाद आया। मार्क्स ने अधिकांश



सामग्री अंग्रेजी इतिहासकारों से प्राप्त की थी और इसे सम्पादित-संशोधित करने का अवसर उन्हें नहीं मिल पाया। मार्क्स के नोट्स भारत में अरबों का पहला प्रवेश 664ई० हिजरी 44 उल्लेख आरम्भ में करते हैं। 632 में पैगम्बर मुहम्मद का निधन हुआ। ये नोट्स कई खंडों में हैं : भारत में मुसलिम विजय, मुगल साम्राज्य ( 1526-1671 ), ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा भारत में विजय और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अंत ( 1823-1858 )। मार्क्स भारत को आदिम जातिग्रस्त समाज के रूप में देखते हैं और सामन्ती समाज के रूप में उसका अध्ययन करते हैं। बाबर आक्रमण के समय की भारतीय राजनीतिक दशा का उल्लेख करते हुए मार्क्स बहमनी राज्य, बीजापुर-अहमदनगर, गोलकुण्डा-बरार-बीदर, गुजरात, मालवा, खानदेश तथा चित्तौड़, मारवाड़ा (जोधपुर) बीकानेर, जैसलमेर, जयपुर का नाम गिनाते हैं।<sup>126</sup> अर्थात् उस समय का विखंडित भारत-अनेक टुकड़ों में बटा हुआ। मार्क्स बताते हैं कि विदेशी भारत में व्यापारी होकर आए। औरंगजेब के समय में 1698 ई० कम्पनी को बंगाल में तीन गांव खरीदने की अनुमति मिली।<sup>127</sup> और धीरे-धीरे भारत ब्रिटिश साम्राज्य का भाग बन गया। शिवाजी के विषय में मार्क्स की टिप्पणियों को लेकर भारतीय विद्वान असंतुष्ट रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मार्क्स ने जिन सूत्रों से सामग्री प्राप्त की, उनमें उसी प्रकार की बातें कही गई हैं, इसीलिए यह भूल हुई। इस दृष्टि से 1857 के विषय में मार्क्स की सूचनाएं अधिक प्रामाणिक हैं।

मार्क्स ने भारत के विषय में अपनी टिप्पणियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में लिखी थीं और उन्हें दूसरों की सूचनाओं पर निर्भर रहना पड़ा था। पर मार्क्स की दृष्टि भारत के साथ, पूरे एशिया पर है और इसे वे यूरोपीय पूंजीवाद शक्ति को साम्राज्यवादी विस्तार के रूप में देखते हैं। कई स्थलों पर उनका विश्लेषण एक भविष्यवक्ता का है।

### संदर्भ

1. कार्ल मार्क्स : अ बायोग्राफी (सम्पादित), पृ० 227
2. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र
3. मार्क्स-एंगेल्स : संकलित रचनाएं, भाग 2, पृ० 12
4. कार्ल मार्क्स : अ बायोग्राफी ( सं० ), पृ० 302
5. मार्क्स-एंगेल्स : संकलित रचनाएं, भाग 1, पृ० 257
6. के दामोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा, भूमिका
7. मार्क्स-एंगेल्स : भारत का प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम, पृ० 11
8. मार्क्स-एंगेल्स : संकलित रचनाएं, भाग 1, पृ० 260
9. वही, पृ० 263
10. वही, पृ० 264



11. वही, पृ० 266
- 12-13. वही, पृ० 270
14. वही, पृ० 263
15. वही, पृ० 271
16. कार्ल मार्क्स : अ बायोग्राफी, पृ० 305
17. मार्क्स-एंगेल्स : भाग 2, पृ० 13
18. मार्क्स : नोट्स आन इण्डियन हिस्ट्री, पृ० 178
19. मार्क्स-एंगेल्स : भारत का प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम, पृ० 38
20. वही, पृ० 48
21. के. अन्तोनाया आदि (सं०) : हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड 2, पृ० 70
22. अ. ज. मानफ्रेड : संक्षिप्त विश्व इतिहास, पहला भाग, पृ० 512
23. लेनिन : पूर्व में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन, पृ० 92
24. मार्क्स-एंगेल्स : उपनिवेशवाद के बारे में, पृ० 208
25. मार्क्स-एंगेल्स : वही, पृ० 381  
मार्क्स : प्रोजी, खण्ड 1, पृ० 844
26. मार्क्स : नोट्स आन इण्डियन हिस्ट्री, पृ० 32-34
27. वही, पृ० 57



## समकालीन युग में मार्क्सवाद की उपादेयता, भारत के सम्बन्ध में

मुहम्मद एहसानुल्लाह

सौ वर्ष बाद भी जब हम मार्क्स की रचनाओं का मूल्यांकन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि समकालीन युग में निश्चय ही मार्क्स की पुनर्स्थापना हुई है। इस सम्बन्ध में यह एक स्वाभाविक प्रश्न है कि क्या मार्क्स की कृतियों या रचनाओं में समाजशास्त्री तत्त्व हैं? यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि क्या कोई ऐसा सिद्धान्त मौजूद है जो उस समाज को जिसमें हम रहते हैं, भली प्रकार समझने एवं परिवर्तित करने का स्रोत बन सकता है? मेरी मान्यता है कि मार्क्सवाद इन आवश्यकताओं को अधिक सीमा तक पूरा कर सकता है। परन्तु इसे प्रदर्शित करने की विधि क्या होगी इसका विवेचन प्रस्तुत करना मेरा उत्तरदायित्व है।

मैंने अपनी समस्या का निरूपण निम्नलिखित प्रश्नों के रूप में किया है:—

- ( 1 ) क्या मार्क्सवाद तथा समाजविज्ञान दो अलग-अलग विचार धाराएँ हैं?
- ( 2 ) क्या मार्क्स की रचनाओं में समाजशास्त्री तत्त्व हैं जो समाजविज्ञान के विकास में योगदान कर सकते हैं?
- ( 3 ) क्या मार्क्सवाद एवं समाजविज्ञान का अभिसरण (Convergence) सम्भव है? इन प्रश्नों को उठाने से मेरा उद्देश्य यह है कि मुझे एक ऐसा दृष्टिकोण हाथ लग जाय जहाँ से अपनी समस्या पर विवाद प्रारम्भ किया जा सके।

स्मार्ट ( Smart ) के विचारों का अनुसरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तीनों प्रश्नों से निम्न तीन प्रकार के दृष्टिकोण उभरते हैं:—

- ( 1 ) केन्द्रीकरण ( Polarization )
- ( 2 ) एकीकरण ( Integration )
- ( 3 ) अभिसरण ( Convergence )

उपर्युक्त प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार मार्क्सवाद एवं समाजविज्ञान दो अलग-अलग ध्रुवों पर स्थित विचारधाराएँ हैं। यह दृष्टिकोण मार्क्स के कृतियों की आलोचना में परिलिखित होता है जिसमें इसे अवैज्ञानिक तथा पक्षपात पूर्ण कहा जाता है। मार्क्सवाद के अन्तर्गत यह दृष्टिकोण समाज विज्ञान की आलोचना में देखा जाता है जिसमें समाज विज्ञान को बुजुर्ग आइडियालोजी कहा जाता है। यह दृष्टिकोण समकालीन रूसी समाज वैज्ञानिकों की रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है ( देखें ओसिपो : 1969 ) ओसिपो ( Osipov ) ने ऐतिहासिक भौतिकवाद, सामाजिक दर्शनशास्त्र तथा समाजविज्ञान के सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। सोवियत समाज विज्ञान की एक अनोखी विशेषता जो हमारे ध्यान को खींचती है वह है अधो-संरचना ( base ) तथा उपरि-



संरचना ( Super-Structure ) के सम्बन्ध को एक नये अन्दाज से प्रस्तुत करना । रूसी समाजवैज्ञानिक निरन्तर यह विवाद प्रस्तुत करते रहे हैं कि सामाजिक जीवन के कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जो उपर्युक्त दोनों में से किसी भी संरचना के अन्तर्गत समावेशित नहीं होते । अतः उन्हें वे ( extra-Superstructural ) कह कर सम्बोधित करते हैं । एफानासिव ( Afanasyev ) के अनुसार उन क्षेत्रों में गोत्र ( Clan ), कबीला ( tribe ) राष्ट्रीय समूह, परिवार, विवाह आदि सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं को सम्मिलित किया जा सकता है ( एफानासिव, 1971 : 26 ) .

द्वितीय दृष्टि कोण के अनुसार मार्क्सवाद को समाज विज्ञान की एक उप-व्यवस्था ( Sub-System ) के रूप में स्वीकार किया जाता है जिसके अन्तर्गत समस्यात्मक पहलुओं जैसे असमानता, औद्योगिक विघटन, सामाजिक संघर्ष एवं परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है और यही कारण है कि मार्क्सवाद को समाज विज्ञान के लिए उपयोगी माना जाता है । इस दृष्टिकोण का विस्तृत विवेचन हमारी समस्या का केन्द्र-बिन्दु है । इस दृष्टिकोण की स्पष्ट झलक हमें यूरोपीय समाज वैज्ञानिकों की कृतियों में दिखाई देती है जैसे मैक्स वेबर ( Max Weber ) से लेकर मेन्हीम ( Mannheim ) तथा एरोन ( Aron ) तक ।

मेरे विचार में समाजविज्ञान का उद्देश्य विचारों (ideas) एवं स्वार्थों (interests) के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध (dialectical relationship) का अध्ययन करना है और मार्क्स की कृति इसी अर्थ में 'समाजविज्ञान के लिए उपयोगी' कही जा सकती है । यही उद्देश्य मार्क्सवाद एवं आधुनिक समाजविज्ञान के बीच की निरन्तरता को बनाए रखने में उपयोगी सिद्ध होता है । परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि मार्क्स ने विशिष्ट समाजों जैसे जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि के सामाजिक संरचना के बारे में उल्लेख किया है । सौ वर्ष उपरान्त एशियाई समाज एक संक्रमण कालीन दौर ( transitional phase ) से गुजर रहे हैं । उनके अस्तित्व के ढंग ( mode of existence ) तथा चेतना ( consciousness ) भिन्न हैं ।

तृतीय दृष्टिकोण के अनुसार मार्क्सवाद एवं समाजवाद का अभिसरण असम्भव है । यह दृष्टिकोण यूरोपीय विचारों की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है । उदाहरण के लिए गोल्डमैन ( Goldman ) तथा लूकाज ( Lukacs ) । उनके विचार में समाजविज्ञान की प्रकृति मार्क्स विरोधी (anti-Marxist) है क्योंकि यह तथ्यों (facts) को मूल्य (value) से अलग करने का प्रयास करता है और अपने को (revolutionary praxis) से स्वतंत्र मानता है जबकि मार्क्सवाद का मूल तत्त्व (revolutionary praxis) है जो theory तथा practice की एकता पर आधारित है ।

लूकाज के दृष्टिकोण को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है,,

All systems of ideas have a class basis. Sociology has its basis in the class interests of the bourgeoisie and is



to that extent historical'. Marxism is rooted in the class interest of the proletariat and is not 'historical' but 'universal', since in the modern world only the proletariat constitute the true subject of history'.

इस सम्बंध में बेते ( Beteille ) का कहना है कि भारतीय समाज वैज्ञानिक को निश्चय ही यह प्रश्न उठाना चाहिए कि भारत में प्रोलितारीय का निर्माण कौन करता है अथवा ( true subject of history ) कौन है ? बेते का कहना है कि संगठित प्रोलितारिएट को (underprivileged humanity) के साथ समतुल्य करने का समीकरण जो यूरोपीय मार्क्सवादियों में दिखाई देता है, भारत के सन्दर्भ में गलत तथा भ्रमपूर्ण है। ( बेते 1979 : 100) बेते का यह अवलोकन भी उचित है कि भारत में अन्य देशों की भाँति ही मार्क्सवादियों एवं समाजवैज्ञानिकों के बीच एक पारस्परिक द्वन्द्व और संदेहास्पद स्थिति पाई जाती है। बेते का सुझाव है कि एक प्रभावपूर्ण विवाद के द्वारा अनेक आपत्तिजनक क्षेत्रों का परिसीमन करने तथा उनकी सही प्रकृति एवं स्रोत का पता लगाने में सहायता मिल सकती है। इस सम्बन्ध में उनका विचार है कि भारतीय ग्रामीण कृषि संरचना (Agrarian structure) से सम्बंधित किसी विवाद को अध्ययन के लिए चुना जा सकता है।

दार्शनिकों, जैसे सार्त्रे ( Sartre ) ने भी समाजविज्ञान की कटु आलोचना इस दृष्टिकोण से की है कि इसके पास सामान्य सिद्धान्तों का अभाव है। परन्तु मेरे विचार में केवल इतना कहना ही उचित होगा कि समाजविज्ञान में प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों की तरह के सिद्धान्तों का अभाव है यद्यपि अनेक सिद्धान्त समय-समय पर उदित होते रहते हैं। उदाहरण के लिए संक्रिया का सामान्य सिद्धान्त, संघर्षवादी सिद्धान्त, प्रतिकात्मक अन्तः क्रियावादी सिद्धान्त इत्यादि।

मार्क्स ने भी पश्चिमी यूरोपीय समाज में पूँजीवाद के विकास तथा पतन के सम्बंध में सिद्धान्त निरूपित किया। इस सिद्धान्त की अनेक भविष्यवाणियाँ थीं जो उसी रूप में सत्यापित नहीं हो सकीं जैसा कि मार्क्स ने प्रस्तुत किया था। केवल इस आधार पर हम मार्क्स के सिद्धान्त को अस्वीकार नहीं कर सकते।

जहाँ तक मेरे अवलोकन का प्रश्न है मार्क्स की रचनाओं में ऐसे दृष्टिकोण ( approaches ) मौजूद हैं जिनकी उपादेयता सामाजिक अध्ययन में निश्चित रूप से है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हम उसके दृष्टिकोण का उपयोग समाजों की संरचना, उनके आन्तरिक संघर्षों एवं परिवर्तनों का अध्ययन करने में भली भाँति कर सकते हैं।

सही मार्क्सवादी दृष्टिकोण क्या है ? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। क्योंकि मार्क्स द्वारा रचित अनेक अवतरण या ग्रंथांश ( text ) इस प्रकार के हैं जिनका सामान्य स्पष्टीकरण असम्भव सा है। मेरे विचार में मार्क्स द्वारा रचित सर्वाधिक स्पष्ट ग्रंथांश



वह है जो ( Contribution to the critique of Political Economy) के 'Preface' में मौजूद है जो इस प्रकार शुरू होता है।

In the social production of their life men enter into definite relations that are indispensable and independent of their will ... और इस प्रकार खत्म होता है 'The bourgeois relations of production are the last antagonistic form of the social process of production ...' ( मार्क्स, 1970 ).

इस ग्रंथांश की उपादेयता यह है कि मार्क्स ने स्वयं इसे एक approach स्वीकार किया है। इस ग्रंथांश में तीन प्रकार के कथनों का समावेश है। प्रथम वे कथन हैं जो समाज की संरचना और base तथा superstructure में इसका विभेदीकरण, से सम्बन्धित है। दूसरे प्रकार के कथन वे हैं जो अधोसंरचना ( base ) में निहित अन्तः संघर्षों से, जो स्वयं सामाजिक संघर्ष के रूप में प्रदर्शित होते हैं, सम्बन्धित हैं और तीसरे वे कथन हैं जो परिवर्तन के बारे में हैं और जो उन विशिष्ट सोपानों की ओर संकेत करते हैं जिनसे होकर समाजों का रूपांतरण एवं विकास होता है। ये सभी कथन एक संक्षिप्त और ठोस text के रूप में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और अत्यन्त प्रभावशाली है।

मेरे विचार में प्रथम कथन से मार्क्स का समाज शास्त्री उद्देश्य परिभाषित होता है और इस कथन को समाजशास्त्रीय विश्लेषण का आरम्भ बिन्दु स्वीकार करना चाहिए। भारतीय प्रसंग में भी यह उपयोगी है। यदि ध्यान दिया जाये तो ज्ञात होगा कि यह कथन दुर्खीम ( Durkheim ) के महत्त्वपूर्ण कथन की ओर संकेत करता है कि सामाजिक तथ्य ( social facts ) वस्तुएं ( things ) हैं और इस रूप में उनमें बाह्यता ( exteriority ) तथा अवरोध ( Constraint ) की विशेषताएं पायी जाती हैं ( दुर्खीम, 1938 : 8 ) प्रथम कथन के सम्बन्ध में मार्क्स के विचार की मौलिकता तथा इसकी भूमिका यह है कि उसने यह बताया कि स्वार्थ ( interest ) तथा संघर्ष ( conflict ) सामाजिक रूप से संरचित ( socially structured ) होते हैं।

वर्ग एवं वर्ग संघर्ष के अध्ययन की जड़ों को (sociology of interest) में तलाश करना चाहिए जिसकी बुनियाद मार्क्स ने डाली है। इस सम्बन्ध में उसका चिन्तन अद्वितीय है। मार्क्स के विचार में वर्गों के संघर्ष ही नहीं बल्कि स्वयं थम विभाजन ( division of labour ) की जड़ें भी स्वार्थों की संरचना में निहित देखी जा सकती हैं।

मार्क्स का कहना है कि ब्रादर्स एवं मूल्यों की सामान्यता और सार्वभौमिकता के रूप में प्रदर्शन ऐसे आवरण ( Cover ) हैं जो एक वर्गविशेष के हितों पर परदा डालने का कार्य करते हैं।

स्वार्थों ( interests ) के अध्ययन में व्यक्तिगत स्तर से हटकर उस महत्त्वपूर्ण चरण की ओर ध्यान देना चाहिए और ज्ञात करना चाहिए कि सामूहिक स्तर पर स्वार्थों



की संरचना कैसे होती है। मार्क्स के अनुसार स्वार्थों की भूमिका दोहरी होती है : वे व्यक्तियों को एक वर्ग में बांधने का कार्य करते हैं तथा एक वर्ग को दूसरे से अलग भी करते हैं यद्यपि यह विभाजन किसी (ideology) द्वारा धूमिल या अस्पष्ट ही क्यों न हो (मार्क्स, एंगेल्स: 1968 : 270)।

मार्क्स ने यह अवलोकित किया कि यद्यपि स्वार्थ सामाजिक रूप से संरचित होते हैं परन्तु उनके संरचनाओं की पहचान सरल नहीं है इस विचार से मार्क्स तथा मार्क्सवादियों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर पाया जाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) गति के किसी सामान्य दिशा को प्रकट करता है परन्तु वर्गों के संघर्ष और उनके संसक्ति या संयोग (Cohesion) का सम्बन्ध वास्तविक रूप से स्थित स्वार्थों से होता है जो प्रत्येक समाज के किसी निश्चित स्तर के विकास को प्रदर्शित करते हैं। विभिन्न वर्गों तथा स्तरों के बीच स्वार्थों की जटिल अन्तः क्रिया का अद्वितीय विश्लेषण हमें मार्क्स के (Eighteenth Brumaire) में दिखाई देता है।

भारतीय मार्क्सवादियों की यह सामान्य मान्यता है कि भारतीय समाज में स्वार्थों की एक निश्चित संरचना अवश्य पाई जाती है। इसके विपरीत मार्क्स ने फ्रांस तथा जर्मनी के समाज से सम्बन्धित अपने लेख में यह प्रदर्शित किया कि इन संरचनाओं की प्रकृति इतनी जटिल होती है कि पहले से उनके बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। हमारा अवलोकन इस बात का साक्षी है कि भारतीय समाज वैज्ञानिकों ने ग्रामीण समाज के अध्ययन में स्वार्थों की संरचना के अध्ययन पर बहुत कम ध्यान दिया है। इसके विपरीत उन्होंने मूल्य तथा आदशों को स्पष्ट रूप से प्रकट करने वाली संस्थाओं जैसे जाति, धर्म, नातेदारी व्यवस्था आदि के अध्ययन पर अधिक बल दिया है (डूमों, Dumont, 1966, बेली, 1959, 63)

भारतीय ग्रामीण समाज में भूमि पर स्वामित्व, नियंत्रण तथा इसका उपयोग स्वार्थों को जन्म देते हैं। इन स्वार्थों के संयोग और इनके परस्पर संघर्ष के अनेक रूप हो सकते हैं। इन स्वार्थों की अन्तः क्रियाओं का अवलोकन अन्तः वैयक्तिक सम्बन्धों के स्तर पर किया जा सकता है। जैसे जमींदार और आसामी (tenant) का सम्बन्ध, कृषक एवं मजदूर का सम्बन्ध आदि इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार के सम्बन्धों का अवलोकन हम दैनिक जीवन में करते रहते हैं। परन्तु समाज शास्त्री मार्क्स के आभारी इसलिए हैं कि उसने एक पद्धति को सुलभ कराया जिसका उपयोग भारत में इन स्वार्थों के क्रमवद्ध अध्ययन के लिए, उनके प्रतिमानों की पहचान करने के लिए और समूह तथा वर्गों से उनका सम्बन्ध जोड़ने के लिये बहुत कम किया गया है।

एक कृषक समाज (Peasant society) का क्या अर्थ है? एक कबीले (tribe) तथा कृषक समाज में क्या अन्तर है? Peasant को मजदूरों (Workers) से कैसे पहचाना जा सकता है? इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान बहुत सरल



नहीं है। मेरा विचार है कि इन समस्याओं का समाधान भी ( Sociology of interest ) के ढाँचे ( Frame work ) के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए।

इसका सोहरा भी मार्क्स ही के सिर पर है कि उसने समाज वैज्ञानिकों को मानव समाज में व्याप्त संघर्ष की प्रकृति से अवगत कराया। यही नहीं बल्कि उसने संघर्ष एवं द्वन्द्व से मुक्त समाजों की भी बात की है और इस वर्णन में ऐसा प्रतीत होता है कि वह आगामी आदर्श समाजों ( real societies ) की बात कर रहा है।

‘Preface’ के जिस महत्त्वपूर्ण पंक्ति का वर्णन पहले आ चुका है, वह इस कथन पर समाप्त होता है, : ‘The bourgeois relations of production are the last antagonistic form of social process of production-not in the sense of individual antagonism, but of one arising from the social condition of life of the individuals; at the same time the productive forces developing in the womb of bourgeois society create the material conditions for the solution of that antagonism. This social formation brings, therefore, the prehistory of human society to a close’ ( मार्क्स, एंगेल्स, 1951 : 329 )।

मार्क्स ने इस कथन को शाब्दिक अर्थ के रूप (literally) में ही स्वीकार करने का सुझाव दिया है परन्तु मेरे विचार में इस प्रकार का कथन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता। मेरा विचार है कि मार्क्स की मौलिकता उसके द्वारा अन्तः संघर्षों को समझने में है। वर्गविहीन समाज ( classless society ) की अवधारणा उसकी मौलिकता नहीं है।

वर्गाश्रित समाज एवं वर्ग विहीन समाज का भेद मार्क्सवादी विचारधारा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है और इस दृष्टिकोण से मार्क्सवाद आधुनिक समाज विज्ञान से भिन्न है। समाज वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार के समाजों का विस्तृत अध्ययन किया है जिनका क्रमबद्ध अध्ययन मार्क्स के समय में सम्भव नहीं था। इन अध्ययनों के आधार पर यह ज्ञात हुआ है कि असमानता एवं संघर्ष सभी मानव समाजों की अन्तर्गम्य विशेषताएँ हैं यहाँ तक कि आदिम समाज भी इनसे अछूते नहीं हैं।

मार्क्सवादियों के उपर्युक्त प्रभेद को वर्ग की एक उपयुक्त परिभाषा देकर तार्किक रूप से स्थापित किया जा सकता है जैसा कि एराँव का कहना है : ‘if you define classes with reference to private ownership of the means of production, nothing is easier than to make former vanish by hoping to suppress the latter [ Aron 1969 : 70 ]

रूस में स्टैलिन के समय से तथा पूर्वी-यूरोपीय समाजों में विद्वानों ने अपने समाज में वर्गों ( classess ) के स्थान पर स्तरों ( strata ) के प्रयोग की बात की



है। उनके विचार में वर्गों के बीच के सम्बंध सम्पत्ति पर आधारित होने के कारण (antagonistic) होते हैं जबकी स्तरों के बीच के सम्बंध श्रम विभाजन पर आधारित होने के कारण (non-antagonistic) होते हैं" (बेते, 1969:26, ओसोत्रोस्की, 1933 : 110—18, लैंग, 1962 : 1—15 )

यह दलील कि उत्पादन के साधनों के नियंत्रण की एक विशिष्ट वैधानिक स्वरूप को समाप्त कर देने से प्रतिद्वन्द्विता ( antagonism ) का लोप किया जा सकता है अधिक तथ्यगत प्रतीत नहीं होती। बेते (Beteille) ने मैनहीम ( Mannheim ) का अनुसरण करते हुए इस दलील की दुर्बलता का विस्तृत विवेचन किया है ( बेते, 1969:28; मैनहीम, 1968:97 )

यद्यपि सोवियत विद्वान यह दावा प्रस्तुत करते हैं कि उनके देश में वर्गों पर आधारित समाज का स्थान श्रम विभाजन पर आधारित समाज ने ले लिया है। परन्तु मार्क्स का विश्वास था कि बुजुर्ग समाज के पतन द्वारा केवल वर्गों का ही नहीं बल्कि श्रम विभाजन का भी लोप हो जायेगा। यहाँ हमारे सम्मुख एक विकट समस्या उत्पन्न हो जाती है।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मार्क्स के अनुसार असमानता, शोषण एवं संघर्ष का मूल स्रोत वर्गों की व्यवस्था में नहीं बल्कि श्रमविभाजन में है और अन्ततोगत्वा श्रम जैसी यथार्तता में निहित है ( मार्क्स, एंगेल्स, 1968:93-224 )।

भविष्य में एक ऐसे समाज की कल्पना की जा सकती है जिसमें वर्गों का अभाव होगा तथा श्रम विभाजन का भी और जिसमें श्रम का भी अस्तित्व नहीं रह जायेगा। परन्तु इस प्रकार की कल्पना को एक मजबूत सामाजशास्त्रीय तर्क के आधार पर ही सिद्ध या असिद्ध किया जा सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मार्क्स की रचनाएं एक ऐसे उपजाऊ भूमि के समान हैं जहाँ समाज विज्ञान के विकसित होने और पनपने के पर्याप्त अवसर सुलभ हैं। भारत के प्रसंग में भारतीय ग्रामीण समाज की गतिशीलताओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करने के लिए मार्क्सवादी ढांचे का उपयोग समाज वैज्ञानिकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। जैसा कि हमें ज्ञात है कि भूमि पर स्वामित्व, नियन्त्रण तथा इसका उपयोग स्वार्थों को जन्म देते हैं जिनके संयोग तथा विभाजन के अनेक तरीके होते हैं। स्वार्थों के इन अन्तः क्रियाओं को मार्क्सवादी पद्धति द्वारा भली प्रकार समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कृषक आदिम एवं मजदूर समाजों के जीवन की यथार्थताओं की खोज करने में भी इसका उपयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि सौ वर्ष बाद भी मार्क्स के रचनाओं की उपादेयता मौजूद है।

## REFERENCES

1. Afanasyev. V.G. 1971 *The Scientific Management of Society* Moscow Progress Publishers.



2. Aron, R. 1969 'Two Definitions of class' in A Beteille (ed.), *Social Inequality*, Penguin.
3. Bailey, F.G. 1959-'For a Sociology of India', *Contributions to Indian Sociology*, vol, III.
4. 1963 'Closed Social Stratification in India', *European journal of Sociology*, vol. IV.
5. Beteille, A. 1969 'The Politics of "Non Antagonistic" Strata', *Contributions to Indian Sociology*, New Series, No. III.
6. 1974 'Ideas and Interests' in *Studies in Agrarian Social Structure*, Delhi : Oxford University Press,
7. 1979 *Six Essays in Comparative Sociology*. Delhi: Oxford.
8. Dumout, L. 1966 *Homo Hierarchicus*, Paris.
9. Durkheim, E. 1938 *The Rules of Sociological Method*, London. The Free Press.
10. Lange, O. (ed) 1962 'Political Economy of Socialism', in O. Lange (ed.), *Problems of Political Economy of Socialism*, Delhi.
11. Leach, E. R. 1954 *Political Systems of Highland Burma*, London G. Bell and sons.
12. Mannheim, K. 1960 *Ideology and Utopia*, London ; Routledge & Kegan Paul.
13. Marx, K. & F. Engels 1969 *The German Ideology*. Moscow : Progress Publishers.  
1951 *Selected Works*. Foreign Languages Pub. House, vol. I.
14. Mark, K. 1970 *A Contribution to the Critique of Political Economy* ; Moscow : Progress Publishers.
15. Osipov, G. 1969 *Sociology*. Moscow : Progress Publishers.
16. Ossowski. S. 1963 *Class Structure in the Social Consciousness*, London.
17. Smart, B. 1976 *Sociology, Phenomenology and Marxian Analysis* London : Routledge and Kegan Paul.



## भारत के समसामयिक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के संदर्भ में

### मार्क्स की प्रासंगिकता

#### गौरी शंकर

13 मार्च 1983 को मार्क्स की मृत्यु हुए सौ वर्ष पूरे हो गये। इस वर्ष उनका पुण्य शताब्दी वर्ष मनाया जा रहा है। आज के विश्व में सर्वाधिक पढ़ा जाने वाला दर्शन मार्क्सवाद, गरीबों के क्रांति का प्रतीक बन चुका है। विश्व में व्याप्त अन्याय और शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए मार्क्स ने संघर्ष का रास्ता बताया और सर्वहारा को संगठित कर क्रांति का दर्शन दिया। इसके लिए सर्वहारा की क्रांति और उनकी तानाशाही की अनिवार्य शर्तें रखा। साथ ही औद्योगिक और संगठित नगरीय श्रमिकों की भूमिका को महत्त्वपूर्ण बतलाया। लेकिन इसे स्थान एवं काल सापेक्ष कहा और हुआ भी ऐसा ही। रूस में जहाँ क्रान्तिकारी बौद्धिकों की मुक्ति के लिए मुख्य भूमिका रही, वे सर्वहारा वर्ग के नहीं थे। लेकिन सर्वहारा वर्ग की अटूट निष्ठा, प्रतिबद्धता एवं पूर्ण समर्पण के बल पर ही सर्वहारा क्रांति सफल हुई। इस क्रांति पथ से भिन्न चीन में एक दूसरा प्रयोग सफल हुआ। चार पक्षों का एक संयुक्त मोर्चा बनाकर और किसानों को संगठित कर वहाँ जनवादी क्रांति हुई। वियतनाम के राष्ट्रीय मोर्चे में अहिंसा के पुजारी बौद्ध भी सम्मिलित रहे। परिणाम यह हुआ कि वियतनाम में न केवल अमेरिका और उनके मित्र राष्ट्रों को भारी पराजय का मुँह देखना पड़ा और वहाँ से भागना पड़ा बल्कि इस युद्ध के विरोध में अमेरिका के शांतिप्रिय लोगों ने भारी विरोध और प्रदर्शन भी किया। यूगोस्लाविया और क्यूबा में इन तीन देशों से भिन्न मुक्ति का मार्ग रहा और चैम्बारा क्रांति दर्शन का मसीहा बना। इस समय तक सर्वहारा विचार विश्व में मुक्ति का प्रतीक बन चुका था, लेकिन रूस और चीन के बढ़ते मतभेदों ने विश्व के साम्यवादी आन्दोलन में बड़ी तेजी से बिखराव लाया। चीन ने अमेरिका को अपना मित्र घोषित कर दिया। इसका व्यापक प्रभाव उन देशों पर पड़ा जहाँ क्रांति नहीं हुई थी साम्यवादी दल दो भागों में विभक्त हो गया। इस मतभेद को कुछ लोग साम्यवादी रणनीति का ही एक अंग मानते हैं, लेकिन वास्तविकता इससे भिन्न है।

विश्व के साम्यवादी संघर्ष का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। सन् 1946 में आजादी के समय भारत में भी साम्यवादी दल ने तेलंगाना में चार वर्षों तक लगातार सशस्त्र संघर्ष कर मुक्ति का प्रयास किया। हथियार बन्द छापामार की इस रणनीति ने कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर मतभेद कायम किया। वाद में चलकर साम्यवादी दल को इस रणनीति में परिवर्तन कर, चुनाव द्वारा सत्ता पर कब्जा करने का दर्शन अपनाना पड़ा। इसी दौरान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस और चीन का जो मतभेद खुल कर सामने आया



उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा और यहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी ने दो दलों में विभक्त हो गई। लेकिन बाद में चल कर इस विचारधारा में कुछ लोग पुनर्विचार कर अति-क्रांतिकारिता का जुझारू मार्ग पुनः अपना लिया और नक्सलवाड़ी तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में सशस्त्र लड़ाई छेड़ दी। यद्यपि थोड़े दिनों तक इस उग्रवादिता का बहुत व्यापक प्रभाव रहा, लेकिन जन समर्थन न मिलने के कारण हितवर्ग ही एक दूसरे का दुश्मन हो गया और अपने अन्तर्विरोधों से कुछ वर्षों में यह संघर्ष तिरोहित हो गया। नक्सलवाड़ी क्षेत्र में किसानों के हथियार बन्द लड़ाई की विफलता के बाद पुनः साम्यवादी क्रांतिकारिता को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ और इस रणनीति में संशोधन को लेकर न केवल व्यापक विचार-विमर्श चला बल्कि नीतियों को लेकर इतनी कटुता पैदा हुई कि इसमें भी व्यक्तिवादी प्रवृत्ति व्यापक रूप से पनपी और उसका परिणाम यह रहा कि आपातकाल में इस प्रकार की समान विचारधारा के 29 दलों का अस्तित्व सामने आया। एक समय तो ऐसा आया कि ये एक दूसरे को ही अपना वर्गशत्रु मानने लगे और एक दूसरे के अस्तित्व समाप्त करने में ही लग गये। यद्यपि देश में साम्यवादी आन्दोलन की तीन मुख्य धाराएँ रही हैं, लेकिन अति क्रांतिकारी धारा के अनेक ग्रुप अपने-अपने क्षेत्रों में अपने-अपने ढंग से प्रयोग करने लगे। अति क्रांतिकारिता और व्यक्तिवादी चरित्र के कारण जन-सहयोग न मिलने और लड़ाकू तत्वों को मारे जाने अथवा जेलों में बन्द हो जाने से इसकी समा बुझने लगी और इसका प्रभाव भी सीमित हो गया। लेकिन इस आन्दोलन का प्रभाव आज भी देश के कुछ हिस्सों में छिटपुट रूप में दिखाई पड़ता है और कुल मिलाकर इस प्रकार के सशस्त्र मुक्ति आन्दोलन में भारी विखराव आया और इसका व्यक्तिवादी स्वरूप होने के कारण ये अनेक टुकड़ों में बँटें हैं। सशस्त्र क्रान्ति एवं वर्ग शत्रु के सफाया को लेकर आपस में व्यापक मतान्तर हैं और आज भी इसे लेकर एकजुट होने का व्यापक विचार मंथन एवं प्रयास चल रहा है।

एक तरफ जब उग्रवादिता अपनी चरम सीमा पर थी तब देश के तीन प्रदेशों में मतपत्रों द्वारा साम्यवादी सरकारें अस्तित्व में आयीं। इस प्रकार के प्रयोग न केवल भारत में सफल हुए बल्कि विश्व के अन्य देशों में भी मतपत्रों द्वारा साम्यवादी सरकारें बनीं। लेकिन इन देशों में संगठन प्रभावी न होने से इन सरकारों का अवसान भी थोड़े समय में बर्बर हिंसा के बल पर हो गया। खास कर चीली में जो हिंसा चली उसकी लपट आज भी प्रज्वलित है। पश्चिमी योरोप के कुछ देशों में योरो कम्युनिज्म नाम की एक नयी धारा चली। लेकिन इसका भी प्रभाव थोड़े समय के लिए रहा। समय के साथ सर्वहारा की जगह सैनिक तानाशाही जन के ऊपर आरोपित की गई। साम्यवादी जगत जो पहले से ही बँटा था, वह इस प्रश्नों पर खुलेआम बँट गया।

इस सशस्त्र संघर्ष द्वारा समाज परिवर्तन की धारा के साथ करुणा द्वारा हृदय परिवर्तन का भी एक बृहद अभियान में देश चला। लाखों एकड़ भूमि माँगने पर मिली और देश में हुए सारे भूमि सुधारों से अधिक भूमि इस आन्दोलन में भूमिहीनों में वितरित की गई। लेकिन जो ग्रामराज की कल्पना थी और जो वर्गविहीन, शोषण विहीन



अहिंसक उत्पादकों का आत्म-निर्भर समाज बनाने की बात थी वह जहाँ की तहाँ रह गई। यद्यपि यह प्रयास सराहनीय रहा, लेकिन इसकी चरम परिणति नहीं हो पाई। इसी प्रकार विपक्ष की भूमिका भी न्याय दिलाने और समस्याओं का समाधान निकालने में सहायक न बन सकी। यद्यपि बन्द के आयोजन बहुत चले, घेराव की रणनीति भी चलाई गई, लेकिन यह सब भी समय के साथ अतीत का इतिहास बन कर रह गया। समस्याएँ दिन-प्रतिदिन गंभीरतर और गहरी होती गईं। लेकिन उससे उबरने के प्रयास शिथिल होते गये।

देश में बढ़ती हुई महंगाई और गिरते हुए जीवन स्तर से त्राण दिलाने में श्रमिक आंदोलन का एक लम्बा और जीवन्त इतिहास है और श्रमिकों को संगठित करने और उनके हितों की रक्षा में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन जब से एक ही प्रतिष्ठान में एक से अधिक श्रमिक संघ बनने की प्रथा चल पड़ी तब से श्रमिक आंदोलन कमजोर हुआ है और इन श्रमिक संघों की स्थिति तब और भी कमजोर हो गई जब एक ही कारखाने में एक पक्ष का संगठन आंदोलन पर जाता है तो दूसरा पक्ष काम पर। इन अन्तर्विरोधियों ने न केवल श्रमिक आंदोलन को कमजोर बनाया बल्कि आपस के संघर्ष को और तीव्र बनाने में मददगार साबित हुआ। यद्यपि अपनी मांगों को मनवाने में इन श्रमिक संघों की भूमिका मुख्य रही और किसी जमाने में हड़ताल एवं बंद का व्यापक प्रभाव भी रहा। लेकिन एक समय के बाद इस तरह के आयोजनों की पकड़ ढीली पड़ने लगी और या तो वे दवा दिये गये या स्वयं अपने अन्तर्विरोधों से टूट गये। इन श्रमिक संगठनों के अतिरिक्त अन्य वर्गीय संगठनों की देश में बाढ़ आ गई। सुविधाहीन से लेकर सुविधावान सभी वर्गों की संगठित शक्ति बनी और वे अपने हितों की लड़ाई लड़े। लेकिन ये सभी श्रमिक संघ और अन्य वर्गीय संगठन अपने हित वर्ग तक सीमित रहे और इनमें भी जो आर्थिक दृष्टि से सबल और सर्वसुविधा सम्पन्न रहा वह इस लड़ाई में और मजबूत हुआ और उसकी मांगे और प्रभावी ढंग से मानी गयीं। लेकिन देश में घोर गरीबी में जीने वाले, सुविधाविहीन, असंगठित खेतिहर मजदूरों का जो बड़ा वर्ग है, वह इनकी पकड़ में न आ सका। इनको संगठित करने, संघर्ष में न्याय दिलाने और शोषण एवं गरीबी से मुक्त करने में इन संघों की भूमिका नगण्य रही। हित वर्गों तक सीमित होने से समाज परिवर्तन की दिशा में इनकी भूमिका और दृष्टि सीमित रही। संगठित शक्ति द्वारा असंगठित को संगठित कर क्रांतिपथ की ओर उन्मुख करने का स्वप्न, संकल्प के अभाव में दिशाहीन हो गया और अपनी मांग और सुविधा को बढ़ाने तक सीमित रह गया।

गांधीजी के नेतृत्व में न केवल भारत में आजादी की लड़ाई में एक नया प्रयोग चला बल्कि अनेक गुलाम एशियायी एवं अफ्रीकी देश जो भारत के बाद आजाद हुए गांधी विचार दर्शन की भूमिका उनकी मुक्ति में महत्वपूर्ण रही। लेकिन आजादी के बाद जो विकास का पथ चुना गया उससे देश उनके पथ से विमुख हो गया। आधुनिकीकरण



का जो नया ढांचा अपनाया गया उसमें सोचा यह गया था कि निःशरण द्वारा विकास का लाभ नीचे तक जायेगा और देश की मुख्य समस्या गरीबी, बेरोजगारी, अभाव, भुखमरी, विषमता दूर होगी, गांव आत्मनिर्भर होंगे और शहरों के शोषण से मुक्त होंगे। लेकिन हुआ ठीक इसका उल्टा ही। अंग्रेजों ने शोषण पर आधारित जो आर्थिक ढांचा खड़ा किया था और देश के आजाद होने के बाद जो आर्थिक ढांचा मिला, वह इन 36 वर्षों में और सुदृढ़ तथा मजबूत हुआ है। अंग्रेज जो कार्य सेना और शक्ति द्वारा नहीं कर सके, इससे बड़ा कार्य समझौतों द्वारा सम्पन्न हुआ। इन वर्षों में अनेक राष्ट्रों की देश में अरबों रुपये की पूँजी लगी है और तमाम वित्तीय संस्थानों एवं बहुराष्ट्रीय निगमों के जाल में देश फँसता गया। परिणामतः व्याज, रायल्टी, लाभांश, वेतन, आदि आदि के रूप में भारी धन बाहर जाने लगा है। सन् 1981-82, 82-83 और 83-84 के वार्षिक बजट का क्रमशः 13, 14 और 13 प्रतिशत धन ऋणों का व्याज देने में ही चला गया। देश विदेशी पूँजी आयातित, आरोपित प्रौद्योगिकी एवं विशेषज्ञों के जाल में फँस गया है। प्रशिक्षित डाक्टर और इंजीनियर और यहां तक कि कुशल एवं अकुशल श्रमिक भी रोजगार की तलाश में विदेशों में भाग रहे हैं। प्रतिभा पलायन की यह स्थिति देश के समक्ष चुनौती बन गयी है। औद्योगिक उत्पादन अंग्रेजों के जाने के बाद जो 4 महानगरों में केन्द्रित था वह देशीय एवं विदेशी पूँजी के सहयोग से बारह महानगरों और अनेक नये नगरों तक फैल गया है। देश में जो बीस बड़े औद्योगिक एवं व्यावसायिक घराने थे वह बढ़ कर सैकड़ों हो गये हैं और देश में इनका प्रभुत्व कायम हो गया है। राजनीति इनकी चेरी बन गयी है और इन बारह महानगरों एवं नये नगरों में फैले बड़े औद्योगिक एवं व्यापारिक घरानों का पूरा देश उपनिवेश बन गया है। अंग्रेजों के जाने के बाद देश गुलामी से मुक्त हुआ था, लेकिन नव उपनिवेशवाद की जड़ उससे भी सशक्त और गहरी हो गयी है और देश एक नयी गुलामी, शोषण और संस्कृति का शिकार हो गया है।

विकास और मानवीय सुविधाओं का जो ढांचा खड़ा किया गया, गांव उसमें और पिछड़ गया। देश में कुछ अगड़े और अधिकांश पिछड़े इलाके बन गये। अगड़े और पिछड़े इलाके की संस्कृतियाँ न केवल अलग-अलग झलकने लगी हैं बल्कि पिछड़े की कीमत पर एक नये वैभवशाली पश्चिमीकृत समाज बन गया है। एक ही देश और एक ही नगर में अलग-अलग सभ्यताओं का सृजन हुआ है। इस आरोपित नयी संस्कृति और विकास की इस नीति ने गरीबी और विषमता को और गहरा और व्यापक बनाया है। देश में वर्तमान ढांचे के तहत जो विकास कार्यक्रम चलाया गया, एक तो गांधी के सोच को छोड़कर अंग्रेजों द्वारा प्राप्त ढांचे को ही और सुदृढ़ किया गया फिर भी उसमें सर्व व्यापकता और न्याय संगत वितरण के अभाव में विषमता, पिछड़ेपन, बेरोजगारी और गरीबी का क्रमशः विस्तार हुआ है। कृषि में नयी प्रौद्योगिकी के आ जाने, मूल्य नीति औद्योगिक घरानों और शहरी उपभोक्ताओं के पक्ष में होने और औद्योगिक उत्पादों के दाम तेजी से बढ़ने के कारण गांव व शहरी विषमता की खाई और चौड़ी होती गयी।



गांव के परम्परागत उद्योग टूटते गये, बेरोजगारी बढ़ती गयी और विकास की इस नीति एवं ढांचे से गांव से धन एवं जन बड़ी तेजी से शहर की तरफ भागने के लिए विवश हुआ है। इस प्रक्रिया के चलते गांव तेजी से सूखता जा रहा है। शहर समृद्धि के शिखर पर पहुंच रहा है। गांव से आये हुए जन नगरों में भी मलिन बस्तियों में रहने और गंदा जीवन जीने के लिए विवश हैं यहाँ भी उनका शोषण होता है और उन्हें अपनी कमाई का पूरा पारिश्रमिक नहीं मिलता है। इसलिए वे मलिन बस्तियों में नारकीय जीवन जीने के लिए विवश हैं। मद्रास जैसे बड़े शहर में होटलों के जूठे पत्तलों से इकट्ठा किए गए जूठन पर भी जीने वालों को देखा जा सकता है। नगर की इस नयी संस्कृतियों का अंतर बेजोड़ और समुद्र जैसा गहरा है। इस दर्दनाक परिस्थितियों से उबरने के लिए अभी न तो उनमें चैतन्यता जागी है और न जगाने का प्रयास हुआ है।

यद्यपि इन परिस्थितियों से मुक्त होने के लिए देश में अनेक प्रयास हुए और कई कार्यक्रम चलाये गये लेकिन उसमें रुचि एवं प्रतिबद्धता के अभाव और व्यापक भ्रष्टाचार ने उन कार्यक्रमों का उपहास बना दिया और विफलता ही हाथ लगी। गरीबी उन्मूलन के बजाय, गरीबी हटाने का जो कार्यक्रम चला, वह गरीबी बढ़ाने में और मददगार हुआ। इस प्रकार की स्थिति से उबरने के लिए चलाये गये आन्दोलनों और संविद सरकारों का प्रभाव भी सीमित रहा। लेकिन विद्यार्थियों में बढ़ते हुए असन्तोष, कुशिक्षा, मँहगाई और बढ़ती हुई साक्षर लोगों की बेरोजगारी जैसे व्यापक असन्तोष ने छात्र आंदोलन का भीषण और व्यापक रूप ले लिया। छात्रों के इस आंदोलन से बाद में जाकर सत्ता का परिवर्तन हुआ। इस सत्ता परिवर्तन से मतदाताओं में अपनी गत की महत्ता की पहचान बनी और उनमें नया जोश और नयी चेतना परिलक्षित हुई। लेकिन देश और समाज के प्रति समर्पित भावना की कमी से सत्ता स्वयं अपने अन्त-विरोधों से ध्वस्त हो गयी और जनता में जो प्रतिकार की शक्ति जगी थी वह कुंठित हो गई। सारा वातावरण निराशामय हो गया। इसके परिणामस्वरूप देश में अब मानवीय मूल्यों में भारी गिरावट हुई है। मूल्यहीनता न केवल मूल्य बन गये हैं बल्कि मूल्यों को ही मूल्यहीन साबित करने का क्रुत्सित प्रयास व्यापक बन गया है और आज राष्ट्रीयकरण, समाजवाद, लोकतन्त्र अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता आदि शब्द अपना निजत्व और मूल्य खो बैठे हैं। मूल्यहीनता का यह संकट पूरे समाज में व्याप्त है और दिन प्रतिदिन यह संकट और घनीभूत हो रहा है। कुछ अपवादों को छोड़कर राजनीति व्यक्तिवादी, सत्ता लोलुप और स्वार्थोन्मुख हो गयी है और काले धन के प्रभाव में आकर काला धन पैदा करने लगी है। आज देश में मूल्यहीनता का जो संकट व्याप्त है उससे सारा जीवन प्रभावी है और राजनीति भी उससे प्रभावित है। वह सिद्धान्तहीन सत्ता की राजनीति है। दलीय सत्ता लोकतांत्रिक न होकर अधिनायकवादी और व्यक्तिवादी हो गयी है। राजनीति में व्याप्त समस्याओं से जूझने वालों का स्थान गौड़ और खुशामदी मनोवृत्ति का महत्त्व स्थापित हो गया है। उनको न तो समस्या से सरोकार है और न पीड़ित जन से। उन्हें तो उनके मत को पाकर किसी न किसी तरह से सत्ता में आकर



अपनी महत्वाकांक्षा को पूरा करने से मतलब है। राजनीति में प्रदूषण व्याप्त है। देश और राजीति गौण बन गया है। आम जन राजनीतिक गतिविधियों से अलग-अलग उदासीन हो गया है छात्र भी समय-समय पर हुए राजनीतिक दूटन का शिकार हो गया है और व्यक्ति के हिसाब से उस राजनीतिक परिवर्तन के आधार पर उनमें अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए छोटे-छोटे गुट बन गये हैं। समग्र समाज और परिवर्तन की सोच की राह पर उनमें भी तात्कालिक लाभ की लालसा सब कुछ हो गयी है और वे भी राजनीतिज्ञों के पीछे-पीछे भागने के शिकार हो गये हैं। दिल्ली में राजनीतिक दलगत परिवर्तन का अभाव विश्वविद्यालय में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। दूसरे इस सिद्धांतहीन राजसत्ता परिवर्तन से भी कोई परिवर्तन होने की सम्भावना परिलक्षित नहीं होती है। मूल्यहीनता की स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि पैसा, पहुँच और पिस्टल ही आज प्रायः निर्णायक तत्त्व बन गया है। ऐसी मूल्यहीनता की वर्तमान स्थिति में जब गरीबी, बेरोजगारी, विषमता, सँहगाई, भ्रष्टाचार आदि ने जड़ जमा लिया हो तब मार्क्स एवं गाँधी के विचारों के समक्ष एक चुनौती भरा प्रश्न है।

इस बढ़ती हुई विसंगतियों के साथ-साथ देश में आशा की किरण भी प्रज्वलित है। असम में इतनी लम्बी अवधि से चलनेवाला शांतिपूर्ण आंदोलन अपनी प्रतिबद्धता, बलिदान और त्याग का बेनजीर मिशाल साबित हो रहा है। अतिसक्रिय और सतत चलने वाला यह आंदोलन स्वतंत्रता संग्राम के गाँधीवादी शांतिपूर्ण सत्याग्रह आंदोलन का प्रतीक बन चुका है। इसने आरोपित मतदान और सरकार को निष्पक्ष और प्रभावहीन कर लोकतंत्र के खोखलेपन को उजागर कर गाँधी विचार के अनुसार परिवर्तन के लिए एक आशा की भूमिका तैयार किया है। इस प्रकार के शान्तिपूर्ण आंदोलन देश के अन्य भागों में भी चल रहे हैं और ईंट भट्ठा श्रमिकों के शोषण मुक्ति का जो अभियान चलाया जा रहा है अगर इस प्रकार के त्याग और समर्पण की भावना से अपनी मांगों को प्रभावी ढंग से रखा जाय और सम्पूर्ण परिवर्तन के लिए क्रांति के मार्ग में जुट जाय तो अहिंसक मार्ग से भी रास्ता निकलने की संभावना प्रकट हो सकती है।

मध्य प्रदेश में एक छोटा सा प्रयोग जो जन जातियों को संगठित कर, चेतना जगाने, निरक्षरता एवं शराब की लत दूर करने और शोषण से मुक्ति दिलाने का चल रहा है, यद्यपि ये सारे रचनात्मक कार्य गाँधी दर्शन में आते हैं, लेकिन यह उनमें मार्क्सवादी विचारधारा के तहूब किया जा रहा है। लेकिन यह प्रयोग इतना प्रभावी रहा कि राष्ट्रीय सुरक्षा कानून की गिरफ्तारी को भी जनशक्ति के प्रबल विरोध से न केवल वापस कराने में सफल रहा है, बल्कि जन नेतृत्व की एक वृहद भूमिका तैयार किया है।

मार्क्स के दर्शन के अनुसार धन और धरती का निजी स्वामित्व शोषण, विषमता और लूट की जड़ है। सर्वप्रथम रूसी क्रांति के बाद निजी स्वामित्व को समाप्त कर सामाजिक स्वामित्व एवं राजकीय स्वामित्व की स्थापना के तत्काल वाद की गई और उत्पादन की प्रेरणा व्यक्तिगत लाभ न होकर सामाजिक लाभ के सर्वोच्च मूल्य को स्थापित करने का एक बारगी प्रयोग किया गया। यद्यपि रूस में कृषि को छोड़कर जीवन के अन्य



क्षेत्रों में भारी सफलता और उपलब्धि हुई है और अमेरिका के समानान्तर रूस का भी विकास हुआ है लेकिन कृषि में आत्मनिर्भरता नहीं हो पाई। रूस को खाद्यान्नों के लिए अमेरिकी बाजारों पर बराबर निर्भर रहना पड़ा है। यद्यपि प्रकृति की प्रतिकूलता भी आत्मनिर्भरता में बड़ी बाधा है फिर भी जो रूस में घरेलू वागवानी की उत्पादकता है उससे यह तो प्रकट होता ही है कि व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा वहाँ मरी नहीं है और सामाजिक हित की प्रेरणा अभी पूर्णता पर नहीं पहुँची है। यह स्थिति चीन में और साफ हो जाती है। प्रारम्भ में चीन में मजदूरों को खेती में भागीदार बनाया गया और बाद में खेती का सामूहिककरण किया गया। प्रारम्भ में 'जितना काम उतना दाम' के सिद्धांत से उत्पादन को वितरित करने का नियम बना। इससे उत्पादन में भारी वृद्धि हुई, लेकिन बाद में चलकर 'जितनी शक्ति उतना काम' और 'जितनी जरूरत उतना दाम' के सर्वोच्च मानवीय मूल्य के अनुसार परिवारों में उत्पादनों के वितरण का आधार बनाया गया। उसका परिणाम यह हुआ कि लगभग अस्सी प्रतिशत वितरण अनुत्पादकों के हाथ में चला गया। और इसके परिणामस्वरूप उत्पादन गिर गया। तब खेती के साथ अन्य आवश्यक वस्तुओं को भी कम्प्यून में उत्पादित किया जाने लगा और एक तरह से कम्प्यून एवं ग्रामीण समाज को आत्म-निर्भर बनाने का प्रयास चला। इस प्रयोग के अन्तर्गत कृषि उत्पाद का वितरण आवश्यकतानुसार और अन्य कार्यों का प्रतिफल उनके कार्यों के अनुसार देने का नियम बनाया गया। फिर भी कृषि में उत्पादकता अपेक्षाकृत कम हो गई और सामूहिक हित की प्रेरणा, व्यक्तिगत लाभ की भावना को समाप्त न कर सकी। अब चीन में व्यक्तिगत खेती के लिए तीन कामगारों के बीच ढाई एकड़ जमीन देकर निजी खेती का प्रयोग प्रारम्भ किया गया है और कुल उत्पाद का एक अंश व्यक्तिगत लाभ में बेचने की छूट प्रदान कर व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से उत्पादकता को बढ़ाने का यह एक नया प्रयोग किया गया है। चीन में खेती के इस प्रयोग से दो बातें आयी हैं। भूमि की निजी मालकियत समाप्त कर जहाँ भूमि के निजी स्वामित्व से होने वाले शोषण को समाप्त किया गया वहीं देश में बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से उत्पादकता को बढ़ाने का यह एक नया प्रयोग चलाया गया है।

यद्यपि भारत में भी कानून द्वारा भूमि वितरित करने का अभियान और प्रयोग चला, लेकिन अभी तक वह सफलता की मंजिल तक नहीं पहुँच पाया। कानून के अतिरिक्त भूदान द्वारा भी इस समस्या का समाधान निकालने का आंदोलन चला और यह कहा गया कि सब भूमि गोपाल की, अर्थात् मालकी समाज की और खेती निज की। लेकिन यह आंदोलन भी अपनी अस्मिता नहीं बना पाया और काल कवलित हो गया। आज पूरा देश मुट्ठी भर उद्योगपतियों और व्यापारियों का नव उपनिवेश और बाजार बन कर रह गया है। इस नव उपनिवेश की जाल को किस प्रकार काटा जाय और गांवों से इनको मुक्त कर किस प्रकार आत्म निर्भर और शोषणविहीन गांव की रचना की जाय, यह मुख्य चुनौती भरा प्रश्न है।



उक्त सारे तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आजादी के बाद न तो गांधीवादी और न अति क्रांतिकारी मार्क्सवादी आंदोलन समाजवादी आंदोलन बन सका। गांधीवादी कृष्णा द्वारा हृदय परिवर्तन का प्रयोग व्यक्तिवादी होने और पीड़ित जन की भूमिका नगण्य होने के कारण विनोबा के बाद शिथिल हो गया और दिशा निर्देशन न कर इसी प्रकार जे०पी० द्वारा चलाया गया सम्पूर्ण क्रांति का जनआंदोलन भी व्यक्तिवादी भूमिका प्रमुख होने और उनके भी पीड़ित जन को संगठित न करने के कारण उनके बाद प्रयास के बाद भी गति नहीं पकड़ रहा है। लेकिन जन आधारित सत्याग्रह का सर्वाधिक संजीव संघर्ष असम में भी साढ़े तीन वर्षों के बाद भी अपनी न केवल पकड़ और पहुँच बनाये हुए हैं और आज भी परिवर्तन के लिए संघर्षरत है और अध्ययन का विषय बना हुआ है। इसी प्रकार मध्य प्रदेश में जन जातियों के बीच में चलने वाला मार्क्सवादी संघर्ष गांधी के रचनात्मक प्रवृत्ति और मार्क्स के संघर्षात्मक स्वरूप का प्रतीक बन चुका है। यह भी अध्ययन का विषय है। इस प्रकार के जो अनेक संघर्ष देश में चल रहे हैं उन संघर्षों को किस प्रकार सम्पूर्ण परिवर्तन का आधार बनाया जाय यह दोनों विचार-धाराओं के सामंजस्य और व्यापक मोर्चे का प्रश्न है। उनमें मार्क्स की प्रासंगिकता भी महत्वपूर्ण है। चीन की जो स्थिति और समस्या है और जिस दिशा में उनके निदान की प्रक्रियाएँ चली हैं उससे भारत की समस्या और तमाम पूर्वी एशियायी देशों की समस्याएँ मिलती जुलती हैं और उनका निदान भी स्वदेशी और आत्मनिर्भरता के सिद्धांत का व्यापक विस्तार जो तीव्र गति से हो रहा है पर निकाला जा सकता है। आज की जो वर्तमान अर्थ व्यवस्था है और जो उसमें अति भोगवादी संस्कृति एवं प्राकृतिक सम्पदाओं की लूट है उनमें विषमता, शोषण और भ्रष्टाचार व्याप्त है उसे समाप्त कर, गांधी के दर्शन और माओ की रचना के अनुसार गाँव को विकास की प्राथमिक इकाई मान कर विकास का स्वदेशी और आत्म निर्भरता का ढाँचा खड़ा करने का एक रास्ता हो सकता है। पंचायतीराज और विकेन्द्रीकरण को आधार मानकर, समस्या, समाधान एवं मानव शक्ति के आधार पर, समता मूलक, वर्गविहीन, शोषण विहीन, उत्पादकों के अहिंसक समाज की नींव डाली जाय, तब गरीबी, शोषण, विषमता और अन्याय को समाप्त करने का मार्ग प्रसस्त होगा। अतः इस संकटकाल में प्रबुद्ध जन की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है। लेकिन वह भी अपने हित वर्ग और ख्याली पुलाव में बँधा है। आम जन से उसका सम्बन्ध ही टूट गया है। अगर वह समाज के हित में अपने भोगवादी संस्कृति पर एक सीमा लगाकर पीड़ित जन को प्रबुद्ध एवं संगठित कर संघर्ष के लिए प्रयासरत हो तब जाकर कोई रास्ता निकलने की संभावना परिलक्षित हो सकती है।









मार्क्सवाद उन्नीसवीं सदी के यूरोप के विचारों का परिपाक है। इसके तीन स्रोत हैं जर्मनी का क्लासिकी दर्शन, विशेषकर हीगेल का द्वंद्ववाद, इंग्लैंड के क्लासिकी अर्थशास्त्रियों का अर्थशास्त्र और फ्रांस के समाजवादियों का आदर्शवाद। मार्क्स में इनका मिश्रण नहीं है, यौगिक है, परिपाक है। इसमें यूरोप की श्रेष्ठता निहित है। और यह जाने-अनजाने एशिया के विरुद्ध है।

मार्क्स-एंगेल्स की पद्धति ऐतिहासिक है। इसमें इतिहास में जो विजयी होता है वही प्रगतिशील हो जाता है। तर्क इस प्रकार चलता है कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज क्यों जीते? क्योंकि अंग्रेज एक प्रगतिशील सभ्यता के औजार थे। अलजीरिया में फ्रांसीसी क्यों जीते? क्योंकि वे एक प्रगतिशील सभ्यता के वाहक थे। हिन्दुस्तानी और अलजीरियाई हारे, क्योंकि उन्हें तो हारना ही था। यह उनकी नियति थी। जो हारता है वह प्रतिगामी है, इसलिए हारता है। जो जीतता है वह प्रगतिशील है। प्रगतिशील न होता तो जीतता कैसे? मार्क्सवादियों के लिए यह स्वयं सिद्ध है। इतिहास के विभिन्न चरणों की व्यवस्था से भी वह इसे पुष्ट करते हैं। आदिम साम्यवाद के बाद, दासता युग, सामन्ती युग, पूँजीवादी युग और फिर समाजवाद और साम्यवाद के युग में बाद वाला पहले वाले से प्रगतिशील है, इसलिए उसकी विजय होती है। जो जब जीतता है तो वह ऐतिहासिक भूमिका अदा करता है। यहाँ तक की दासता की भी एक ऐतिहासिक भूमिका है और सामन्तवाद की भी। पूँजीवाद की प्रगतिशीलता की तो जितनी तारीफ मार्क्स ने की है, शायद ही किसी पूँजीवादी इतिहासकार या कवि ने की हो।

नैतिक दृष्टि इसके विपरीत है। नैतिक दृष्टि से किसी को दास बनाना किसी देश काल परिस्थिति में अनैतिक है। यह बुराई का मूल है। यह दृष्टि कहती है कि सत्य की ही जीत होती है। सत्यमेव जयते। इससे भिन्न, ऐतिहासिक दृष्टि मानती है कि जिसकी जीत होती है वह सत्य होता है।

मार्क्स और एंगेल्स और लेनिन आदि यूरोपियों में चेतन या उससे ज्यादा अचेतन, रूप में गोरी जाति की श्रेष्ठता का अहंकार है। इस अहंकार को उनकी भारत और अलजीरिया सम्बन्धी टिप्पणियों में पढ़ा जा सकता है। सोवियत रूस और कम्युनिस्ट चीन के विवाद में यह गोरी जाति की श्रेष्ठता का अहंकार उभर कर आया। माओ त्से तुंग की इस चीज के लिए हम उनके प्रशंसक हैं कि उन्होंने सोवियत संघ की गोरी सभ्यता और व्यवस्था की श्रेष्ठता को कम्युनिस्ट दुनियाँ में चुनौती दी। हालांकि माओ त्से तुंग का आचरण दो मुँहा है। शक्तिशालियों के सामने झुकने का है और शक्तिहीनों को लात मारने का है। लेकिन सोवियत रूस की श्रेष्ठता से टकराने में माओ ने साहस का परिचय जरूर दिया है। लगता है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद में पश्चिम की श्रेष्ठता अन्तर्निहित है। अगर माओवादी पश्चिमी हवा पर पूर्वी हवा को बहाना चाहते हैं तो उन्हें अन्ततः मार्क्स-वाद लेनिनवाद से अपने को अलग कर लेना होगा। वैसे भी माओवाद आज कल के मार्क्सवाद-लेनिनवाद से ज्यादा सृजनशील है। लेकिन अभी-वह उसकी दुम में बँधा हुआ है। उस हद तक पराधीन है। माओवाद मार्क्सवाद लेनिनवाद से स्वतंत्र हो तो अच्छा।



जो कुछ हो, मार्क्स और एंगेल्स की इतिहास-दृष्टि का यह पहलू भारत का प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम ( 1857-59 ) में संकलित लेखों में उजागर होता है। इस दृष्टि से इसकी पुनः परीक्षा करनी जरूरी है। इस संग्रह की शुरुआत मार्क्स के "भारत में ब्रिटिश शासन", "ईस्ट इंडिया कम्पनी-उसका इतिहास तथा परिणाम" और "भारत में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम" शीर्षक लेखों से होती है। ये लेख बार-बार उद्धृत किये जाते हैं। क्योंकि "ये लेख राष्ट्रीय-औपनिवेशिक प्रश्न पर लिखी गयी उनकी श्रेष्ठतम रचनाओं में आते हैं।" इन लेखों में जो प्रश्न हैं वह इस प्रकार हैं:

"यह कैसे हुआ कि भारत के ऊपर अंग्रेजों का आधिपत्य कायम हो गया"

मार्क्स का उत्तर है: "महान मुगल की सर्वोच्च सत्ता को मुगल सूबेदारों ने तोड़ दिया था। सूबेदारों की शक्ति को मराठों ने नष्ट कर दिया था। मराठों की ताकत को अफगानों ने खत्म किया, और जब सब एक दूसरे से लड़ने में लगे हुए थे, तब अंग्रेज घुस आये और उन सबको कुचल कर खुद स्वामी बन बैठे।

इस क्रम से भारत में ब्रिटिश शासन कायम हुआ। लेकिन यह इतिहास का संयोग नहीं है, नियति है, "एक देश जो न सिर्फ मुसलमानों और हिंदुओं में, बल्कि कबीले-कबीले और वर्ण-वर्ण में भी बँटा हुआ हो, एक समाज जिसका ढाँचा तमाम सदस्यों के पारस्परिक विरोधों तथा वैधानिक अलगावों के ऊपर आधारित हो-ऐसा देश और ऐसा समाज क्या दूसरों द्वारा फतह किये जाने के लिए ही नहीं बनाया गया था।" ( पृष्ठ 26 )

इस भवितव्य की पुष्टि में इतिहास की साक्षी दी गयी है: "भारत दूसरों द्वारा जीते जाने के दुर्भाग्य से बच नहीं सकता और उसका सम्पूर्ण पिछला इतिहास अगर कुछ भी है, तो वह उन लगातार जीतों का इतिहास है जिसका शिकार उसे बनना पड़ा है। भारतीय समाज का कोई इतिहास नहीं है, कम से कम ज्ञात इतिहास तो बिल्कुल ही नहीं है। जिसे हम उसका इतिहास कहते हैं वह वास्तव में उन आक्रमणकारियों का है, जिन्होंने आकर उसके इस समाज के निष्क्रिय आकार पर अपने साम्राज्य कायम किये थे, जो न विरोध करता था, न कभी बदलता था।" ( पृष्ठ 26 )

इस विश्लेषण के अनुसार गुलाम रहना तो भारत की ऐतिहासिक नियति है। इसलिए मार्क्स के अनुसार: "प्रश्न यह नहीं है कि अंग्रेजों को भारत जीतने का अधिकार था या नहीं, बल्कि प्रश्न यह है कि क्या अंग्रेजों की जगह तुर्कों, ईरानियों, रूसियों द्वारा भारत का फतह किया जाना हमें ज्यादा पसन्द होता"। ( पृष्ठ 26 )

क्या सचमुच यह देश और समाज दूसरों द्वारा फतह के लिए ही बनाया गया था? क्या भारत का अपना कोई ज्ञात इतिहास नहीं है? यह अभागा देश बार-बार गुलाम बनाया गया है और इसकी बार-बार की गुलामी का इतिहास ही इसका इतिहास है? क्या सचमुच प्रश्न इतना ही है कि इसे तुर्कों, ईरानियों या रूसियों का गुलाम होना पसन्द होता या अंग्रेजों का?

तकलीफ इस बात की है कि यह व्याख्या और किसी की नहीं कार्ल मार्क्स की है। वैसे मार्क्सवादी या मार्क्स विरोधी होना एक बचकाना मजह है। हर अच्छे-बुरे विचारक



की तरह मार्क्स-एंगेल्स एक हद तक अपनी जाति एवं देश काल की काया के बाहर उछाले जाती हैं। शेष समय तो वह अपने काय वाक् चित्त ज्ञान में ही जकड़े रहते हैं। मार्क्स-एंगेल्स का ज्यादा ध्यान उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय समाज और उसमें परिवर्तन पर है। शेष दुनियां यूरोप के सन्दर्भ में ही है, स्वतंत्र नहीं।

X

X

X

X

1960 की बहाई में मार्क्सवादी मित्रों से और दूसरों से इस पर चर्चा की। दोनों की पहली प्रतिक्रिया यही रही कि मार्क्स ऐसा लिख नहीं सकते। मार्क्सवादी मित्र तो बार-बार बरस पड़ते और यहाँ तक कहते थे कि ऐसा कोई वाक्य मार्क्स में है ही नहीं। जब इन वाक्यों को दुहराता तो कहते कि मार्क्स ऐसा कभी कह ही नहीं सकते। फिर दुहराता तो कहते कि हिन्दी अनुवाद की वजह से ऐसा लग सकता है। अंग्रेजी में दिखाइए तो मानें। तब मूल स्रोतों का जिक्र करता। यहाँ उन स्रोतों से उद्धृत तो नहीं कर सकता। इसलिए उनका उल्लेख मात्र कर दूँ। देखिए :

- ( 1 ) के० मार्क्स एण्ड एफ० एंगेल्स, द फर्स्ट इंडियन वार आफ इंडिपेंडेंस 1857-58, फारेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को।
- ( 2 ) मार्क्स एण्ड एंगेल्स, सेलेक्टेड वर्क्स, मास्को, खण्ड 1।
- ( 3 ) मार्क्स एंड एंगेल्स, 'ऑन कोलोनियलिज्म,' मास्को।

कट्टर मार्क्सवादियों के लिए तो शायद इन सबका कोई मतलब न हो। उनकी दृष्टि मार्क्सवाद से इस कदर बँधी हुई है कि वे मार्क्सवाद-लेनिनवाद में कुछ खोट देख ही नहीं सकते। इसलिए वे चाहें तो इसे बखूबी यहीं छोड़ सकते हैं। लेकिन जो इस प्रश्न पर खोज का परिणाम जानना चाहें उनके लिए कुछ निवेदन है।

आखिर मार्क्स ने ऐसा लिखा कैसे ? इसका आधार क्या है ? दिसम्बर, 1960 में 'नोट्स आन इण्डियन हिस्ट्री' शीर्षक से मार्क्स की पांडुलिपियों का संकलन पढ़ने को मिला। यह 'नोट्स' लंदन में अध्ययन करके तैयार किए गये हैं। लंदन उन दिनों उभरते ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र था। वहाँ इतिहास की सामग्री थी। किन्तु एक खास रंग में रंगी थी। यह टिप्पणियाँ इनसे अछूती नहीं। इनसे पता चला कि मार्क्स के यह नोट सातवीं सदी से शुरू होते हैं जब कि हिन्दुस्तान पर मुसलमानों के हमले शुरू हो चुके हैं। और इन टिप्पणियों का अन्त होता है 1857-58 के 'सिपाही विद्रोह' के बाद इंग्लैंड की पार्लियामेंट द्वारा इण्डिया विल पास करके भारत को विक्टोरिया महान के राज का सूबा बनाने में। इस तरह ठीक-ठीक यह टिप्पणियाँ 664-1858 के हिन्दुस्तान के इतिहास की है।

अब इस टिप्पणी पर भी कोई टिप्पणी आवश्यक है क्या ?

सातवीं शताब्दी से जो भारतीय इतिहास को उठाये तो फिर वह बार-बार की फतह के अलावा और देख भी क्या सकता है ? फिर तो वह मार्क्स के साथ कह ही बैठेगा कि : "मैं उन लोगों की राय से सहमत नहीं हूँ जो भारत के किसी स्वर्ण युग में विश्वास करते हैं।"



मार्क्स सहमत हो भी कैसे सकते हैं, क्योंकि वह तो तब से सातवीं शताब्दी से शुरू ही करते हैं, जब कि यह 'स्वर्ण युग' समाप्त हो चुका है ?

लेकिन फिर प्रश्न यह है कि आखिर सातवीं शताब्दी से ही यह टिप्पणियाँ क्यों शुरू होती हैं ? इस प्रश्न का पूरा-पूरा जबाब देने के लिए अभी हमारे पास सामग्री नहीं है। उपलब्ध सामग्री से सिर्फ इतना पता चलता है कि 1850-60 से ही मार्क्स और एंगेल्स ने पूर्वी देशों का खास-तौर पर भारत और चीन के इतिहास का 'गहन अध्ययन' किया था। अब इस गहन अध्ययन की शुरुआत सातवीं शताब्दी से क्यों होती है ? इसका कुछ पता नहीं चलता। वैसे ऐसा क्यों हुआ यह शायद ठीक-ठीक मार्क्स-एंगेल्स ही जानते हैं। शायद वह भी नहीं जानते।

जो हो, मार्क्स की भारतीय इतिहास सम्बन्धी टिप्पणियाँ सातवीं शताब्दी से शुरू ही होती हैं और इसी बुनियादी दोष से उनकी दृष्टि की विकृतियाँ शुरू होती हैं।

इस पर यह कहा जा सकता है कि जानकारी की कमी से यह गलती हो ही सकती है। गलती मार्क्स से भी हो सकती है, यह शायद 'मार्क्सवादी' के गले न उतरे; 'संशोधनवादी' भले मान लें। लेकिन सारा-का-सारा इतिहास का अध्ययन इन्हीं दो कोटियों में तो बँटा नहीं है। इनके अलावा, लाखों और हैं और आने वाले हैं। वे इतना तो आसानी से मान लेंगे कि यह तथ्यों के अभाव के कारण ऐसा हो गया है।

यह विश्लेषण न मानने का कोई कारण नहीं दीखता। लेकिन प्रश्न यह है कि इतना जाहिर तथ्य मार्क्स जैसी पैनी दृष्टि से ओझल कैसे हो गया ?

कारणों के भी कारण की तलाश से लगता है कि यह दोष सिर्फ तथ्यों की कमी में नहीं है; यह मार्क्स की इतिहास की दृष्टि में है। यह दृष्टि जाने-अनजाने गोरी जातियों की श्रेष्ठता वाली है। कोई भी दृष्टि, और इसलिए मार्क्स की भी दृष्टि, अपनी जाति-देश काल समय से बहुत हद तक बँधी हुई होती है और एक हद तक ही चौखटे से उछल कर बाहर जाती है। इसलिए यह दृष्टि उस हद तक ही सार्वभौम हो पाती है। बहुत हद तक जाति-देश-काल-पात्र सापेक्ष होती है। मार्क्स की दृष्टि भी ऐसी ही है। मार्क्स के काल में एशियाई जातियों के मुकाबले में गोरी जातियों की श्रेष्ठता स्थापित हो गयी थी। अभी एशियाई रंगीन जापान को यूरोपीय और गोरे रूस को 1905 में हराने में कोई 50 बरस की देर थी। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय दिमाग में गोरी जाति की, भारत में अंग्रेजों की श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध बात थी। मार्क्स के ही शब्दों में :

“अरब, तुर्क, तातार, मुगल, जिन्होंने एक के बाद दूसरे भारत पर चढ़ाई की थी, अल्दी ही खुद हिन्दुस्तानी बन गये थे : इतिहास के एक शाश्वत नियम के अनुसार बर्बर विजेता अपनी प्रजा की श्रेष्ठतर सभ्यता द्वारा स्वयं जीत लिए गये थे। अंग्रेज पहले विजेता थे जिनकी सभ्यता श्रेष्ठतर थी और इसलिए हिन्दुस्तानी सभ्यता उन्हें अपने बन्दर न समेट सकी।”



इस तरह अंग्रेज अगर श्रेष्ठतर थे, तो जर्मन तो शायद श्रेष्ठतम थे। क्योंकि मार्क्स-एंगेल्स में जर्मनी की श्रेष्ठता का यह दावा तो है ही : अपने समाजवाद को वे 'सच्चा' या 'जर्मन' समाजवाद कहते हैं।

अतः एक श्रेष्ठ जाति का अहंकार इस दृष्टि में है। इसलिये विजित और 'हीन' जाति के इतिहास का कोई स्वर्ण युग हो ही कैसे सकता है? और फिर उसके बारे में तथ्य ढूँढ़ने की जरूरत भी क्या है?

जातीय श्रेष्ठता यह अहंकार न सिर्फ भारत के स्वर्ण युग को देखने में बाधक है बल्कि 'भारत में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम' को भी अपने रंग में रंगता है। इसके अनुसार : "भारत में इंग्लैंड को दुहरा काम करना है : एक ध्वंसात्मक, दूसरा पुनर्रचनात्मक-पुराने एशियाई समाज को नष्ट करने का काम।"

इन लेखों में, और अन्यत्र भी, मार्क्स ने पहले ढंग के नाशकारक काम की क्रूरता और मूर्खता वगैरह का विश्लेषण किया है। हिन्दुस्तान की औपनिवेशिक लूट का, यहाँ के स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था के नाश का सटीक विश्लेषण मार्क्स में पाया जाता है। लेकिन इन सबका निष्कर्ष क्या है? : "अंग्रेजों के हस्तक्षेप ने सूत कातने वाले को लंकाशायर में और बुनकर को बंगाल में रख कर, या हिन्दुस्तानी सूत कातने वाले और बुनकर दोनों का सफाया करके-उनके आर्थिक व्यापार को नष्ट कर के-इन छोटी-छोटी अर्ध बर्बर, अर्ध सभ्य बस्तियों को छिन्न-विच्छिन्न कर दिया और इस तरह उसने एशिया की महानतम और सच कहा जाय तो एकमात्र सामाजिक क्रान्ति कर डाले हैं।"

वैसे मार्क्स इतने तो उदार हैं ही कि स्वीकार करते हैं कि "यह सच है कि हिन्दुस्तान में इंग्लैंड ने निःकृष्टतम उद्देश्यों से प्रेरित होकर सामाजिक क्रान्ति की थी और अपने उद्देश्यों को साधने का उसका तरीका भी बहुत मूर्खतापूर्ण था।"

किन्तु मार्क्स के अनुसार : "सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि क्या एशिया की सामाजिक व्यवस्था में एक बुनियादी क्रांति के बिना मानव-जाति अपने लक्ष्य तक पहुँच सकती है? यदि नहीं, तो मानना पड़ेगा कि इंग्लैंड के चाहे जो गुनाह रहे हों, उस क्रांति को लाने में वह इतिहास का एक अचेतन साधन था।"

"तब फिर, एक प्राचीन संसार के धराशायी होने का दृश्य हमारी व्यक्तिगत भावनाओं के लिए चाहे कितना ही कटुता-पूर्ण क्यों न हो, ऐतिहासिक दृष्टि से, गेटे के शब्दों में, हमें यह कहने का अधिकार है कि :

"क्या उस यातना से हमें दुखी होना चाहिए जो हमारे लिए एक महत्तर सुख का निर्माण करती है?

क्या तैमूर का शासन

अनगिनत आत्माओं को खा नहीं गया था?"

यह निष्कर्ष है कार्ल मार्क्स द्वारा 10 जून, 1863 को लिखे गये पत्र में 'भारत में ब्रिटिश शासन' के मूल्यांकन का। यह निष्कर्ष साम्राज्यवादी इतिहासकारों का नहीं, मार्क्स के उन लेखों का है जो 'राष्ट्रीय औपनिवेशिक प्रश्न पर लिखी गयी उनकी 'श्रेष्ठतम' रचनाओं की श्रेणी में आते हैं।



## मार्क्सवाद और साहित्य

कुँवरपाल सिंह

मार्क्सवाद के अनुसार प्रकृति की प्रत्येक संघटना की भाँति साहित्य, समाज और चिन्तन का क्षेत्र भी परिवर्तनशील है। ऐसा कोई शाश्वत सिद्धान्त नहीं है जिसके आधार पर साहित्य के सौन्दर्य-मूल्य का निर्धारण किया जा सके। बहुत से आलोचक संस्कृत अंग्रेजी, रूसी भाषा के सुप्रसिद्ध साहित्यिक समीक्षकों के निरंकुश सिद्धान्तों के आधार पर यहाँ की साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करते हैं। मूल्यांकन का यह आधार न तो तर्क संगत है और न वैज्ञानिक ही। इस प्रकार का लेखन मार्क्सवाद की भावना को सही अभिव्यक्ति प्रदान करने में असमर्थ रहता है। मार्क्सवाद की क्रांतिकारी भावना का विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार के आधार लिए हुए लेखन का परित्याग किया जाय और उसके स्थान पर सही मार्क्सवादी लेखनशैली को अपनाया जाय। यह एक ऐसी शैली है जो ओजपूर्ण, सजीव और नवीन भावों से ओत-प्रोत है। मार्क्सवादी लेखन में उत्तर-दायित्व की भावना की प्रधानता होती है। जिसका उद्देश्य जनता के मानसिक और सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाना होता है। यह एक महत्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है जो गम्भीर अध्ययन और परिश्रम के बिना संभव नहीं है। अपने को मार्क्सवादी कहने वाले बहुत से लोग इस कार्य में लापरवाही बरतते हैं। बिना तैयारी के लम्बे लेख लिखते हैं जिनका विषय वस्तु से कोई विशेष संबंध नहीं होता है। पाठकों को गुमराह करने वाले ऐसे लेखन से मार्क्सवाद का कोई वास्ता नहीं है। ऐसे लोग साहित्य, राजनीति और कला को सीधे और सरल तरीके से देखते और परखते हैं। यह एक प्रकार की यांत्रिक समझ है। वे यह समझने में असमर्थ रहते हैं कि कोई भी साहित्यिक कृति चेतन अथवा अचेतन रूप में उस वर्गीय मानसिकता को अवश्य ही प्रतिबिम्बित करती है; जिस वर्ग का वह रचनाकार प्रतिनिधित्व करता है। या यह होता है कि कृति उन तत्वों के उस जटिल मिश्रण का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें लेखक पर पड़ने वाले विभिन्न वर्गों के प्रभाव सक्रिय रहते हैं।<sup>1</sup>

विचारधारात्मक रूप में साहित्यिक रचनायें और कलाकृतियाँ मनुष्य के मस्तिष्क पर पड़ने वाले विभिन्न सामाजिक जीवन के प्रतिबिम्बों की उपज होती हैं। जनता का जीवन वस्तुतः साहित्य और कला के लिए कच्चे माल की खान होता है। ऐसा कच्चा माल जो अपने स्वाभाविक रूप में होता है। किसी मार्क्सवादी लेखक के लिए जनता से निकटता और उसके संघर्षों में भागीदारी ही सबसे बड़े प्रेरणा स्रोत होते हैं।

विचारहीन साहित्य का मार्क्सवाद विरोधी है। वह विचारधारा को कलाकार के लिए जीवन और जगत की व्याख्या का औजार मानता है। विभिन्न विचार धाराओं के आधार पर दार्शनिक और साहित्यकार जीवन और जगत की व्याख्या



अलग व्याख्याएँ करते हैं। लेखक इसमें नये अर्थ भरते हुए उसे नये रूप और विकास प्रदान करता है। कोई सार्थक लेखन ऐसा नहीं होता जिसके पास जीवन और जगत की व्याख्या करनेवाली कोई सामाजिक कसौटी और विचारधारा न हो। हर साहित्य का अपना वैचारिक पक्ष होता है। जैसे—आध्यात्मिक, समाजवादी और समाजवाद विरोधी लेकिन आध्यात्मिक और समाजवाद विरोधी लोग यह प्रयास और प्रचार करते हैं कि वे तो विशुद्ध साहित्यकार हैं, उनकी कोई विचारधारा नहीं है। ऐसा इसलिए कहते हैं कि आज उनकी विचारधारा और उस पर आधारित जीवन और जगत को देखने और परखने की कसौटी का ऐतिहासिक और सामाजिक मूल्य नहीं है। यदि वे सच बोलना आरम्भ कर दें तो उनकी साहित्य की दुकान पर ताले पड़ जायेंगे। इसलिए अपने व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के लिए वे अलग-अलग शब्दावली में 'हर चीज खराब है' अथवा 'हम तो शुद्ध मानवता की खोज में रत हैं' जैसे नारे प्रयोग करते हैं। इस तथाकथित मानवता की खोज और मानवता के विरोध की राजनीति के पीछे वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा का विरोध ही इसका एक मात्र उद्देश्य रहा है, जनमत और लोक रुचि बनाने की ठेकेदारी हमारे यहाँ उच्च वर्गों की रही है। इसलिए उनकी दी हुई, साहित्य और कला के क्षेत्र में परिभाषायें भी खूब चल रही हैं। हमारे विश्वविद्यालय और प्रकाशक उसके प्रचार और प्रसार में भारी योगदान देते हैं। पिछले पैंतीस वर्षों का इतिहास इसका साक्षी है।

पूरे बुजुर्ग प्रचारतंत्र ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि 'साहित्य का विचारधारा से कोई संबंध नहीं होता है। जो साहित्य किसी विचारधारा पर आधारित होता है, वह साहित्य नहीं प्रोपेगंडा है। साहित्य का आदर्श अत्यंत उच्च होता है। वह ऊँचे और आध्यात्मिक मूल्यों की खोज करता है। उसका कार्य बाह्य संसार का चित्रण नहीं बल्कि व्यक्ति के आन्तरिक संसार का प्रामाणिक चित्रण करना है। यह भी कहा गया है कि रोजी-रोटी अथवा वर्ग संघर्ष की बात करना साहित्य के लिए निसिद्ध है। लेकिन वास्तविकता यह है कि इस पवित्र शब्दावली के बीच एक गहरी चाल छिपी हुई है। शीत युद्ध के इन योद्धाओं के लिए राजनीति या विचारधारा का अर्थ केवल शोषण विहीन समाज की स्थापना करने वाली विचारधारा और उसे कार्यरूप में परिणत करने के प्रयास की राजनीति से है। साहित्य में वे इसी का विरोध करते हैं। ऐसे लोगों के लिए सामंतवादी और पूंजीवादी राजनीतिक दलों का सक्रिय सदस्य होना किसी राजनीति अथवा विचारधारा का अंग नहीं, यह तो उनकी हॉबी है।

हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के अनेक साहित्यकार बुजुर्ग दलों और उनकी विचारधारा से सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं। उन्हें कभी हेयदृष्टि से देखा अथवा परखा नहीं गया। लेकिन यदि कोई साहित्यकार मार्क्सवादी विचारधारा को अपनी जीवन दृष्टि बनाता है तो वह तुरन्त राजनीतिक लेखक सिद्ध कर दिया जाता है और उसका साहित्य द्वितीय श्रेणी देकर उपेक्षा का पात्र बनाया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि प्रगतिवादी साहित्य के विरोध के साहित्य को, जिसका भारतीय जीवन की वास्तविकताओं



से कोई गहरा संबंध नहीं था, उसे विशुद्ध और उच्च कोटि का साहित्य सिद्ध करने की भरपूर कोशिश की गई। उसी दौरान कुछ साहित्यकारों को जानबूझ कर दो दशकों तक उपेक्षित रखा गया। आज इतिहास ने उन्हें युग प्रवर्तक साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। मुक्तिबोध इसके सबसे प्रमुख उदाहरण हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार, राजनीति और साहित्य उस अधिरचना के अंग हैं जिसका आधार वर्गीय समाज है। दोनों में ही शोषित और शोषक वर्गों के बीच होने वाले संघर्षों की अभिव्यक्ति होती है। फिर भी राजनीति और साहित्य में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। साहित्य विचारधारात्मक अधिरचना का अंग होता है, जबकि राजनीति वर्ग संघर्ष का, सत्ता के लिए किये जाने वाले संघर्ष का एक प्रत्यक्ष रूप है। साहित्य सृजन की प्रक्रिया संश्लिष्ट होती है तथा राजनीति की सीधी और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है।

भौतिक जीवन के उत्पादन की प्रणाली जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और दूसरी बौद्धिक प्रक्रियाओं का निर्धारण करती है। मनुष्य की चेतना का उत्पादन से गहरा संबंध है। उसके अनुरूप ही सामाजिक चेतना का निर्धारण होता है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती। इसके विपरीत उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है। मार्क्सवाद का विश्वास है कि जीवन की भौतिक प्रणाली ही अन्ततः मनुष्य के जीवन का बौद्धिक निर्धारण करती है। लेकिन यह संबंध एकदम सीधा-सादा नहीं है। यह प्रक्रिया बहुत जटिल और संश्लिष्ट है। साहित्य में राजनीति एक वैज्ञानिक विचारधारा के रूप में सामने आती है जो मनुष्य को उसके सामाजिक संबंधों के बीच, देखती-परखती और चित्रित करती है। सम्पूर्ण मनुष्य सत्ता का निर्माण करने का मार्ग राजनीति है जिसका सहायक साहित्य है। अतः वह राजनीति अथवा राजनीतिक पार्टी जनता के प्रति अपना कर्तव्य पूरा नहीं करती, जोकि लेखक के साहित्य लेखन को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कहकर टाल देती है।

मार्क्स का यह विश्वास कि, जीवन की भौतिक प्रणाली ही अन्ततः मनुष्य के जीवन का बौद्धिक निर्धारण करती है लेकिन मार्क्स ने इस संबंध को एकदम सीधा-सादा नहीं बताया जिसे आसानी से देखा परखा जा सके। ये संबंध यांत्रिक रूप से विकसित नहीं होते। कला की इस यांत्रिक व्याख्या से एंगेल्स ने मार्क्सवादी आलोचकों को सावधान करते हुए चेतावनी दी थी—

इतिहास के भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास का निर्णयकारी तत्व अन्ततः वास्तविक जीवन में उत्पादन और प्रत्युत्पादन है। मार्क्स ने या मैंने कभी इससे अधिक का दावा नहीं किया। इसलिए यदि कोई तोड़ मरोड़ कर यह कहता है कि आर्थिक तत्व ही एकमात्र निर्णयकारी तत्व है तो वह इस वक्तव्य को अर्थहीन, असूत और हास्यास्पद बना देता है। आर्थिक परिस्थिति आधार है लेकिन ऊपरी ढाँचे के विभिन्न तत्व वर्ग संघर्ष के राजनीतिक तत्व और उसके परिणाम, एक सफल युद्ध के बाद विजयी वर्ग द्वारा स्थापित विधान आदि कानून के प्रकार और फिर संघर्षरत मनुष्यों के मन में होने



वाली इन वास्तविक संघर्षों की प्रक्रियायें, राजनीतिक, वैधानिक, दार्शनिक सिद्धान्त, धार्मिक विचार और मत मतान्तरों की व्यवस्थाओं के रूप में उसका विश्वास ये सभी ऐतिहासिक संघर्षों की धारा पर प्रभाव डालते हैं। इसके साथ ही इन संघर्षों के स्वरूप निर्धारण करने में प्रमुख भाग भी नहीं लेते हैं।<sup>2</sup>

इन सभी तत्वों में अन्तः प्रतिक्रियायें होती हैं। इनमें से असंख्य घटनाओं के जमघट के बीच अर्थात् उन वस्तुओं और घटनाओं के बीच जिनका आन्तरिक संबंध या तो दूर का है या जिनको सिद्ध करना इतना असंभव है कि हम उसे अनुपस्थित मान लेते हैं और जिसकी हम उपेक्षा कर सकते हैं। आर्थिक सूत्र अपने को अन्ततः अनिवार्य सिद्ध कर देता है।<sup>3</sup> इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकृतियाँ केवल आर्थिक आवश्यकताओं और प्रतिक्रियाओं को ही प्रतिबिंबित नहीं करती हैं। मनुष्य का अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है। कलाकार के रचनात्मक कार्य का यही आधार होता है। सभी प्रकार की कल्पना प्रसूत रचनायें और उस वास्तविक जगत के कलाकार का जो सम्पर्क होता है और इस जगत में उसे जो कुछ प्राप्त होता है, उसके प्रति उसके प्रेम अथवा घृणा के परिणाम स्वरूप ही वह रचना पैदा होती है।

इसके बावजूद कि कला उत्पादन की एक शर्त है, कला का धरातल सदैव आर्थिक क्षेत्र के उत्पादन की विकास रेखा के बराबर नहीं रहता है। ऐतिहासिक तथ्य तो यह है कि अत्यन्त निम्न आर्थिक स्तर की समाज व्यवस्थाओं में महान कृतियों की सृष्टि हुई है। ये कृतियाँ पूंजीवादी युग के सर्वोन्नत काल की कला की तुलना में रखी जा सकती हैं इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने बताया है —

“यह सभी लोग जानते हैं कि कला के विकास के कुछ सर्वोच्च युग, समाज में साधारण विकास से सीधा सम्बन्ध नहीं रखते हैं और न उनके संगठन के ढाँचे और भौतिक आधार से ही उसका सीधा संबंध होता है। आधुनिक राष्ट्रों की तुलना में ग्रीक लोगों की मिसाल या शेक्सपीयर का उदाहरण द्रष्टव्य है।”<sup>4</sup>

हर युग की एक विशिष्ट चारित्रिक विशेषता होती है। इसका निर्धारण उस युग के उत्पादन की स्थिति करती है। कला के निर्माण में उनके तत्व एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। इसलिये उनको अंतिम रूप से एक दूसरे से सुलझाकर अलग करना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। लेकिन यह समझने के लिए कि ये विभिन्न तत्व किस तरह कार्य करते हैं, उनको हर प्रकार से एक-एक करके जांचना जरूरी है। अपने संदर्भ से हटाने पर उनमें से किसी को जहाँ तक संभव हो, विकृत न होने दिया जाय।

मार्क्सवादी दर्शन मनुष्य की एक इकाई के रूप में व्याख्या करता है। वह मानव विकास के इतिहास को भी सम्पूर्ण रूप में ही अपने विचार का विषय बनाता है। वह समस्त प्रकार के सामाजिक संबंधों के अन्तर्भूत नियमों का उद्घाटन करने की कोशिश करता है। उसकी श्रमजीवी मानवता का उद्देश्य पूर्ण मानव व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण करना है। उस वर्ग समाज से जिसकी श्रृंखलाओं ने उसके व्यक्तित्व को विकृत कर दिया है,



उसे पूर्ण मुक्ति दिलाना उसका प्रथम कार्य है। ये सैद्धान्तिक और व्यवहारिक लक्ष्य एक नई कसौटी का निर्माण करते हैं। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र एक ओर तो प्राचीन महान कृतियों से हमारा संबंध जोड़ता है और दूसरी ओर हमारे अपने समय के साहित्य संघर्ष के बीच से नई महान कृतियों को ढूँढ़ निकालता है। प्राचीन यूनानी कलाकार और कवि दांते, शेक्सपीयर, गेटे, बालजाक टालस्टाय हमें मानव विकास के महान युग के समुचित चित्र देते हैं और साथ ही अभंग मानव व्यक्तित्व की पुनः स्थापना के विचार युद्ध में हमारे लिए आलोक स्तम्भ का कार्य करते हैं।<sup>5</sup>

कला साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में मार्क्सवाद संकीर्णता और यांत्रिकता का विरोधी है। कला और कलाकार का मूल्यांकन किसी संकीर्ण दृष्टिकोण से करना गैर मार्क्सवादी कार्य है। यह वर्ग संघर्ष की अत्यन्त सतही व्याख्या है जिसकी व्याख्या यांत्रिक भौतिकवादियों ने की है। यह लोक जीवनहीन है और इसमें जनता को उसकी महान विरासत से अलग करने का प्रयास है। यह दृष्टिकोण हमें अत्यन्त एकांगी, संकीर्ण और अंत में व्यक्तिवादी बना देता है इस पर टिप्पणी करते हुए लेनिन ने कहा था—

“हमें चाहिए की जो सुन्दर है उसको सुरक्षित रखें। उसे उदाहरण के लिए सुरक्षित रखें। भावी विकास के लिए आरम्भ बिन्दु बनाने से हम वास्तविक सौन्दर्य का तिरस्कार क्या इसलिए कर दें कि वह पुराना है। नवीन को ऐसा भगवान मानकर जिसके आदेशों का पालन करना ही है, हम क्यों चलें? यह सिर्फ इसलिए कि वह नवीन है। यह सरासर बेवकूफी है।”<sup>6</sup>

लेकिन अनेक मार्क्सवादियों ने लेनिन की इस समसामयिक चेतावनी की उपेक्षा की है। फलस्वरूप पुरानी विरासत के प्रति उनका दृष्टिकोण यांत्रिक भौतिकवादियों जैसा ही रहा है। उन्होंने अनेक महान कलाकृतियों की, सामंती और प्रतिक्रियावादी कहकर उपेक्षा की है। यह संकीर्ण दृष्टिकोण है। सोवियत रूस के मार्क्सवादियों ने टालस्टाय के विषय में और हमारे यहाँ सूर तुलसी आदि के मूल्यांकन में यही भूल दुहराई गई। वर्ग संघर्ष और वर्ग चेतना संबंधी यह बहुत गलत समझ है। बहुत से कलाकार ऐसे भी हो सकते हैं जो सामाजिक, दार्शनिक के रूप में मार्क्सवादी विचारधारा को स्वीकार न करते हों, लेकिन उनकी ईमानदारी, सहजता और महान प्रतिभा उन्हें सामाजिक पुनर्निर्माण की ओर बढ़ने को प्रेरित करती है, जो मार्क्सवाद का लक्ष्य है। टालस्टाय का उदाहरण इस कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। टालस्टाय के साहित्य में यद्यपि अनेक विसंगतियाँ हैं फिर भी उन्होंने सामाजिक यथार्थ का इतना जीवन्त चित्रण किया है, जहाँ तक पहुँचने में बहुत कम मार्क्सवादी समर्थ हो सके हैं। टैगोर और प्रेमचन्द के उदाहरणों से यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

मार्क्सवाद साहित्य की आदर्शवादी परिभाषा को अमान्य ठहराता है। आदर्शवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत सौन्दर्य पूर्ण रूप से एक ऐसी विषयगत वस्तु समझी जाती है, जिसकी जड़ें वास्तविकता के सामान्य विषयगत गुणों में नहीं हैं। मार्क्सवाद मानता है कि प्रकृति और उसके अन्य उपकरण अपने आप में तो सुन्दर हो सकते हैं और न असुन्दर। सौन्दर्य की भावना तो मनुष्य में ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप पैदा होती है।



विषयीगत आदर्श के विपरीत मार्क्सवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्राकृतिक सौंदर्य की भावना शुद्ध रूप में चेतना की विषयीगत अवस्था ही नहीं है बल्कि प्रकृति वस्तुओं और मनुष्य के सामाजिक जीवन में प्राप्त निश्चित विषयीगत गुणों के कारण होती है।<sup>7</sup> हमारे अन्दर सुन्दरता अथवा कुरूपता के गुणों की अनुभूति अपने आप केवल चीजों को देखने या सोचने मात्र से नहीं हो जाती, बल्कि इस भावना का विकास संस्कृति और उत्पादन की क्रिया के विकास के मध्य होता है। यह एक लम्बी शिक्षा का परिणाम होता है मार्क्सवाद का इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण यह है कि रूप विधान का अध्ययन करके जहाँ तक सम्भव हो वस्तु से निकटतम सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। विषय वस्तु से अलग करके न रूप को पूरी तरह से समझा जा सकता है और न उसे ठीक-ठीक पसंद और नापसंद किया जा सकता है। कलारूपों के इतिहास और विकास को सामान्यतः समाज के इतिहास और विकास से असम्बद्ध करके नहीं समझा जा सकता।<sup>8</sup> कला के रूप मनमाने ढंग से विकसित नहीं होते, बल्कि उस विषयवस्तु से सम्बन्धित होकर विकास पाते हैं, जिसे वे रूपायित और प्रतिबिम्बित करते हैं।

मार्क्सवादी साहित्य को बहुत से लोग उसका राजनीतिक प्रतिबिम्ब मानते हैं। अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या किसी कलाकृति का राजनीतिक मूल्य उसके सौन्दर्य मूल्य से अधिक होता है। यह प्रश्न और भी कई प्रकार से किया जाता है। असल में लोग कला के सौन्दर्य मूल्य को उसके रूप से जोड़ देते हैं। कुछ लोग मार्क्सवादी साहित्य के नाम पर उसके राजनीतिक मूल्य को उसकी विषयवस्तु का पर्याय मान लेते हैं। इस प्रकार सोचने का ढंग गैर मार्क्सवादी है।<sup>9</sup> किसी कलाकृति का मूल्य उसके रचयिता, लेखक या कलाकार के सचेत रूप से स्वीकृत राजनीतिक सिद्धान्तों अथवा पूर्वाग्रहों तक ही सीमित नहीं होता है। वास्तविकता किसी कलाकृति की विषय वस्तु के अन्दर किस सीमा तक सजीव और स्पन्दित रूप से प्रतिबिम्बित होती है, उसके राजनीतिक मूल्य का यही मुख्य स्रोत होता है। अगर कोई लेखक सचेत रूप से प्रगतिशील दृष्टिकोण का हामी है तो इसमें वास्तविकता को सच्चाई के साथ प्रतिबिम्बित करने की शक्ति अनिवार्यतः कम नहीं हो जाती बल्कि इसके विपरीत बढ़ जाती है। गोरकी, अस्त्रोवस्की, शोलोखोव, यशपाल मुक्तिबोध आदि के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। साथ ही राजनीतिक रूप से अत्यन्त उद्बुद्ध चेतना वाले कलाकार महान भी हों, यह भी बात सही नहीं है। बाल जाक को जोला से महानतर कलाकार स्वीकार करते समय मार्क्स और एंगेल्स ने इस तथ्य को स्वीकार किया था।<sup>10</sup> अपने समय के अनेक वामपंथी लेखकों की तुलना में टालस्टाय को महान बताते हुए लेनिन ने भी इस तथ्य को स्वीकृति दी है।<sup>11</sup> यही तथ्य प्रेमचन्द को अनेक मार्क्सवादी लेखकों से महान बनाता है। कोई भी कृति किसी कलात्मक मूल्य से उच्चतम नहीं होगी, चाहे वह कितनी ही तीव्रता से अपनी राजनीतिक विचारधारा को प्रतिपादित करती हो।

इसके साथ ही साथ मार्क्सवादी कला और साहित्य का एक दूसरा पक्ष भी है जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। मार्क्सवादी चिंतन और दर्शन के व्यापक प्रचार



और प्रसार के फलस्वरूप पूँजीवादी क्षेत्रों पर पड़ने वाले दूरगामी प्रभावों के विरोध में अनेक कलावादी आंदोलनों ने जन्म लिया और उनका भी सोद्देश्य प्रचार और प्रसार तेजी से हुआ। इन आंदोलनों ने कहीं 'अमूर्त कला' कहीं 'शब्द विहीन साहित्य' कहीं विशुद्ध कला और कहीं राजनीतिक मुक्त साहित्य और कला का रूप धारण किया। यह आंदोलन कभी 'कला कला के लिए था' तो कभी छद्म प्रगतिशीलता के लिए, और कभी व्यक्तिपरक पूँजीवादी राजनीति से प्रेरित अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए। मार्क्सवादी जीवन दर्शन, लेखक, बुद्धिजीवी और कलाकार को सर्वहारा समाज का ही एक अंग मानता है और उसकी समाज में भूमिका को उतना ही महत्वपूर्ण मानता है जितना मजदूर और किसान की भूमिका को।

साहित्य और कला सर्जकों की इस भूमिका के फलस्वरूप तथा समाज में उत्पादन के साधनों में निश्चित भागीदारी के फलस्वरूप मार्क्सवाद 'कला कला के लिए' या 'राजनीति से मुक्त कला' जैसे षडयंत्र भरे नारों को नहीं मानता। आज की दुनिया में हर प्रकार की संस्कृति, साहित्य और कला निश्चित वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है।<sup>12</sup> इसके साथ ही साथ आज जब हर बुर्जुआ समाज में समाजवादी साहित्य को पैम्फलेट राईटिंग का प्रोपेगैंडा साहित्य कह कर 'तीव्र साहित्यिक शुचिता' के नाम पर नकारने की साजिश चल रही है, मार्क्सवाद विचार के साथ-साथ उच्चस्तरीय साहित्यिकता और कला को पूर्ण महत्व प्रदान करता है। इस संदर्भ में माओत्से तुंग का साहित्य और कला संबंधी यह वक्तव्य अत्यंत महत्वपूर्ण है—

“राजनीति को कला के बराबर नहीं बैठाया जा सकता और न ही साधारण सांसारिक दृष्टिकोण का समीकरण कलात्मक सृजन और कलात्मक समीक्षा के साथ बैठाया जा सकता है। हम न केवल एक अमूर्त और सम्पूर्ण रूप से अपरिवर्तनीय राजनीतिक मापदण्ड से इन्कार करते हैं वरन नितान्त अमूर्त और अपरिवर्तनीय कलात्मक मापदण्डों से भी इन्कार करते हैं। इस संबंध में हमारा प्रयास है समन्वय राजनीति और कला के बीच, समन्वय कथ्य और शिल्प के बीच और समन्वय क्रांतिकारी कथ्य और सर्वोच्च सीमा तक शिल्प का कलात्मकता और पूर्णता के बीच। ऐसा साहित्य कितना भी प्रगतिशील क्यों न हो, यदि उसमें कलात्मकता नहीं है तो उसमें कोई शक्ति नहीं। गलत वैचारिकता लिए हुए कला और सही वैचारिकता लिए पोस्टर और नारे जैसा साहित्य—दोनों से ही हमारा विरोध है।”<sup>13</sup>

बहुधा जीवन-सम्बन्धी गलत दृष्टिकोण होने पर भी अपनी सहानुभूति संवेदनाओं और सामाजिक जीवन की व्यापक जानकारी के बल पर साहित्यकार श्रेष्ठ कृतियाँ दे देता है। 19वीं सदी में छाये बालजाक और टालस्टाय इसके उदाहरण हैं। इन दोनों का ही दार्शनिक दृष्टिकोण सामंती मूल्यों का पोषक तथा आदर्शवादी था। यदि जीवन से व्यापक परिचय के साथ इनके पास सही जीवनदर्शन भी होता तो सोने में सुगन्ध वाली कहावत चरितार्थ हो जाती।

श्री जगद्गुरु विश्वनाथ  
JANANA SIMHASAN JNANAMANDIR  
LIBRARY



अनेक लोगों की यह धारणा है कि मार्क्सवाद ऐसे किसी कलात्मक रूप को स्वीकार नहीं करता, जो यथार्थवाद पर आधारित नहीं है। इस धारणा के फलस्वरूप स्वच्छन्दतावाद और छायावाद अस्वीकृत हो जाते हैं। लेकिन यह व्याख्या अपूर्ण है। एक सच्चा मार्क्सवादी स्वच्छन्दतावाद और छायावाद को एकदम अस्वीकृत नहीं करता बल्कि यह देखता है कि स्वच्छन्दतावाद सक्रिय और क्रांतिकारी भी है या कोरा आदर्शवादी और कल्पनाशील ही है। क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद क्रांति और उसके उद्देश्यों के प्रति मनुष्य की उत्सर्ग भावना, उत्कंठा, भावजन्य वैभव को व्यक्त करता है। क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद आदर्शवाद को त्याग देता है कि वह समाज के मूल में काम करने वाली शक्तियों और संघर्ष की उन आवश्यक परिस्थितियों के प्रति संदेह करता है। उसके द्वारा मनुष्य जाति एक उच्चतर जीवन की प्राप्ति कर सकती है। क्रांतिकारी स्वच्छन्दतावाद केवल कामना ही नहीं करता बल्कि मानव प्रगति के मार्ग में बाधक वर्ग को हटाने के लिये प्रयत्नशील भी होता है।<sup>14</sup> वह तीव्र रूप से भावप्रधान होता है, लेकिन भावुकतापूर्ण नहीं। यूरोप के उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य में हमें अनेक ऐसे लेखक मिलते हैं जो समाज की आलोचना करने में तो काफी यथार्थवादी हैं, लेकिन समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए जो समाधान प्रस्तुत करते हैं, उसकी कल्पना अत्यन्त भीड़े ढंग की स्वच्छन्दतावादी होती है। मार्क्सवाद ऐसे स्वच्छन्दतावाद का विरोध करता है।<sup>15</sup>

स्वच्छन्दतावाद में समाजवाद को प्रतिबिम्बित करने के लिए यथार्थवाद की जरूरत होती है। लेकिन यह यथार्थवाद सही किस्म का होना चाहिये। फोटोग्राफी वाला यथार्थवाद या प्रकृतवाद अपने ढंग से उतना ही बुरा है जितना आदर्शवादी स्वच्छन्दतावाद। इनकी सबसे बड़ी कमी यह है कि घटनायें और वस्तुयें जिस दिशा में गतिमान होती हैं, वह न तो इस गति को ठीक से देख सकता है और न चित्रित ही कर सकता है। प्रकृतवाद चीजों को केवल उसी रूप में देखता है जिस रूप में वे हैं, न कि वे क्या होने जा रही हैं। वह केवल तात्कालिक वस्तुओं से संबंध रखता है और अतीत तथा भविष्य को छोड़ देता है सामाजिक यथार्थ की दिलचस्पी भी वर्तमान में होती है, लेकिन बिल्कुल अलग ढंग से। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए गोर्की ने लिखा है—

“हम जो कुछ हैं उसको ठीक-ठीक रूप में प्रस्तुत करने में रुचि रखते हैं। हम ऐसा इसलिये करना चाहते हैं क्योंकि हम उन सबको स्पष्ट और गम्भीर रूप से समझ लेना चाहते हैं, जिनसे हमें निबटना है और जिनका हमें निर्माण करना है। समाजवादी यथार्थवाद अपने उस वर्ग की तरह है जो उसका जनक है, वर्तमान और भविष्य में से जीवन की खाद लेता है।”<sup>16</sup>

यथार्थवाद के यंत्रवत चित्रण में सावधानी बरतने की सलाह देते हुए गोर्की ने आगे लिखा है—

“किसी तथ्य को कला में पुनः उपस्थित करते समय यथार्थवाद को इसका अधिकार नहीं है कि वह उस तथ्य के भावी भाग्य की जांच पड़ताल करने से इंकार कर दे। अतीत और भविष्य दोनों ही हमारी आँखों से छिपे होते हैं, परन्तु फिर भी वर्तमान के समान ही पूरी तरह यथार्थ होते हैं।”<sup>17</sup>



फोटोचित्र वाला यथार्थवाद भी प्रकृतवादी है। कला के क्षेत्र में वैसा ही होता है जैसा दर्शन के क्षेत्र में यांत्रिक भौतिकवाद। वह वस्तुओं के अन्दर इस बात को नहीं देख पाता है कि वे बदल कर कौन सा रूप धारण कर रही हैं। वह वास्तविकता को विकृत कर देता है। यह यथार्थ जीवन से मृत्यु की ओर ले जाता है। यह छोटे से विवरण तो एकत्रित कर लेता है लेकिन उनके बीच कोई संगठित आकार नहीं देखता। वह वृक्षों को तो देखता है, परन्तु वन को नहीं। उसकी दृष्टि खंड-खंड पर जाती है, समग्र इकाई पर नहीं। प्रकृतवाद मात्र प्रयोगवादी और निकृष्ट रूप से स्थिरतावादी होता है।<sup>18</sup>

यथार्थवादी रचनाकार और यथार्थवादी दार्शनिक दोनों यह मानकर चलते हैं कि बाह्य जगत का अस्तित्व हमारे मन अथवा हमारी इच्छा-अनिच्छा से परे एक ठोस वस्तुगत जगत है। साहित्य और कला का संबंध भी इसी बाह्य जगत और उसके नाना रूप व्यापारों से है। ए० फिशर के अनुसार इस यथार्थ का निर्धारण अन्ततः कलाकार के व्यक्तिगत अथवा सामाजिक दृष्टिकोण से होता है। यदि हम यथार्थ को एक पद्धति के रूप में न लेकर एक दृष्टि के रूप में परिभाषित करना चाहें, कला के अन्तर्गत यथार्थ के चित्रण के रूप में, तो हम पायेंगे कि अमूर्त कला या वैसी ही कुछ वस्तुओं को छोड़कर वस्तुतः सारी कला यथार्थवादी कला है। फिशर की मान्यता के संघर्ष में कला के अन्तर्गत स्थान पाने वाला यथार्थ बाह्य यथार्थ से विशिष्ट होते हुए भी अन्ततः उसी का अविच्छिन्न अंग है।<sup>19</sup>

यथार्थवादी रचनाकार अपने द्वारा चित्रित जीवन की परिस्थितियों के प्रति न केवल एक बहुमुखी दृष्टिकोण का आग्रही होता है, बल्कि वह यह भी दावा करता है कि ठोस तथ्यों का ही उपस्थापक या पुरस्कर्ता है। उसका सारा प्रयास उस ओर रहता है कि वह वस्तुस्थिति का चित्रण करते हुए निजी मान्यताओं, निर्णयों तथा दार्शनिक मान्यताओं से प्रत्यक्ष असंपृक्त रहते हुए जीवन के उस समूचे क्रिया व्यापार में जिसका कि वह चित्रण कर रहा है पाठक को यह अनुभव कराये कि वह भी इस समूचे क्रिया व्यापार का सहज दर्शक या पाठक न होकर एक भागीदार है। यथार्थवाद की यह दृष्टि मूलतः दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर स्थित एक सही दृष्टि है।<sup>20</sup>

जिस प्रकार अपने साथ ही स्पष्ट होने वाले अर्थ अथवा विचार से पृथक् शब्द का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार सच्ची कला अपने बिम्ब को उसके वस्तु तत्त्व से वंचित नहीं कर सकती। जैसे-जैसे मानव समाज का विकास होता गया, साहित्य और कलायें भी प्राचीन युग से उसी की अनुरूपता में विकसित होती रही हैं। यही कारण है कि कला को मात्र मनोरंजन के दायरे में ही सीमित कर देना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। जब से साहित्य अथवा कला की उत्पत्ति हुई है, वह अपनी दुहरी भूमिका का निर्वाह कर रही है। अर्थात् वह मनुष्य के ज्ञान तथा उसकी सौन्दर्यशास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति का माध्यम रही है और उसकी ये दोनों भूमिकायें प्रारम्भ से ही एकीकृत और अविच्छेद्य रही हैं। प्राचीन युग के गुफाचित्र आदिवासी समाज के लिये आज भी उतने ही महत्वपूर्ण बने हुए हैं जितने प्राचीन समय में थे। आदिवासी समाज आज भी



अपने रीतिरिवाजों तथा आचारों में इनका उपयोग करता है। स्पष्ट है कि सभ्यता के उदयकाल में भी जब कि मनुष्य पहली बार कलात्मक बिंबों अथवा रूपों से परिचित हो रहा था, कला सामाजिक अनुभवों से जुड़ी हुई थी। आदिम कलाकार की इस इच्छा के साथ कि वह जीवन के बारे में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करे। उसकी यह इच्छा जुड़ी रहती है कि वह जीवन को समझे तथा उसे व्याख्यायित करे। अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के दौरान साहित्य एवं कलाओं ने मनुष्य के विकास के प्रत्येक दौर को चाहे वह कितना ही संघर्षपूर्ण क्यों न हो परखा है और अंकित भी किया है। शेक्सपीयर के दुखान्त नाटक सख्तेज की प्रसिद्ध कृति 'डान विक्कजोट', स्विफ्ट के व्यंग्य आदि वे कृतियाँ हैं जो बुजुर्ग सामाजिक संबंधों द्वारा रेनेसांयुग के मानवीय आदर्शों को पैरों तले कुचलने के परिणाम स्वरूप उस सारे युग में व्याप्त थी।

रचनात्मक प्रवृत्ति के रूप में यथार्थवाद का उद्भव मनुष्य के बौद्धिक विकास के विशेष दौर में हुआ जबकि मनुष्य ने गम्भीरता से अनुभव करना शुरू किया। उसके लिए सामाजिक विकास की प्रकृति तथा दिशाओं का ज्ञान आवश्यक है। मानवीय क्रियायें और भावनायें अंधी वासना तथा दैवी सकेतों द्वारा संचालित न हो कर यथार्थ या भौतिक शक्तियों द्वारा नियमित होती हैं। अपने बौद्धिक विकास के बीच उसने धीरे-धीरे उस विषय का ज्ञान प्राप्त किया है।

यथार्थवाद के मूल में विवेक और तर्क होता है। जिस वस्तु की स्थूल सत्ता का हमारे पास प्रमाण न हो, वह यथार्थ की श्रेणी में नहीं आती है। जासूसी, तिलिस्मी और आध्यात्मिक रचनायें यथार्थ की श्रेणी में नहीं आती हैं। यथार्थवाद का प्रयोग आदर्शवाद और रोमांटिसिज्म के विरोध में किया जाता है। सत्य की अभिव्यक्ति बिना तथ्यों और वास्तविकता के नहीं हो सकती। तर्क और बौद्धिकता ही यथार्थ के मूल में हैं। यथार्थ की प्रमुख विशेषता है, जहाँ लेखक बिना किसी भय और पक्षपात के, ईमानदारी के साथ, जो कुछ भी अपने आसपास देखता है, उसका चित्रण करे। जिन्दगी इतनी हसीन नहीं है जितनी आदर्शवादी मानते हैं और उतनी भयानक और विकृत भी नहीं है जितनी व्यक्तिवादी प्रस्तुत करते हैं। सामाजिक यथार्थ इन दोनों के बीच की संतुलित कड़ी है। यथार्थवाद वह साहित्यिक संयोग है जो चुनाव तथा रचना के माध्यम से अपने वास्तविक विचारों को सप्रुन्नत रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है।<sup>21</sup>

सत्य और वास्तविकता निरन्तर बदलते हुए मूल्य हैं। यथार्थवाद इनका सही परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन है। यथार्थवाद में ऐसे तथ्यों को मान्यता दी जाती है जिसके अनुसार साहित्य की कार्यभक्ति न तो निर्जीव वस्तुओं पर आधारित है (जैसा कि प्रकृतवादी चित्रित करते हैं) और न व्यक्तिगत सिद्धान्त पर (जैसा कि व्यक्तिवादी कहते हैं।) जिसका निर्माण व्यक्तिगत स्वार्थों को लेकर होता है और व्यवहार में जिसका कोई मूल्य नहीं होता। यथार्थवादी साहित्य की मूल दृष्टि भौतिक रूप में वर्ग एवं एक विशिष्ट मिश्रण को प्रस्तुत करने में है। यह सर्व साधारण एवं विशिष्ट चरित्रों तथा परिस्थितियों:



दोनों को पारस्परिक संबंध सूत्र में रखने की सामर्थ्य रखता है। इस यथार्थ की सीमा में समस्त मानवीय एवं सामाजिक विशेषताओं का विशिष्ट विकास निहित है।<sup>22</sup>

बुजुआ और सामंती विचारों से प्रभावित लेखकों के लिए आंतरिक संसार का कलात्मक चित्रण ही यथार्थवाद की कसौटी है। ऐसे लोग जीवन और जगत को अमूर्त और भाववादी दृष्टि से देखते हैं। वे यथार्थ को व्यक्ति और उसकी समस्याओं विशेष रूप से सेक्स के चित्रण को प्रमुख मानते हैं। उनके लिये व्यक्ति केवल यौन वर्जनाओं का पुंज है। वे यह मानते हैं कि साहित्य हमारी अंतश्चेतना में पड़े संस्कारों एवं भावों का यथार्थ उन्मेष है। वे पूरे सामाजिक मूल्यों पर व्यक्ति के हावी होने की आकांक्षा करते हैं। हिन्दी में अज्ञेय इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि रचनाकार हैं जिसका सबसे बड़ा सम्बल अहं है और जो व्यक्ति की कल्पना 'नदी के द्वीप' के रूप में करते हैं। वे हर व्यक्ति का सौन्दर्यबोध भी अलग-अलग मानते हैं। इनकी सम्पूर्ण चेतना सेक्स से आक्रांत रहती है। इसलिए इनके विद्रोहियों का अंत समझौता या टूटन में होता है। इनके यथार्थ के पीछे व्यक्तिनिष्ठ जीवन दर्शन और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त हैं। फ्रायड इनके युग पुरुष हैं।

फ्रायड के अनुसार बाह्य परिस्थितियों का ज्ञान वास्तविक नहीं है। दमित काम भावना ही उसकी नियति है। गुण दोष के विवेचन तथा सामाजिक मर्यादाओं के पदों से यह भावना ढँकी रहती है। लेकिन जब कभी यह बाँध टूट जाता है और मनुष्य अपने वास्तविक रूप में आ जाता है—विवेक जब अचेतन की भावनाओं को दबाता रहता है तो बाँध में बँधी सरिता की भाँति उसकी लहरें उल्टी लौटने लगती हैं। इससे मनुष्य के जीवन में बहुत-सी ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं और जीवन में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। उन ग्रंथियों के निवारण के लिए मनोविश्लेषणवादी प्रणाली का प्रचलन हुआ। सभ्यता और संस्कृति के रोग का निदान समाज की नाड़ी देखकर नहीं हो सकता वल्कि व्यक्ति के अन्तर्मन के एक्स-रे के द्वारा हो सकता है। इस प्रणाली के अनुसार व्यक्ति के सारे कष्ट, दुःख, निराशा, मलीनता आदि किसी कुंठा के द्वारा होते हैं। ये कुंठाये व्यक्ति के अवचेतन मन में अव्यक्त रूप से छिपी रहती हैं। इनका उदघाटन और विस्फोट ही उनका उपचार है।

ये अभाव, कुंठाएँ, निराशा आदि क्यों होते हैं? इनका उत्तर फ्रायडवादियों के पास भी नहीं है। क्या काम भावना ही मनुष्य का केन्द्रबिन्दु और नियंता शक्ति है? यह दर्शन बीमार और असामान्य व्यक्तियों के लिये सही हो सकता है स्वस्थ एवं सामान्य जन के लिए नहीं। प्रकृतवादी सत्य और यथार्थ के नाम पर सेक्स और नारी शरीर का ही विभिन्न रूप में चित्रण करने में रम गये। इसके लिये प्रकृति और वातावरण के कलात्मक सृजन का भी सहारा लिया है। लेकिन इनके उद्देश्य, लक्ष्य अंधेरे के कुहासे में खोये रहते हैं।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बावजूद इस बात के कि इसके बल पर मानव व्यक्तित्व की गहराइयों को प्रतिभाशाली तथा साहसपूर्ण ढंग से कुरेदा-टटोला गया है कभी यह नहीं समझा सका कि कोई व्यक्ति सामाजिक समग्रता के अधिनियम प्रिंजम में से गुजरने वाली प्रकाश किरणों की भाँति व्यक्ति के मन रूपी तंत्र



में विघटित और वक्रित होकर हर व्यक्ति की प्रकृति को बदलते और नियंत्रित करते हैं। आज मानव हमारी समाज व्यवस्था से भरभराकर ढह जाने के साथ उत्पन्न होने वाली बाह्य वस्तुगत विभीषिकाओं के खिलाफ, तानाशाही के खिलाफ, युद्ध के खिलाफ, मशीन के प्रभुत्व के खिलाफ लड़ने पर बाध्य है। साथ ही उसे अपने मस्तिष्क के अन्दर इन सब चीजों के मनोगत प्रतिबिम्ब के खिलाफ भी लड़ना है। उसे लड़ना है दुनियाँ को बदलने के लिये, सभ्यता को बचाने के लिये और साथ ही उसे मानव आत्मा में पूँजीवादी अराजकता को खत्म करने के लिए भी लड़ना है।<sup>23</sup>

बहुत से आलोचक यह आपत्ति उठाते हैं कि मार्क्सवाद साहित्य में व्यक्ति की भूमिका नहीं मानता। वह उसे ऐसी निराकार और आर्थिक शक्तियों का शिकार समझता है जो उसे भाग्य चक्र की अनिवार्यता के साथ एक निश्चित अंत की ओर धकेल रही हैं। यह तथ्य सही नहीं है। मार्क्सवाद इतिहास में व्यक्ति की भूमिका से इंकार नहीं करता और न वह मानव समुदाय को केवल आर्थिक शक्तियों के बीच फँसा हुआ ही देखता है। मार्क्सवाद मानव को अपने दर्शन का केन्द्र मानता है। जहाँ वह यह दावा करता है कि भौतिक शक्तियाँ आदमी को बदल सकती हैं, वहाँ पर यह अत्यन्त स्पष्टता से यह घोषित करता है कि वह मानव ही है जो भौतिक शक्तियों को बदलता है और ऐसा करने के बीच अपनी भी कायापलट करता है। मानव और उसका विकास ही मार्क्सवादी दर्शन का केन्द्र बिन्दु है।<sup>24</sup>

कोई लेखक व्यक्ति की कहानी उस समय तक नहीं लिख सकता जब तक कि वह सम्पूर्ण वास्तविकता से परिचित न हो क्योंकि सामाजिक इतिहास अन्ततः व्यक्तिगत इतिहास को प्रभावित करता है। प्रत्येक मनुष्य का दोहरा इतिहास होता है। वह एक बारगी एक ऐसा भी प्रतिनिधि है जिसका एक सामाजिक इतिहास है। तथा एक व्यक्ति भी है जिसका व्यक्तिगत इतिहास भी होता है। ये दोनों ही चाहे उनमें कितना ही प्रत्यक्ष द्वन्द्व क्यों न दिखाई दे, एक इकाई हैं।

मार्क्सवाद की यथार्थवादी अवधारणा के संवन्ध में अनेक भ्रांतियाँ हैं। कुछ जान-बूझ कर फैलायी गई हैं और कुछ अज्ञान के कारण हैं। कुछ भौतिकवादी भी उन भ्रमों के शिकार हुए हैं। मार्क्स, एंगेल्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त को कला तथा साहित्य के विश्लेषण पर लागू करने का आग्रह किया है। उनकी राय में कलात्मक सृजन यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही उसे अनुभव करने तथा उसे पहचानने का एक साधन भी है। उनके अनुसार यथार्थवाद साहित्य में विश्वकला की सबसे बड़ी उपलब्धि है। एंगेल्स ने यथार्थवाद को परिभाषित करते हुए कहा था कि यथार्थवाद में विश्लेषण की सच्चाई, साधारण परिस्थितियों में साधारण चरित्रों का सच्चाई भर पुनर्सृजन है।<sup>25</sup>

“मार्क्सवाद के अनुसार साहित्य और कला नैतिक मूल्यों के प्रश्न से अपना दामन नहीं बचा सकते।”<sup>26</sup> एक कलाकार नैतिक मूल्यों को भूल सकता है, उनका तिरस्कार कर सकता है लेकिन उसकी रचना सामाजिक जीवन की भूमिका में भाग लेती है। वह



योजनाबद्ध या योजना के बिना चेतन अथवा अचेतन रूप से समाज पर अपना प्रभाव डालती है। इसलिए मार्क्सवाद साहित्य में निराशावाद और अवलोलता की प्रवृत्तियों को निन्दनीय ठहराता है। यह आशावाद का प्रतिपादन करता है। उसका आशावाद इसी जगत का है। उसके सुख, आनन्द और पुरस्कार इसी जगत के हैं। लेकिन ये सुख और आनन्द केवल शारीरिक सुख तक ही सीमित नहीं हैं। इसका आशावाद मानवता के प्रति हमारी आस्था में पैदा होता है। इस जीवन का आह्लाद न उच्छृंखलता का परिणाम है और न किसी उन्माद का ही।<sup>27</sup>

बुर्जुआ विचारधारा में साहित्य की समन्वयवादी दृष्टि विचार का रूप धारण करके एक भ्रम का सृजन करती है। आदर्शवादी विचारधारा इस व्यवस्था की कला और सौन्दर्य दृष्टि को और भी अधिक संकट ग्रस्त करके अराजक स्थिति की ओर ले जाती है। मानवता की जितनी लम्बी चीड़ी बातें ऐसी व्यवस्था के पक्षधर साहित्यकार और दार्शनिक करते हैं, अपने मूल में वे उतने ही जन विरोधी हैं। अपनी वास्तविकता को छिपाने के लिए आदर्शवाद, आध्यात्मिकता, मानवमूल्य, विश्वशांति, समता, एकता आदि का मुखौटा लगाये रहना ऐसे लोगों की मजबूरी है। व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण पर आधारित तथा हर संभव साधन और माध्यम से मुनाफा कमाने वाली कोई व्यवस्था मानवीय हो ही नहीं सकती। उसका मूल चरित्र जरूर अमानवीय होगा। बुर्जुआ व्यवस्था जब संकट ग्रस्त होती है तो अपने पूर्ववर्ती जनतंत्रवादी मुखौट उतार कर नाजी और फासिस्ट बन जाती है। जाति, नस्ल, धार्मिक पुनरुत्थानवाद उसकी राजनीति होती है। झूठ, प्रवंचना और भ्रम के कुहासे का विस्तार ही उसकी नैतिकता होती है। अवास्तविक संसार का चित्रण अध्यात्म का चिन्तन, सामाजिक हिंसा, सेक्स का नंगापन, खलनायक से नायकत्व की श्रेणी, मानव पीड़ा और यंत्रणा से रसास्वादन—इस व्यवस्था के साहित्य और कलाओं का मूल आधार बन जाते हैं। अमरीका का अधिकांश लोकप्रिय साहित्य हत्या, बलात्कार, परपीड़ा जैसी मानव विरोधी संस्कृति के चित्रण से भरा पड़ा है। हमारे देश में भद्रजन इस झूठन को प्रसाद मान कर प्रफुल्लित हैं। पिछले एक दशक से हमारी पूँजीवादी सामन्ती व्यवस्था का संकट प्रतिदिन और गहरा तथा भयावह होता जा रहा है। पतन इतना तीव्र है कि उसके समर्थक साहित्यकारों में से अनेक हतप्रभ हैं। उनका साहित्यकार्य निरर्थक सा हो गया है। ताजमहल देखते-देखते खण्डहर हो रहे हैं। 'नदी के द्वीप' खोजने पर भी नहीं मिल पा रहे हैं। इन साहित्यकारों को व्यवस्था ने इतना अपाहिज बना दिया है और इनकी चेतना पर इतना जंग लग गया है कि वे इस डूबते जहाज को नहीं छोड़ पा रहे हैं। इनमें से अनेक भूतपूर्व हो गये। कई साहित्य छोड़कर व्यापार करने लग गये। कुछ आध्यात्मिक मूल्यों की खोज में साधनालीन हैं। कुछ सत्ता के गलियार में स्थान पा गये हैं और कुछ अब भी भटक रहे हैं कि शायद कोई लहर उन्हें भी किनारे लगा देगी। आज स्थिति यह है कि इसके पास अपना कहा जाने वाला कोई साहित्य ही नहीं है। बुर्जुआ वर्ग के समर्थक और सहयोगी साहित्यकारों ने क्रान्तिकारी जनवादी राजनीति के विरोध की राजनीति अत्यन्त चालाकी और संगठित ढंग से काफी दूर तक चलाकर भारतीय साहित्य को जो हानि पहुँचायी है, उसका मूल्यांकन इतिहास अवश्य करेगा। इस साहित्यिक



राजनीति ने अनेक प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकारों और कलाकारों को भ्रमित करके या तो उन्हें जन विरोधी बना दिया अथवा वे अंधेरी गलियों के मेहमान हो गये। यह राजनीति किसान मजदूर से आये साहित्यकारों और कलाकारों को उनके ही वर्ग के विरुद्ध विस्वासघात करने को मजबूर करती है। यह मनुष्य से व्यक्ति, व्यक्ति से व्यक्तिवादी और अहंवादी बनाने में निपुण है। इस प्रकार की अमानवीकरण की प्रक्रिया इस व्यवस्था में निरन्तर जारी रहती है। यह विचारधारा मानव समाज की वास्तविक समस्याओं से बचना चाहती है। इसके लिए मनुष्य नदी का द्वीप है। वह निरन्तर अकेला है। भीड़ उसे निगल जाती है। संगठन उसके व्यक्तित्व को नष्ट कर देता है। यह दृष्टि मनुष्य विरोधी तथा अवैज्ञानिक है। मनुष्य का मूल्यांकन उसे सामाजिक संबंधों और वास्तविकताओं के बीच रख कर ही किया जा सकता है। यही बात साहित्य के मूल्यांकन पर लागू होती है।

मार्क्सवाद रचनाकार से अपने युग की सच्चाई का निर्वाह करने का आग्रह करता है। अपने वर्णन और घटनाओं के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाने की भी आवश्यकता है। इसके बिना न तो पात्रों में ही सजीवता आ सकती है और न रचना ही उच्चकोटि की बन सकती है। चरित्र चित्रण भी वर्ग के परिवेश में अधिक सटीक बन पाता है। साहित्यकार अपने पाठक के पास उच्चकोटि के दर्शन और पाण्डित्य दर्शन से नहीं पहुँचता है बल्कि उन विविध बिम्बों और कलात्मक अभिव्यंजना के माध्यम से पहुँचता है। कलात्मक माध्यम से अभिव्यक्त विचारधारा पाठक की चेतना और अनुभूतियों को प्रभावित करती है। उद्देश्यहीन कला का कोई अर्थ नहीं होता है। यथार्थवादी लेखक की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही यथार्थवादी होती है ऐसे लेखक समसामयिक समस्याओं एवं घटनाओं से गहराई से जुड़े रहते हैं। इन्हें न राजनीति से परहेज होता है, न वर्ग संघर्ष से वितृष्णा होती है और न ऐतिहासिक भौतिकवाद से चिढ़। जन आंदोलनों और व्यवहारिक संघर्षों के बीच ही उनका जीवन और साहित्य अधिक प्रौढ़ तथा श्रेष्ठ होता है। वैज्ञानिक विचारधारा किसी लेखक की कृति को लेकर और अधिक निखार देती है।

मार्क्स ने इस बात पर बल दिया था कि कला ( साहित्य ) वर्गों के बीच विचारधारात्मक संघर्ष में महत्वपूर्ण अस्त्र है। यह शासकों की शक्ति को मजबूत बना सकती है तो उसकी जड़ें भी खोद सकती है। यदि वह वर्ग उत्पीड़न की रक्षा का काम दे सकती है तो इसके विपरीत श्रमजीवी जन साधारण की भी शिक्षा और उनकी चेतना के विकास में योग भी दे सकती है तथा उन्हें अपने उत्पीड़कों पर विजय के समीप भी पहुँचा सकती है।<sup>28</sup>

### संदर्भ

1. लूना चारस्की—मार्क्सवादी आलोचना की समस्याओं का अध्ययन, पृ० 30-31 (मास्को)
2. मार्क्स-एंगेल्स—साहित्य तथा कला, पृ० 47-48
3. वही—प्रगति प्रकाशन मास्को, 1981, पृ० 48



4. —वही पृ० 97
5. जार्ज लुकाच—स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म, पृ० 5.
6. लाफ शज्द्रज—लेनिनिस्ट क्रिटीसिज्म, पृ० 31, सोवियत लिटरेचर, 1948
7. सोवियत एन्साइक्लोपीडिया एस्थेटिक्स, पृ० 112, मास्को 1948
8. काडवैल—द एल्यूजन प्ण्ड रियलिटी, पृ० 119, लन्दन 1950.
9. क्लैरा जैटिकिन—रेमिनीसॅसेज आफ लेनिन, पृ० 29.
10. मार्क्स-एंगेल्स—साहित्य तथा कला, पृ० 107-108, हार्कनेस को एंगेल्स को चिट्ठी मास्को 1981
11. लेनिन—सलैक्टेड वर्क्स वो० 9, पृ० 372, मास्को 1950
12. माओत्से तुंग—कला साहित्य और संस्कृति, पृ० 68, ( हिन्दी अनु० ) दिल्ली 1983.
13. वही—पृ० 65
14. जार्ज थाम्सन—मार्क्सिज्म एण्ड पोइट्री, पृ० 31
15. वही—पृ० 33
16. मैक्सिम गोर्की—आर्टीकिल्स एण्ड पैम्पलेट्स; पृ० 150-51; मास्को 1950
17. वही—पृ० 154
18. काडवैल—इल्यूजन एण्ड रियलिटी, पृ० 131
19. प्रो० शिवकुमार मिश्र—यथार्थवाद पृ० 2 ( 1980 )
20. डॉ० कुँवरपालसिंह—यथार्थवाद : मार्क्सवादी अवधारणा ( लेख ) सापेक्ष, पृ० 10  
दुर्ग, मार्च 1984
21. एच० फास्ट—लिटरेचर एण्ड रियलिटी, पृ० 62
22. जार्ज लूकाच—स्टडी इन यूरोपियन रियलिज्म, पृ० 35.
23. राल्फ फाक्स—उपन्यास और लोक जीवन, पृ० 101 ( 1956 )
24. वही—पृ० 117
25. मार्क्स-एंगेल्स—साहित्य तथा कला, पृ० 107.
26. लेनिन—संकलिप्त रचनाएँ, पृ० 385.
27. मैक्सिम गोर्की—आर्टीकिल्स एण्ड पैम्पलेट्स, पृ० 269.
28. मार्क्स-एंगेल्स—साहित्य तथा कला पृ०; 27.



1. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 1-10
2. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 11-20
3. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 21-30
4. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 31-40
5. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 41-50
6. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 51-60
7. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 61-70
8. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 71-80
9. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 81-90
10. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 91-100
11. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 101-110
12. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 111-120
13. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 121-130
14. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 131-140
15. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 141-150
16. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 151-160
17. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 161-170
18. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 171-180
19. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 181-190
20. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 191-200
21. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 201-210
22. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 211-220
23. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 221-230
24. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 231-240
25. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 241-250
26. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 251-260
27. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 261-270
28. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 271-280
29. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 281-290
30. अक्षर-विज्ञान-संज्ञा-सूची, पृ. 291-300



## माक्सवादी चिन्तन में साहित्य और कला

### रमाकान्त अस्थाना

साहित्य अथवा कला की आधार-शिला मानव जीवन है। हम इन विषयों में रुचि इसलिए लेते हैं क्योंकि इनमें हम अपने जीवन की उन आशाओं, आकांक्षाओं, उलझनों या समाधानों का चित्रण पाते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध मानव जाति के इस पृथ्वी पर अस्तित्व से है। महान साहित्यकार या कलाकार अपने युग के जीवन के प्रति इतना निष्ठावान होता है कि उसे वह अपनी कृति में केवल उतार कर ही संतुष्ट नहीं होता। वह अपने समय से जन-जीवन में भाग लेकर जीवन की सम्भावनाओं को खोजने का प्रयास भी करता है। कवि वायरन केवल कविता में ही क्रान्तिकारी विचारधारा के समर्थक नहीं थे। उन्होंने ग्रीस के लोगों की क्रांति में भाग लेकर उनका उत्साह भी बढ़ाया। प्रसिद्ध उपन्यासकार एमिली जोला ने फ्रांस सरकार की अतिराष्ट्रवादी नीतियों के विरुद्ध भाग लिया। ये तथ्य इस सत्य के प्रमाण हैं कि साहित्य और कला जन-जीवन निरपेक्ष नहीं सापेक्ष हैं। कवि या कलाकार अपने युग के सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकता।

युग-सत्य समय और परिवेश के अनुसार बदलता रहता है और हर जीवन्त साहित्य इस बदलाव के प्रति जागरूक रहता है। सन् 1917 में सोवियत रूस में मार्क्स और उनकी विचारधारा से प्रभावित किसान-मजदूरों की क्रांति और उसकी सफलता ने युगों से चली आ रही पूंजीवादी व्यवस्था को यह जता दिया कि अब उसके दिन गिने हुए हैं। इस क्रांति की मूल विचारधारा थी सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण। इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह किसी एक या कुछ का वहीं वरन् पूरे समाज का है। इसी विचार-वर्णन से प्रभावित होकर रुचि इकबाल ने लिखा ;

“जिस खेत से बहक़ा को मुयस्सर वहीं रोजी  
उस खेत के हर खुदये गन्दुस को जला दो”  
(उस खेत के गेहूँ के अनाज की बालियों को जला दो  
जिससे किसान को अपनी रोजी नहीं नसीब होती)

अपने क्रान्तिकारी ओज में ये पक्तियाँ मार्क्सवादी विचारधारा के लम्बे संघर्ष का संक्षेपनाद सी लगती हैं।

समाज में आनेवाली हर नई विचारधारा या मानव मूल्य चाहे वे आर्थिक हो या राजनीतिक अपने युग की साहित्यिक चेतना को प्रभावित करते हैं क्योंकि अन्ततः-गत्वा वे इस सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं जिनसे मानव जीवन का ताना बाना बुनता है। सम्भवतः इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कार्ल मार्क्स ने 1985 में कहा था,



“भौतिक जीवन की उत्पादन विधि हमारे सामाजिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक जीवन प्रक्रिया को प्रभावित करती है। मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व का निर्धारण नहीं वरन् उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।”<sup>1</sup>

माक्स के इस कथनानुसार मनुष्य की चेतना जो उसके सामाजिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक जीवन का स्वरूप निर्धारित करती है उसके सामाजिक अस्तित्व की उस दशा की देन होती है जिसे उसके समय की भौतिक उत्पादन प्रणाली अनिवार्यतः उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दों में आर्थिक उत्पादन की व्यवस्था और उसके वितरण की विधि मनुष्य के सामाजिक जीवन के स्तर का निर्णय करने के साथ-साथ उसके सोचने समझने और विचार करने के तरीके को भी प्रभावित करती है। चेतना कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो मनुष्य की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की सीमाओं से परे रह कर उसके अस्तित्व को नियन्त्रित करती हो। अतः माक्स साहित्य या कला का यह कर्तव्य मानते हैं कि वह हमारी आर्थिक प्रणाली जनित उस सामाजिक जीवन और व्यवस्था को अपना विषय वस्तु माने जो न्याय सगत नहीं है और जो जनहित में सुधार या परिवर्तन की अपेक्षा करता है। जो साहित्य जितनी ही सच्चाई और लगन से इस बदलाव की प्रक्रिया को आर्थिक समाधानों की एक ठोस योजना द्वारा सम्भव बनाने का प्रयास करता है वह मानवहित के उतना ही निकट है।

माक्स और एंजिल्स के अनुसार “जो वर्ग भौतिक उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है वही बौद्धिक उत्पादनों का भी नियन्त्रण करता है”।<sup>2</sup> उनका मत है कि आज तक के समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। अतः मार्क्सवादी साहित्य का एक प्रयास यह बताना और समझाना है कि जब तक संसार के भौतिक साधनों का स्वामित्व पूरे समाज का नहीं होता तब तक उनका उपयोग जन-जन के सुख और समृद्धि के लिए हो सके तब तक सामाजिक असमानताएँ एवं वर्ग संघर्ष मानव जाति के अस्तित्व का एक अंग है। इस वर्ग संघर्ष में किसान-मजदूर वर्ग के लोगों का उत्थान या पतन समाज की उन्नति या अवनति का मापदण्ड है क्योंकि जनसंख्या का अधिकांश भाग इसी वर्ग का बना होता है। यदि कोई साहित्य अपने युग और समाज का सही अर्थों में प्रतिनिधित्व करना चाहता है तो उसे श्रम के बल पर जीने वालों की पीड़ा, व्यथा, विजय अथवा पराजय की उन स्थितियों का जायजा लेना होगा जिनसे होकर मानवजाति का अधिकांश भाग जिन्दगी की मंजिलें तय करता है।

ओनील के नाटक “हेयरी एप” का नायक याँक शोषकों के दलगत षडयंत्र को बड़ी कटुता से अनुभव करता है। उसके रोषपूर्ण उद्गारों में उस जैसे न जाने कितने आक्रांत और उपेक्षित श्रमिकों का स्वर बोल रहा है जिन्हें निष्ठा और कठोर श्रम के बदले केवल भत्सना और तिरस्कार मिलता है। उसकी आवाज अपने वर्ग को उन शक्तियों के विरुद्ध जगाने का आवाहन है जो उन्हें दबाये रखने में अपना हित समझती है। घनाड्य एवं सम्पन्न मिलिट्रेड के दुर्व्यहार पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए वह कहता है :



“हम इस सड़ी हुई जिन्दगी के लिए नहीं पैदा हुए थे। सभी आदमी स्वतंत्र और बराबर पैदा हुए हैं। दोस्तों ! यही बाइबिल कहती है। लेकिन उन काहिल और दम्भी लोगों को जो प्रथम श्रेणी में यात्रा करते हैं बाइबिल के निर्देशों से क्या मतलब ? वे हमें बलात् घसीट कर इस जहाज के भीतरी गर्भ में कोयला झोकने, धूल फांकने, आग के सामने जलने और पसीना बहाने के लिए ले आये। यह अभिशाप्त पूंजीपति वर्ग।”<sup>3</sup>

निरीह और असहाय वर्ग के दुःख का दूसरा प्रमुख कारण युद्ध की विभिधिका उस पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का परिणाम है जो अपनी निर्भय अर्थ-प्रणाली के वशीभूत मानव-मूल्यों को ताक पर रखकर खून की होली खेलता है। कवियों ने कहीं युद्ध की क्रूरता पर गहरा विषाद तो कहीं पृथ्वी पर से उसे हमेशा के लिये खत्म हो जाने की लुभावनी कल्पना की है। सोवियत कवि कैसिनकुलीव ने युद्ध की पैशाचिकता की सताई हुई उस दुखियारी मां का चित्र खींचा है जिसकी लोरी भी आसुओं में भीगी हुई है :

“दूर कहीं पर एक नारी कराहती हुई आवाज में अपने नन्हे के लिए लोरी गुनगुनाती हुई सुनी जा सकती हैं जिसमें संसार के सारे भय और विषाद समाये हुए हैं। युद्ध में दागी हुई हर गोली का लक्ष्य किसी मां का हृदय होता है। विजय चाहे जिसकी भी हो परिणाम हमेशा माताओं का टूटा हुआ हृदय होता है।”<sup>4</sup>

उन्होंने अपनी एक दूसरी कविता “एक नारी जल धारा में स्नान कर रही है” में एक ऐसे विश्व की कल्पना की है जिससे युद्ध हमेशा के लिए समाप्त हो चुका है :

“कहीं भी किसी प्रकार की बुराई नहीं है, न मृत्यु है, न भय, न निराशा। न तो आंधियाँ हैं न कठोर शीत, न बंदीगृह की सलाखायें, न अभाव, न युद्ध। विश्व विश्राम पर है और शांति का अखण्ड साम्राज्य है। एक नारी जलधारा में स्नानकर रही है”<sup>5</sup>

साहित्य और धर्म का मूल अन्तर उनके संसार के प्रति विरोधी दृष्टिकोण में है। एक तो इस जगत से राग है तो एक दूसरे को विराग। यशोधरा की यह उक्ति, “भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ, कह मुक्ति भला मैं तुझे किस लिए पाऊँ ?” मनुष्य के उस आशावादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है जो इसी लोक को स्वर्ग बनाने का संकल्प करता है। माक्सवादी विचार धारा का यह विश्वास है कि मनुष्य अपना भाग्य विधाता स्वयं है। समाज को अपनी इच्छानुसार बदलने की उसमें अप्रतिम शक्ति है। आवश्यकता है तो केवल उसे जागने की और निर्दिष्ट दिशा में ले जाने की। इसका धर्म से मतभेद उसकी नियतवादिता के कारण है जो मनुष्य को स्वतंत्र इच्छा शक्ति और उससे उत्पन्न प्रेरणा से अपने लिए, समाज के लिए, और आने वाले कल के लिए कुछ कर गुजरने के लिए निश्चय से रोकता है। “होता है वही जो मंजूरे खुदा होता है” का माक्सवाद इसलिए विरोध करता है क्योंकि यह मनुष्य को भाग्यवादी या पलायनवादी बनाता है। विश्व या समाज का जो कटु और अप्रिय सत्य है उसके विरुद्ध संघर्ष करके उसे बदलने की जगह यदि कोई विश्वास हमें उसकी ओर आंख मूंद लेने या उससे समझौता कर लेने को राय देता है तो वह अवांछनीय है।



मार्क्सवादो साहित्य एक ऐसी संस्कृति का हिमायती है जिसमें अतीत की प्रगतिशील परम्पराओं का वर्तमान की नई चेतना से सामंजस्य हो। पूँजीवादी व्यवस्था के उन सभी मानव सम्बन्धों को वह त्याज्य मानता है जो सामाजिक असमानताओं की उपज हैं। वह मानव जाति के एक अच्छे भविष्य का केवल सपना नहीं दिखाता वरन् उसे साकार बनाने की एक तर्क संगत योजना भी सामने रखता है। उसका लक्ष्य जीवन को एक नया मोड़ देने की प्रेरणा देना, अर्थव्यवस्था की एक नई रूपरेखा प्रस्तुत करना और मनुष्य में निहित असीम शक्ति में हमारा विश्वास जगाना है।

साहित्य और कला एक दूसरे के अविभाज्य अंग हैं। यदि कला साहित्य का शिल्प है तो साहित्य कला की आत्मा है। हर महान कलाकृति एक उच्चकोटि की कविता है जिसकी कल्पना और विचारदर्शन से हम अभिभूत होते हैं। मार्क्सवादी विचारधारा के अन्तर्गत कला कला के लिये नहीं जीवन के लिए है जिसका उद्देश्य जन-समूह की उस क्रांतिकारी चेतना को जगाना होना चाहिये जिससे समाज में परिवर्तन और पूर्णता आ सके। वह अपना सामाजिक दायित्व जीवन में स्वस्थ नैतिक मूल्यों की स्थापना करके निभाती है। कवि कोलरिज का अति व्यक्तिवादी सिद्धांत “हम प्रकृति से वही पाते हैं जो हम उसे देते हैं” कलाकार को समाज की मुख्य धारा से अलग कर देता है। वह अपने व्यक्तिगत सुख सपनों की दुनियाँ में खोया हुआ एक ऐसा स्वकेन्द्रित प्राणी बन जाता है जो यथार्थ के प्रति अपना कोई दायित्व नहीं मानता और जिसे बदलने की न उसमें प्रेरणा है न क्षमता। भूख और प्यास से उत्पीड़ित इस संसार की समस्याओं के विस्तार की परिधि से अपने को बाहर रख केवल अपने पर बीत रही से सम्बद्ध वह उस समष्टि की अवहेलना करता है जिसका वह एक अंग है। बादलेयर ने “कला कला के लिये” सिद्धांत को बचकाना कहा और यह विश्वास व्यक्त किया कि कला का कोई सामाजिक उद्देश्य होना चाहिये। ए० लेडिगिना के शब्दों में, “कला के अस्तित्व की सबसे महत्वपूर्ण शर्त यह है कि वह अपने समय के दुर्लभ प्रश्नों का उत्तर ढूँढे और लोगों के जीवन की सामाजिक आवश्यकताओं एवं उनकी आधारभूत रुचियों को ही अपना विषय समझे”।<sup>6</sup> मार्क्सवादी विचारक वार्डल्युकिन ने कला की सामाजिकता पर बल देते हुए कहा “साम्यवादी कला की सृजनात्मक प्रकृति उन लाखों लोगों की ऐतिहासिक सक्रियता पर आधारित है जो एक नये संसार के निर्माण में लगे हुये हैं। इसके सार्थक विकास की मुख्य शर्त लोगों का उत्पादन और सामाजिक कार्य के हर क्षेत्र से जुड़ा हुआ सृजनात्मक प्रयास है। विकास की वर्तमान स्थिति में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक हमारे समाज की प्रमुख विशेषता सत्य की ओर एक सक्रिय और क्रियात्मक दृष्टिकोण उन सभी कमियों से जो हमारे समाज की प्रगति में बाधक हैं गैर समझौता और जीवन को अधिक अच्छा, ज्यादा संपन्न और सुन्दर बनाने का प्रयास है”।<sup>7</sup>

मार्क्सवाद के अनुसार कला की बुनियाद समाज के सत्य पर आधारित वह यथार्थ है जिसे हम जीते हैं। यन्० ए० डोब्रोलीयुबोव की दृष्टि में “एक सच्चे राष्ट्रीय लेखक के लिये यह आवश्यक है कि वह न केवल जाने वरन् जीवन को स्वयं भुगत कर गहरा



अनुभव प्राप्त करे। उसे लोगों से प्रभावपूर्ण ढंग से जुड़ा होना चाहिये। उसे संसार को लोगों की दृष्टि से देखना चाहिये, उनके मष्तिष्क से सोचना चाहिये और उनकी इच्छा शक्ति से इच्छा करना चाहिये। उसे लोगों के शरीर और आत्मा में प्रवेश पाना चाहिये"।<sup>8</sup> स्पष्ट है कि इस सिद्धांत को मान कर चलने वाला लेखक अथवा कलाकार ही उस कृति का सृजन कर सकता है जिसमें आम आदमी अपने हृदय की धड़कन सुन सकता है।

कला का उद्देश्य जन समूह की उस क्रांतिकारी चेतना को जगाना है जो समाज में परिवर्तन और पूर्णता ला सके। वह अपने सामाजिक दायित्व को जीवन में स्वस्थ नैतिक मूल्यों की स्थापना करके निभाती है। ऐसा करने में उसे यथार्थ से कोई समझौता करने की आवश्यकता हो ऐसा भी नहीं है। गोर्की, आस्त्रोवस्की, शोलोखोव, प्रेमचन्द और यशपाल इसके उदाहरण हैं कि प्रगतिशील दृष्टिकोण का हामी भरने वाले कलाकार वास्तविकता के साथ न्याय करते हुये भी स्वस्थ जीवन-मूल्यों की स्थापना कर सकते हैं। लेनिन के अनुसार एक सही कलाकार हमारे जीवन के यथार्थ को ही हमारे सामने कलात्मक रूप में रखता है। कला का धर्म जहाँ एक ओर हमारे सौन्दर्य बोध के भाव को जगाना है वहीं वास्तविकता से हमारा परिचय कराना और यदि वह अवांछनीय है तो उसे बदलने की प्रेरणा भी देना है। कलापक्ष को निभाते हुये रचनाकार इस उद्देश्य को कैसे प्राप्त कर सकता है इसके उत्कृष्ट उदाहरण मैक्सिम गोर्की और प्रेमचन्द हैं।

गोर्की की कृति "द लाइफ़ ऑफ़ विलम सैमगिन" कला एवं सामाजिक विचारों के समन्वय का अनुपम उदाहरण है जो अपने युग के सामाजिक जीवन, राजनीतिक विचार-धाराओं और धार्मिक उहापोहों को सशक्त रूप में सामने रखती है। लेखक, पाठक को इस निर्णय पर ले आता है कि वह जनहित से बहुत दूर है और इस प्रकार अपनी रचना के कलापक्ष की अवहेलना किये बिना उसे वह सर्वहारा वर्ग के हितों का हिमायती बनाता है।

प्रेमचन्द की दो श्रेष्ठ कहानियाँ "ठाकुर का कुँआ" और "पूस की रात" जो दलित और आक्रांत वर्ग की बेचस जिन्दगी का लोमहर्षक चित्रण करती हैं इसके प्रमाण हैं कि कला की मर्यादा के भीतर एक महान साहित्यकार समाज की चेतना को किस सफलता से झकझोर सकता है। लेखक इन कहानियों में अत्याचार और शोषण की शक्तियों के विरुद्ध स्वयं एक शब्द भी नहीं कहता किन्तु विषय और घटनाक्रम के संयोजन के जादू से वह हर पाठक की संवेदना को उस सताये हुये वर्ग के लिये जागृत कर देता है जो समाज की ओर हताश आँखों से देख रहा है।

साहित्य के लिये कला की अपरिहार्यता पर अपना मत व्यक्त करते हुये माओ-त्सेतुंग ने कहा कि साहित्य कितना भी प्रगतिशील क्यों न हो यदि उसमें कला का



निखार नहीं है तो उसमें कोई शक्ति नहीं है। लेनिन ने भी कला को मात्र किसी विचार-धारा को व्यक्त करने का माध्यम बनाने के विरुद्ध चेतावनी दी और कला के क्षेत्र में कलाकार की व्यक्तिगत रुचि, विचार और कल्पना को भी महत्त्वपूर्ण माना। अपने समय के कई वामपंथी लेखकों की तुलना में तालस्ताय को महान बताते हुये उन्होंने इसे स्वीकार किया कि कला यदि किसी विचारधारा को स्थापित करती भी है तो उसे ऐसा केवल परोक्ष रूप से करना चाहिये।

मार्क्सवादी साहित्य और कला की विशेषता उसका यथार्थवादी दृष्टिकोण है जो संसार को उसके सही रूप में देखने, परखने और मानवहित में परिवर्तित करने पर बल देता है। परिवर्तन का उद्देश्य सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं से परे एक वर्ग-हीन समाज की स्थापना है। यथार्थ पर आधारित होने पर भी वह आशावादी है क्योंकि उसका विश्वास कर्म में है। मानव प्रयास और आत्मसर्जन को वह जीवन का संबल मानता है जिसके लिये एक नई मानव चेतना जो न्यायपूर्ण मानव सम्बन्धों पर आधारित हो, जगाना और उभारना उसका लक्ष्य है। मनुष्य अपनी योजना, आत्मविश्वास और परिश्रम से एक सुखी संसार का निर्माण कर सकता है, यह अडिग विश्वास उसके दर्शन की मूल चेतना है।

### संदर्भ

1. 1859 में मार्क्स के प्रिंफ़ेस टु ए कन्ट्रीब्यूशन टु द क्रीटीक् आफ़ पोलिटिकल इकोनामी।
2. कार्ल मार्क्स एण्ड फ्रेडरिक एंगल्स, "कलेक्टेड वर्क्स" वाल्यूम 5, मास्को 1976, पृष्ठ 59।
3. इजिनि ओनील, "द हेयरी एप" ( जोनेथन केप, लंदन, 1958 ) पृष्ठ 11।
- 4-5. फ़िफ़टी सोवियत पोयट्स, प्राग्रेस पब्लिसर्स, मास्को, 1974, पृष्ठ 243, 249।
6. "मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट इस्थेटिक्स् एण्ड लाइफ़," प्राग्रेस पब्लिसर्स, मास्को, 1976। पृष्ठ 88,
7. उपर्युक्त, पृष्ठ 181।
8. उपर्युक्त, पृष्ठ 174।



## स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी ग्राम कथा : सामाजिक संदर्भ—भावसंवादी दृष्टिकोण

श्रीकान्त पाण्डेय

भारतीय समाज आज विकास की जिस मंजिल पर है, परंपरा से सतत् विकास-शील प्रक्रिया का परिणाम है। यह बराबर से,—जब से इस धरती पर जीवन है, तब से लेकर लगातार आज तक द्वन्द्वपूर्ण प्रक्रिया से विकसित होता हुआ—आज जहाँ हम हैं, विकास के जिस स्तर पर हैं, वहाँ तक आया है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव समाज बराबर एक द्वन्द्वपूर्ण प्रक्रिया से गुजरता हुआ विकसित होता है। जो कुछ भी हम देख रहे हैं, सब इसी द्वन्द्वपूर्ण प्रक्रिया के परिणाम हैं। इस विकास के मूल में समाज के विकास की जीवनीशक्ति वह सामाजिक द्वन्द्व है जो समाज को निरंतर आगे ले जा रहा है। यह द्वन्द्व हर काल में, हर समाज में, हर क्षण हर वस्तु में होता रहता है। कहने का मतलब कि द्वन्द्व ही एक ऐसी सत्ता है जो वस्तु, समाज, जीवन सब कुछ का गुण धर्म है।

समाज के विकास की गति जटिल और द्वन्द्वपूर्ण होती है इसलिए साहित्य का भी विकास द्वन्द्वपूर्ण होता है। कारण—साहित्य भी समाज के ही अर्थ संबंधों को ग्रहण करता है—एक कलात्मकता के साथ, एक कलात्मक रचाव के साथ। साहित्य चाहे वह जिस किसी भी कोटि का हो अपना जीवन, अपनी खुराक समाज से ही लेता है; उसका जीवन समाज ही होता है।

ग्राम कथा का सीधा मतलब होता है 'गाँव की कहानी'—गाँव की 'माटी' से उपजा हुआ सम्पूर्ण ग्राम का वह व्यापकतम जीवन जो समाज में हो रहे परिवर्तनों, देश-काल और समाज के सापेक्ष उन परिवर्तनों के फलस्वरूप व सांसाजिक दबाव के चलते नये-नये बन रहे वर्गों और उनके आपसी अन्तर्विरोधों समाज की जटिलताओं के दबाव में उपजी गाँव की जटिल समस्याओं और जटिल चरित्रों के माध्यम से समग्रता के साथ जीवित गतिशील रूप में एक कलात्मक रचाव के साथ उसकी अभिव्यक्ति। यानि ग्राम-कथा अपनी अन्तर्वस्तु में गाँव के सम-सामयिक परिवेश, उसकी जटिलताओं, उसकी खुशियाँ, उसकी प्रकृति, उसके सम्पूर्ण जीवन व उसके आगे के विकास की दिशा, सब कुछ को कलात्मक रूप में समेटे रहती है।

आजादी के बाद छठे दशक में हिन्दी साहित्य में कथा-साहित्य पर उठे विवादों के संदर्भ में 'ग्राम कथा' शब्द अस्तित्व में आया। परस्पर वाद-विवाद कुछ इस कदर कटु हो गया कि ग्राम कथा, नगर कथा, कस्बाई कथा, आंचलिक कथा और नयी कहानी जैसे कई शब्द सतह पर जुमले बन-बन कर उछाल मारने लगे। जाहिर है यह दौर कथा साहित्य के लिए 'शीतयुद्ध' का दौर था और यह सब नाम कथा साहित्य को एक निश्चित स्वरूप देने की गरज से नहीं, बल्कि परस्पर 'रिमांकबाजी' से बने विवादात्मक वातावरण की



उपज थे, कथाकारों के ऊपर कथाकारों को स्थापित करने की भोड़ी, मगर खतरनाक साजिशों के परिणाम थे। 1947 में सत्ता हस्तान्तरण के बाद भारतीय समाज में आयातित पूँजीवादी जनतंत्र लागू किया जाता है। अंग्रेजों ने दो सौ साल के भीतर अपार भौतिक सम्पदा तथा हजारों साल की समृद्ध अपनी सभ्यता वाले देश को और उसके जीवन की एक-एक धमनियों और शिराओं में से एक-एक बूँद रक्त निचोड़ लिया था। उसकी सभ्यता को विकृत और विकलांग ही नहीं किया था, बल्कि देश को उसके अतीत से काट दिया था, शेष था तो आयातित पूँजीवाद और सत्ता में उसकी विकलांग भारतीय संताने।

15 अगस्त 1947 को मिली आजादी का जनता ने पुरजोर स्वागत किया था, अपनी बेबसी और भूख-भरी कंगाली की ही हालत में, इसलिए कि आजाद होने का सुख अब सब पर बहुत भारी पड़ता था साथ ही जनता ने आखिर उसी दिन के लिए ही तो महानतम कुर्बानियाँ दी थीं।

पर आजादी के बाद क्या कुछ बदलाव आया? आजादी के बाद ही देश के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या थी, भूख की। 'अंग्रेजी-राज' में जो सुखी थे 'नेहरू राज' में भी वही सुखी थे और उनके ऐशो आराध में बढ़ोत्तरी ही हुई। उधर जवता का जीवन और ज्यादा दुभर होता गया। देश के सामने चौरफा विकास की समस्याएँ थीं और ऐसी समस्याएँ जो कल्पना में भारत की शान हिमालय सरीखी ऊँची थीं। क्या इन सब समस्याओं से निपटना पूँजीवाद की उन विकलांग संतानों के बस का था? अगर होता तो समाधान हुआ होता। आजादी के तत्काल बाद देश में जो सबसे बड़ी घटना घटित होती है, वह है जमीन्दारी उन्मूलन। पर उससे लाभ बड़े समर्थ लोग ही उठा पाते हैं और 'अमशील' लोग अपने पेट की कुड़बुड़ाहट के साथ हवेलियों में बज रहे अय्यासी के मुपूरों की झंकार, जो अभेद्य दीवारों से छनकर बाहर आती थीं, सुनकर अपने जीवन पर और उस स्वप्न सरीखी आजादी पर आँसू बहाते रहे। जमीन्दारी खत्म हो जाती है पर अधिकार सुरक्षित रहते हैं। मेहनतकश लोगों पर जोर जबर्दस्ती और जुर्म बिना किसी रुकावट के उसी रफ्तार में होते रहते हैं। जनता के जीवन से जीवन-रस एक-एक बूँदकर नियरता जाता है। कहने को कागज पर बहुत सारी विकास योजनाएं लागू की जाती हैं पर उसका लाभ बड़े लोगों को ही मिलता है और देखते ही देखते जमींदार पूँजीपति किसान में तब्दील होता है, मझोले किसान, धनी किसान या 'कुलक' के रूप में तब्दील होते हैं, छोटे किसान मजदूर बनने पर बाध्य होते हैं और मजदूरों और किसानों के जीवन की बदहाली में बढ़ोत्तरी ही होती है, घटोत्तरी नहीं। गाँव में पूँजीवाद के प्रचार के चलते नए-नए वर्ग बनते हैं और उनके चलते, उनके बीच नए-नए अन्तर्विरोध पैदा होते हैं। वर्गीय दृष्टिकोण वर्ग की सचेतनता जितनी ज्यादा बढ़ती है, अन्तर्विरोध उतने ही गहरे होते जाते हैं और इसके साथ ही आजादी के दो दशकों के भीतर ही दो विश्व दृष्टिकोणों के बीच का अन्तर्विरोध उभर कर सामने आ जाता है। गाँवों में पूँजीवाद के विकास के चलते 'अम' का सीधा अन्तर्विरोध 'पूँजी' से हो जाता है। यह



बात पूरे भारतीय समाज के लिए सच होती है। भारतीय जीवन के पोर-पोर में पूँजी इस कदर घुस जाती है कि पूरे समाज में अलगव, विघटन, हताशा-निराशा, व्यक्ति-वादिता-कुण्ठा, संत्रास जैसे जहरीले मूल्य समाज में अस्तित्व में आते हैं। गेवई भाई चारा, एकाएक सब टूटने लगता है। पूरे सामाजिक ढाँचे में एक चरमराहट सी आने लगती है। पूँजीवाद के प्रवेश और प्रसार से भारतीय गाँवों में, भारतीय समाज में जो कुछ सार था, जो कुछ निर्मल था, अपनी परम्परा से निरन्तर विकसित हुआ जो कुछ विकासशील था, वह भी विकृत और 'उटपटांग' होने लगता है।

आयातित पूँजीवाद ने सामंतवाद को खत्म न कर अपने हितों के संरक्षण के लिए उसे संरक्षण दिया, इसके परिणाम स्वरूप स्थितियाँ और ज्यादा जटिल तथा गड़-मड़ु हो गयीं। भारतीय जनता का जीवन इससे और ज्यादा विषाक्त, कटु और जटिल होता गया। मध्ययुगीन सामंती मूल्य अवशेष के रूप में, मगर मजबूती के साथ समाज में, जनता के जीवन में, अपना रोल अदा करते रहे और आज भी जीवन के विशेषकर 'गेवई' जीवन के कई पक्षों को प्रभावित कर रहे हैं। बावजूद इसके 'श्रम' और 'पूँजी' का अन्तर्विरोध आज मुख्य अन्तर्विरोध के रूप में उभर कर आया। व्यवस्था अन्य चोतरफा संकट जनता के जीवन पर भयावह काले बादल की तरह निरन्तर मड़राते रहे और मड़रा रहें हैं। अन्तर्विरोध के निरन्तर गहरे होते जाने से जनता के भीतर बर्ग सचेतनता भी निरन्तर विकसित होती रही और बराबर अन्याय, दमन, उत्पीड़न के खिलाफ अपने हक के लिए उसने संघर्ष किया और उसे निरन्तर जारी किए हुए है। समग्रता में ऊपर कही हुई इन सारी बातों की अभिव्यक्ति हिन्दी ग्राम कथाओं में मुकम्मल तौर पर पूरे कलात्मक रचाव के साथ हुई। ग्राम कथाकारों ने भारतीय समाज, भारतीय जीवन और इसके विकास की दिशा को यथार्थ रूप में अपनी कथाओं में व्यक्त किया और हिन्दी ग्राम कथा को 'जातीय साहित्य' के रूप में स्थापित किया। इसी अर्थ में हिन्दी ग्राम कथा, हिन्दी साहित्य की एक महानतम उपलब्धि है।

शुरुआती दौर से ही हिन्दी ग्राम कथा को चोतरफा हमले से छेदने पड़े। कुण्ठा, संत्रास, अजनबियत और सेक्स विकृति को आधुनिकता का पर्याय मानकर आधुनिकता बोध के भ्रामक बुर्ज से हिन्दी के इस जातीय साहित्य पर बराबर तीखे हमले होते रहे पर अन्ततः यह विधा स्थापित हुई और केवल कथासाहित्य की ही मुख्य विधा के रूप में नहीं, बल्कि पूरे हिन्दी साहित्य की मुख्य विधा के रूप में—समग्र भारतीय जीवन को सम्पूर्ण अन्तर्विरोधों के साथ जनता के जीवन के अनुरूप 'रूप-विन्यास' के साथ।

आधुनिकता बोध के नाम पर जिस अजनबियत कुण्ठा, संत्रास, और सेक्स विकृति कुल मिलाकर 'एन्सर्ड' जीवन का वर्णन नगर कथाओं में हुआ, वह द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद यूरोपीय पूँजीवादी जीवन से पैदा हुए दर्शन का परिणाम था। वह 'एन्सर्ड' पन भारतीय जीवन की सच्चाई नहीं थी। वह एक महज आयातित रूप था। हँसी आती है जब अपने को प्रगतिशील समीक्षक कहलाने वाले लोग भी उसी बात की दुहाई देकर



जनता के सहज और भोले जीवन और उसके जीवन में भारतीय माटी की गंध, उसके दुःख, दर्द और उसके संघर्ष की अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य को छिछला और हल्का साहित्य कहते हैं। दरअसल यह कोई भटकाव भी नहीं, यह भारतीय जीवन पर हो रही साजिश का परिणाम है, भारतीय श्रमशील लोगों के जीवन पर चौतरफा हमला बोलने वालों और उसके साथ गद्दारी करने वालों के साहित्यिक संस्करणों ( हिन्दी की वस्तु परक समीक्षा में दूसरी परंपरा के खोजी ) की एक खतरनाक साजिश है।

आजादी के तत्काल बाद भारत में जनतंत्र के नाम पर पूँजीवादी व्यवस्था लागू की जाती है, पर यहाँ का पूँजीवादी जड़ सामंती समाज को तोड़कर जीवन में नयी-गति नया लय, नया उत्साह नहीं लाता, बल्कि जीवन की सहजता को और ज्यादा विकृत और जटिल करता है। यह समाज में टूट-फूट, निराशा और विघटन पैदा करता है। दरअसल यह विकलांग पूँजीवाद है, इसका यही चरित्र ही है। यह सामंतवाद का ध्वंस नहीं करता बल्कि उसे संरक्षण देता है। और उसे पूँजीवादी फार्म में तब्दील करने की निरंतर कोशिश करता है और उसमें काफी हद तक सफल भी होता है। यही कारण है कि आजादी के तत्काल बाद तमाम विकास योजनाएँ लागू किए जाने के बावजूद सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक स्तर पर सामंती और पूँजीवादी शोषण वदस्तूर कायम रहते हैं। उसकी मुकम्मल अभिव्यक्ति आजादी के तत्काल बाद की ग्राम कथाओं विशेषकर नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची,' 'बलचनमा' 'वरुण के बेटे', शेरव प्रसाद गुप्त के उपन्यास 'गंगा मैया', 'सत्ती मैया का चोरा' और रेणु जी के 'मैला आँचल' में हम देख सकते हैं। सामंती और पूँजीवादी शोषण-दोहन के खिलाफ जनता ने पंक्तिबद्ध होकर संघर्ष भी चलाया है। इसकी अभिव्यक्ति भी आजादी के बाद की ग्राम कथाओं विशेषकर नागार्जुन के उपन्यास 'वरुण के बेटे,' 'बलचनमा' और 'बाबा बटेसर नाथ' में हम देख सकते हैं।

सन् 1947 से आज तक के दीर्घ-काल के ग्राम कथा साहित्य का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि इस दौर में लम्बे काल के संघर्ष के बाद मिली आजादी और तमाम सरकारी विकास योजनाओं के प्रति भारतीय जनता के भीतर उपजी आशा, उत्साह और फिर उस आजादी के असली-चरित्र—पूँजीवादी चरित्र के चलते निराशा, टूटन, विखराव, अछगाँव और जमींदारों द्वारा दमन और उसका प्रतिरोध जो कुछ भी समाज में घटित हो रहा था, उसको यथार्थ रूप में ग्राम कथाकारों ने व्यक्त किया। भारतीय समाज के मूल अन्तर्विरोध को समझने में जो भूलें हुईं वह भी इस दौर की ग्राम कथा में व्यक्त हुईं। मसलन—सरकारी छद्म प्रगतिशीलता की आड़ में सामंतवाद की ही मुख्य अन्तर्विरोध के रूप में देखना। बावजूद इसके इस दौर के कथाकारों ने इस काल-खण्ड में जनता के जीवन, उसके दुःख उसकी पीड़ा और उसके संघर्षों को यथार्थ रूप में व्यक्त किया। इस दौर के कथा साहित्य की जो सबसे बड़ी विशिष्टता रही, वह यह कि ग्राम जनता के जीवन के प्रति लेखकीय प्रतिबद्धता स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आई, सामान्य श्रमशील जनता का जीवन कथा साहित्य का मुख्य अन्तर्वस्तु बना।



1966-67 तक पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि देश पूँजीवादी रास्ते पर चल रहा है। नेहरू के समाजवाद का ढोंग इस दौर में पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। इस दौर में कृषि में भी पूँजीवादी विकास बहुत तेजी से होता है। हर चीज पूँजी के आगोश में चली जाती है। गाँवों में पूँजी के प्रवेश और प्रसार के चलते पुराने गाँव टूटते उजड़ते नजर आते हैं। भारतीय संस्कृति में जो कुछ सर्वोत्तम था, पूँजीवाद के मुख्य अन्तर्विरोध के चलते ध्वस्त होता सा दीखता है। गाँव टूट रहे हैं, उजड़ रहे हैं, गाँव के किसान, मजदूर की जिन्दगी वद से बदतर होती जाती है। इस दौर की एक जो सबसे महत्वपूर्ण बात थी वह यह कि 'लोग बाग' नेहरू और इंदिरा गांधी के समाजवाद के ढोंग को समझने लगे थे। उससे पढ़े-लिखे लोगों का मोह भंग शुरू हो जाता है और समाज में एक व्यापक जनचेतना उभार लेने लगती है। किसान मजदूर अपने हक के लिए संगठित होने लगते हैं और संगठित होकर इस व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष चलाते हैं। मौजूदा व्यवस्था के खिलाफ नक्सलवाड़ी में किसानों का आन्दोलन जन-दमन का रूप ले लेता है और देखते ही देखते देश के विभिन्न हिस्सों में किसान हथियार उठा लेते हैं पर अपनी आत्मगत कमजोरियों के चलते यह संघर्ष भी बिखर जाता है।

दरअसल 67 से लेकर आज तक की हिन्दी ग्राम कथाएं भारतीय जनता के जीवन, भारतीय समाज के मुख्य अन्तर्विरोध को यथार्थ के गहरे स्तरों पर दिखाने में पूरी तरह समर्थ हैं। इन कथाओं के विश्लेषण के माध्यम से एक बात स्पष्ट होकर आ जाती है कि भारतीय जनता का मुख्य अन्तर्विरोध पूँजीवाद से है। समाज के भीतर मौजूद 'श्रम' और 'पूँजी' के बीच का अन्तर्विरोध मुख्य अन्तर्विरोध के रूप में इस दौर की कथाओं में व्यक्त हुआ है। बदले हुए भारत का 'समग्र गाँव' इस दौर की कथाओं की मुख्य अन्तर्वस्तु बना। प्रेमचन्द की भाव भूमि पर खड़े इस दौर के भारतीय कथा साहित्य का विकास इस दौर में हमें 'अलग-अलग वैतरणी', 'रीछ', 'घरती घन न अपना', 'राग दरवारी' कगार की आग', 'सुराज', 'कशप' और 'महाभोज' आदि कृतियों में समग्रता में देखने को मिलता है।

सामंती सम्बन्धों को अपने अनुकूल ढालकर आज पूँजी जीवन के पोर-पोर में घुस कर अपना रोल अदा कर रही है। गाँव के पुराने ढाँचे में तेजी से बदलाव आ रहा है—मगर यह बदलाव स्वस्थ और सुन्दर न होकर गड़बड़-गड़बड़ विकृत और विद्रूप होता जा रहा है। इस बदल रहे ग्राम्य जीवन को यथार्थ रूप में व्यक्त करने में स्वतंत्रता के वाद की ग्राम कथाएँ पूरी तरह से समर्थ हैं। "जनता का जीवन साहित्य के लिये अकूत खजाना है" इस उक्ति को स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी ग्राम कथाएँ अपनी पूरी शक्ति के साथ स्थापित करती हैं।









# तीसरी दुनियाँ के पिछड़ेपन के मार्क्सवादी प्रारूप

राजेन्द्र पाण्डेय

## I

### प्रस्तावना

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व के राजनीतिक पटल पर अद्वितीय परिवर्तन आया। उपनिवेशवाद को गहरा आघात पहुँचा। साम्राज्यवाद की नींव हिल उठी। सदियों के उपनिवेश स्वतंत्र राज्य बन गये। उन्होंने अपने अतीत के मालिकों के समान स्थान पा लिया। अब तक जिनकी उपेक्षा की जाती रही, जिनका शोषण होता रहा, उनके ही विकास के लिए विश्व में प्रयास होने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय शीत-युद्ध की स्थिति से तो इसे और बढ़ावा मिला। समृद्धशाली देशों में इन नवीन राष्ट्रों की पक्षधर बनने की होड़ लग गयी। ऐसी परिस्थिति में तीसरी दुनियाँ की समस्याओं पर समाज-वैज्ञानिकों का ध्यान गया। देखते ही देखते अगणित साहित्य सुलभ होने लगे। समाजशास्त्र का विकास इस समस्या को लेकर चरम सीमा पर पहुँच गया।

पिछड़े देश की समस्या के चिन्तन प्रवाह ने दो समाजशास्त्रों को जन्म दिया— 'विकास का समाजशास्त्र' ( Sociology of Development ) तथा 'पिछड़ेपन का समाजशास्त्र' ( Sociology of underdevelopment )<sup>1</sup> विकास के समाजशास्त्र का सम्बन्ध पाश्चात्य चिन्तकों से है तथा पिछड़ेपन के समाजशास्त्र का सम्बन्ध मार्क्सवादी चिन्तकों से है। प्रस्तुत निबन्ध में हमारा सम्बन्ध पिछड़ेपन के समाजशास्त्र से है।

सभी विचारों के पीछे पूर्वजों का हाथ होता है। पिछड़ेपन के समाजशास्त्र का उद्भव कार्ल मार्क्स के विकास सम्बन्धी विचारों की चर्चा से हुआ<sup>2</sup>। समसामयिक मार्क्सवादी चिन्तकों ने मार्क्स के विकास सम्बन्धी कुछ विचारों से सहमति व्यक्त की और कुछ से असहमति। परिणाम स्वरूप नव-मार्क्सवादियों के चिन्तन में कुछ विचारों को मार्क्स का ही विचार कहा जा सकता है, लेकिन कुछ नये विचार ऐसे हैं जो मार्क्स के विचारों से पृथक हैं। नव-मार्क्सवादी चिन्तकों ने मार्क्स के विचारों की परिचर्चा के दौरान तीन पृथक विचार प्रस्तुत किए हैं। प्रथमतः, तीसरी दुनिया की समस्याओं को मात्र उन देशों के आभ्यन्तरिक आधार पर नहीं समझा जा सकता। इनका विचार है कि इन्हें समझने के लिए विश्व-आर्थिक व्यवस्था ( world economy ) के पदों में समझना होगा जो प्रधानतया पूँजीवादी-साम्राज्यवादी हैं। इसके निबद्ध दूसरा विचार है कि पिछड़े देशों की समस्याओं का केन्द्र और पराश्रयता ( centre and dependence ) के आधार पर विश्लेषण



करना होगा, और यह विश्लेषण राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर करना होगा। पराश्रयता के सिद्धान्त ने साम्राज्यवाद की चर्चा को पुनर्जीवित कर दिया है। तीसरा, नव-मार्क्सवादी विचारकों ने उपनिवेशवाद के पश्चात् के उत्पादन स्वरूप पर ध्यान दिया है। इन तीन सिद्धान्तों के आधार पर नव-मार्क्सवादी चिन्तकों ने पिछड़े समाज की समस्याओं का कारण समझा है और फिर उसे दूर करने का उपाय सुझाया है। अनुवर्ती पृष्ठों में इन्हीं नव-मार्क्सवादी सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत है।

'पिछड़ेपन के समाजशास्त्र' की नींव 1950 के इर्द गिर्द पड़ी। प्रारम्भ नव मार्क्सवादी चिन्तकों ने पराश्रयता के सिद्धान्त (dependency theory) के माध्यम से लैटिन अमेरिका तथा अन्य पिछड़े देशों की समस्याओं का विश्लेषण किया। इस सिद्धान्त के मौलिक विचारकों में पाल प्रेविश्च, पाल ए० बरान, वाइ० लाकोस्टो, सी० फर्टाडो, तथा जान स्ट्रेची के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पराश्रयता सिद्धान्त के इन शास्त्रीय चिन्तकों का प्रभाव आधुनिक मार्क्सवादी चिन्तकों पर पड़ा जिनमें आन्द्रे गुन्डर फ्रैंक, समीर अमीन, एमैनुएल तथा वालरस्टाइन के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं।

पराश्रयता सम्प्रदाय (dependencia School) के विचारकों में इस बात को लेकर पूर्णतया सहमति है कि पूँजीवाद तीसरी दुनिया के देशों में आर्थिक विकास उत्पन्न नहीं कर सकेगा। इनका मत है कि साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के स्वरूप में ही निहित है कि पिछड़े देशों का विकास नहीं होगा। उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवादी देश पिछड़े देशों को उन्नति का रास्ता दिखायेंगे<sup>3</sup> और लेनिन ने इस बात पर मार्क्स से सहमति व्यक्त की थी। नव मार्क्सवादी मार्क्स के उक्त विचार से सहमत नहीं है उनका कहना है कि मार्क्स के पास अनुभववाचित तथ्यों की कमी थी। जहाँ नवमार्क्सवादियों में इस बात में एकमतता है कि पूँजीवाद पिछड़े देशों का विकास नहीं कर सकता, वहीं उनमें इस बात को लेकर मतवैपम्य है कि किस प्रकार पूँजीवाद पिछड़े देशों में पिछड़ापन उत्पन्न करता है।

बरान का विचार है कि पिछड़े देशों के पिछड़ेपन का मूल कारण साम्राज्यवाद-पूँजीवाद है जो देशज (indigenous) पूँजीवादी वर्ग को उभरने से रोक देता है। फलतः देशज पूँजीपति अपने देश का विकास करने के स्थान पर विदेशी पूँजीपति की सहायता करने लगते हैं। इससे पिछड़े देशों में क्रांति सम्भव नहीं हो पाती। विदेशी पूँजीपति का प्रभाव देशज पूँजीपति के न केवल कार्यों पर पड़ता है बल्कि उसकी आत्मा पर भी।<sup>4</sup> अमीन का विचार बरान से साम्य रखता है। अमीन ने विश्वस्तर पर पिछड़ेपन की, परिधिस्थ (peripheral) आर्थिक व्यवस्था की, तथा केन्द्र और परिधिस्थ सम्बन्धों की चर्चा की है। उनका विचार है कि पूँजीवादी व्यवस्था विश्वव्यापी व्यवस्था है। इसलिए पिछड़े देशों के पिछड़ेपन को विश्व बुर्जुआ और विश्व सर्वहारावर्ग के आधार पर देखना होगा।<sup>5</sup> एमैनुएल ने बरान और अमीन से पृथक् विचार व्यक्त किया है। इनके अनुसार पिछड़े देशों के पिछड़ेपन का कारण अच्छी मजदूरी का न होना है। परिसंचरण (circu-



lation) तथा उत्पादन के क्षेत्र में असमान विनिमय के कारण पिछड़ापन है। विकसित देशों की उच्च मजदूरी अविकसित देशों के निम्न मजदूरी का कारण है।<sup>6</sup> फ्रैंक के अनुसार विकास की वास्तविक समस्या 'विकास के विकास' (development of development) नहीं, वरन् 'अविकास के विकास' (development of underdevelopment) की है। इनके अनुसार केन्द्र और परिधिस्थ (centre-periphery) के बीच सम्बन्धों के परिणाम स्वरूप पिछड़े देशों में पिछड़ापन है। इस सम्बन्ध को एक समाज विशेष में और विश्व स्तर पर देखा जा सकता है।<sup>7</sup> फ्रैंक और वालरस्टाइन के विचारों में सामिप्य है।<sup>8</sup> इस प्रकार स्पष्ट है कि नव-मार्क्सवादी चिन्तकों में इस बात को लेकर असहमति है कि अविकसित देशों में पिछड़ापन कैसे उत्पन्न होता है, परन्तु उनमें पूर्ण सहमति है कि पूँजीवाद अविकसित देशों में विकृति उत्पन्न करता है।

पूर्ववर्ती विवेचन से स्पष्ट होता है कि नव-मार्क्सवादी चिन्तकों ने तीन सिद्धान्तों के आधार पर पिछड़े समाज के कारणों को स्पष्ट किया है :

1. अविकास के विकास की अवधारणा
2. विश्व व्यवस्था सिद्धान्त
3. पराश्रयता का सिद्धान्त

नवमार्क्सवादियों के पिछड़ेपन के विश्लेषण का सही बोध इन सिद्धान्तों की समीक्षा से हो सकेगा।

## II

### नवमार्क्सवादियों का पिछड़े समाजों के पिछड़ेपन का सिद्धान्त

अब आगे यह देखना समीचीन होगा कि उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों की मौलिक मान्यताएँ क्या हैं ?

#### १—अविकास के विकास की अवधारणा

अविकास के विकास (development of underdevelopment) के सिद्धान्त के प्रतिपादकों में फ्रैंक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। फ्रैंक ने यह विचार पिछड़े देशों के आर्थिक तथा सामाजिक इतिहास के विश्लेषण से निकाला है।<sup>9</sup> इनका तर्क है कि पिछड़े देशों का पिछड़ापन उनकी आदि या प्रारम्भिक अवस्था नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि यह पिछड़ापन सदियों के पूँजीवादी विकास और उसके विरोधों से उत्पन्न है। आज के पिछड़े देशों का स्वरूप उनके अपने अतीत के स्वरूप से पर्याप्त भिन्न है। सम्भव है कि आज के विकसित देशों का विकास न हुआ (undeveloped) हो, परन्तु वे पिछड़े (underdeveloped) कभी नहीं थे। पिछड़े देशों का समसामयिक पिछड़ापन पूँजीवादी देशों तथा उनके बीच के सदियों के सम्बन्ध का



परिणाम है। पिछड़े देशों का विकास तभी सम्भव है, जब वे पूँजीवादी देशों के चंगुल से मुक्ति पा जायेंगे। पूँजीवादी देशों का एक तरफ विकास हुआ तो साथ ही साथ उनके चंगुल में फँसे पिछड़े देशों का पिछड़ापन पैदा हुआ। ये दोनों क्रियाएं—विकसित देशों का विकास और पिछड़े देशों का पिछड़ापन—एक साथ घटित होती हैं। उदाहरणार्थ ज्यों-ज्यों ब्रिटेन धनाढ्य होता गया, भारत निर्धन होता गया। ऐसा इन दोनों देशों के बीच के सम्बन्धों के कारण हुआ।

## 2—विश्व-व्यवस्था सिद्धान्त

नव मार्क्सवादी चिन्तकों ने विश्लेषण की इकाई को बदल दिया है। स्मरणीय है कि आज तक एक 'समाज' विश्लेषण की इकाई था चाहे मार्क्स का वर्ग-सम्बन्ध हो, दुर्कीम का संविदा के पूर्व की दशा हो, या वेबर की संस्कृति द्वारा निर्धारित आर्थिक क्रियाओं के पीछे निहित प्रेरणाएं हों। नव मार्क्सवादी चिन्तकों का मत है कि समाज-स्तर के विश्लेषण से पिछड़े समाजों के पिछड़ेपन को आज के परिवेश में समझना सम्भव नहीं है। अतः उनका तर्क है कि समाज स्तर से हटकर विश्व-व्यवस्था ( world-system ) के आधार पर पिछड़े समाजों की समस्याओं के विश्लेषण की आवश्यकता है। जब तक विश्लेषण समाज-स्तर तक ही सीमित रहेगा, केवल आभ्यन्तरिक कारणों—संरचना और या व्यक्तित्व—पर बल दिया जाता रहेगा। इससे वास्तविकता को नहीं जाना जा सकता। इसलिए समसामयिक मार्क्सवादी चिन्तकों ने विश्व-व्यवस्था के आधार पर पिछड़े समाजों के विश्लेषण पर बल दिया। इनका कहना है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के राजनीतिक परिवर्तनों के सन्दर्भ में समाज विशेष के स्तर पर उसके पिछड़ेपन को समझ पाना असम्भव है।

विश्व व्यवस्था विश्लेषण में विश्व व्यवस्था के एकता की बात कही जाती है। विश्व-व्यवस्था की एकता विश्व आर्थिक व्यवस्था द्वारा बनाए रखी जाती है। विश्व-व्यवस्था सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय विकास व्यवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करता है। विश्व-आर्थिक व्यवस्था ( world economy ) का अर्थ है कि श्रम-विभाजन किसी देश विशेष तक सीमित न रहकर विश्व-स्तर पर है। संगठन की शक्ति तथा बाजार के माध्यम से आज पूरे विश्व में एक श्रम-विभाजन है, हालांकि कोई विश्व-राज्य जैसी व्यवस्था नहीं है। विश्व आर्थिक-व्यवस्था में असमान शक्ति के राज्य राजनीतिक एवं आर्थिक ढंग से संगठित हैं। विश्व-आर्थिक व्यवस्था की तीन मौलिक मान्यताएं हैं— ( १ ) अनेक देशों के बीच अन्तःक्रिया, ( २ ) विश्व आर्थिक व्यवस्था में पहुँच ( access ) और ( ३ ) विश्व आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण। दूसरे शब्दों में विश्व आर्थिक व्यवस्था की मान्यता है कि विश्व स्तर पर सामूहिक जीवन है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार या विनिमय सम्बन्धों से निर्मित हैं और विश्व में एक ही श्रम-विभाजन है।

विश्व - आर्थिक व्यवस्था प्रभुत्वशाली तथा पराभित राज्यों की बनी हैं।<sup>10</sup> सामूहिक वास्तविकता श्रम-विभाजन में निहित है। इसमें मौलिक इकाइयाँ केन्द्र



(centre) और परिधिस्थ (periphery) राज्य हैं और सामूहिक अस्तित्व विश्व-व्यवस्था केन्द्र तथा परिधिस्थ राज्यों की अन्तः क्रिया से उत्पन्न होता है। इस विश्व-व्यवस्था में जो प्रभुत्वशाली है, लाभान्वित होता है और जो पराश्रित हैं उन्हें हानि पहुँचती है। इस सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय असमानता विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम है। पिछड़े देशों का पिछड़ापन एक-विश्व पूँजीवादी-व्यवस्था के विविध भागों—केन्द्र तथा परिधिस्थ—के बीच के अन्तर्सम्बन्धों का परिणाम है। इसलिए पिछड़े देशों की समस्याओं को विकसित देशों के विकास से अलग कर नहीं समझा जा सकता।

### 3—पराश्रयता का सिद्धान्त

डास संतोस के अनुसार “पराश्रयता प्रतिबन्धयुक्त स्थिति है जिसमें देशों के एक समूह की आर्थिक व्यवस्था दूसरे देश समूह के विकास तथा विस्तार से प्रतिबन्धित है। दो या उससे अधिक आर्थिक व्यवस्थाओं के बीच का अन्तर्सम्बन्ध तथा विश्व-व्यापार व्यवस्था पराश्रय का सम्बन्ध बन जाता है जब कुछ देश स्वयं के आदेश से बढ़ते हैं जबकि अन्य देश पराश्रित होने के कारण प्रभुत्वशाली देशों के विस्तार के प्रतिबन्ध के रूप में ही बढ़ सकते हैं जो उनके विकास पर सापेक्ष या निषेधात्मक प्रभाव डाल सकता है।”<sup>11</sup> दूसरे शब्दों में, पराश्रयता का सम्बन्ध दो आर्थिक समूहों के बीच का अन्तर्सम्बन्ध है जिसमें एक प्रभुत्वशाली होता है और दूसरा पराश्रित। पराश्रित एक आन्तरिक दशा है जो विकसित राष्ट्रों से अलग है। पराश्रित देशों की नीति-निर्धारण की क्षमता बहुत कम होती है। प्रभुत्वशाली तथा पराश्रित देशों के बीच विषम सम्बन्ध होता है जिसमें पहला दूसरे के ऊपर अंकुश लगा सकता है। पराश्रयता एक प्रतिबन्धात्मक तत्व है जो आभ्यन्तरिक क्रिया और सामाजिक स्वरूप को बदल देता है।

पराश्रयता सिद्धान्त की कई व्याख्याएँ पाई जाती हैं, जिसमें पाँच बहुचर्चित हैं—

- 1—पराश्रयता सम्बन्ध के रूप में,
- 2—पराश्रयता एक प्रकार की संरचना के रूप में,
- 3—पराश्रयता साम्राज्यवाद के दूसरे चेहरे के रूप में,
- 4—पराश्रयता उत्पादन के स्वरूप के रूप में, और
- 5—पराश्रयता संचित शोषण के रूप में।

पराश्रयता सम्बन्ध के रूप में :—कुछ मार्क्सवादी चिन्तकों ने पराश्रयता को एक प्रकार का सम्बन्ध बताया है। यह प्रकार का परिधिस्थ अन्तर्सम्बन्ध बताया है। यह ऐसा सम्बन्ध है जिसमें प्रभुत्वशाली आर्थिक व्यवस्था परिधिस्थ आर्थिक व्यवस्था की दशा को निर्धारित करती है। पराश्रित देश में स्वतंत्रता का अभाव होता है।<sup>12</sup> फ्रैंक ने शोषणात्मक सम्बन्धों की शृंखला पर बल दिया है।

पराश्रयता संरचना के रूप में : अन्य मार्क्सवादी चिन्तक पराश्रयता को प्रतिबन्धी तत्व मानते हैं जो पराश्रित सामाजिक संरचना के आभ्यन्तरिक क्रिया को बदल देता है। इस विचारधारा के अनुसार विकासशील सप्ताज तथा पराश्रित सप्ताज की



आम्यन्तरिक गतिशीलता पृथक् होती है। इस दृष्टि से पराश्रयता एक विशिष्ट आर्थिक संरचना है जो इसे विकासशील समाजों से पृथक् करती है।<sup>13</sup> पराश्रित समाज की अपनी आन्तरिक समस्याएँ होती हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मात्र निर्यात की दृष्टि से वैदेशिक-राज्य-परिवृत्तप्रदेश ( export enclave ) है।<sup>14</sup>

पराश्रयता साम्राज्यवाद के दूसरे चेहरे के रूप में : नव मार्क्सवादी चिंतकों के एक समूह का विचार है कि साम्राज्यवादी सिद्धांत के दो चेहरे हैं। साम्राज्यवाद का एक सिद्धांत साम्राज्यवादी केन्द्र और उपनिवेश के बीच सम्बन्ध पर आधारित है जिसका प्रमुख ध्यान साम्राज्यवाद के कारणों से है। साम्राज्यवाद का दूसरा सिद्धांत साम्राज्यवाद तथा उपनिवेश के बीच सम्बन्ध देखता है और ध्यान इस बात पर केन्द्रित होता है कि साम्राज्यवाद का उपनिवेश की आर्थिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव है। पराश्रयता का संबंध साम्राज्यवाद के दूसरे स्वरूप से है। दूसरे शब्दों में, पराश्रयता का सिद्धांत साम्राज्यवाद के प्रभुत्व में आए पराश्रित देश की आर्थिक व्यवस्थाओं और प्रक्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित करता है। अब ध्यान विश्व-युद्ध के बाद की स्थितियों की ओर गया है। पूँजीवाद और उसकी प्रौद्योगिकी अभी जीवित रह सकती है जब उसे फैलने का भौगोलिक स्थान मिलेगा। पराश्रित देश स्वयं को विनष्ट कर पूँजीवादी व्यवस्था को जीवित रखते हैं।<sup>15</sup>

पराश्रयता उत्पादन के स्वरूप के रूप में : कुछ मार्क्सवादी चिंतकों ने पराश्रयता को उत्पादन का एक स्वरूप माना है। इनके अनुसार पराश्रित देशों में एक ऐसा उत्पादन स्वरूप उभर कर आया है जिसे अलावी ने 'उपनिवेशिक उत्पादन स्वरूप' कहा है।<sup>16</sup> आधुनिक समय में यह देखने को मिलता है कि कुछ पराश्रित देशों में औद्योगिक विकास हुआ है। लेकिन नव-मार्क्सवादी विचारक इसे वास्तविक विकास न मानकर पराश्रित विकास मानते हैं। उदाहरण स्वरूप काबोसो ने इसे 'सम्मिलित पराश्रित विकास' ( associated dependent development ) कहा, बार्नसियर ने पराश्रित औद्योगीकरण ( dependent industrialization ) का नाम दिया। तथा अलावी और टर्नर ने 'उपनिवेशोत्तर उत्पादन स्वरूप' ( post colonial mode of production ) बताया।<sup>17</sup>

पराश्रयता सञ्चित शोषण के रूप में : कुछ नवमार्क्सवादी चिंतकों ने पराश्रयता के सिद्धांत के साथ ही पूँजी सञ्चय की प्रक्रिया का विश्लेषण कर पिछड़े समाज की समस्याओं को स्पष्ट करना उचित समझा। इससे पूँजीवादी व्यवस्था की संरचना और विकास का पता चला सकेगा तथा इसके विरोधाभासों को स्पष्ट करने में सहायता मिलेगी। इसके प्रमुख विचारकों में फ्रैंक, अमीन, अरीघी आदि महत्त्वपूर्ण हैं।<sup>18</sup> पूँजी-सञ्चय विश्लेषण आदिम प्रारम्भिक तथा पूँजीवादी संचयन में अन्तर करता है, उत्पादन की असमान संरचना तथा सम्बन्धों को स्पष्ट करता है; ऐतिहासिक संदर्भ में पूँजी संचयन को स्पष्ट करता है तथा पूँजी-संचयन के असीम वर्ग-संचय की ओर संकेत करता है।



### III

#### पराश्रयता का स्वरूप

विगत विवरण में नव-मार्क्सवादियों के पिछड़ेपन के प्रमुख सिद्धांतों का संक्षिप्त विश्लेषण किया गया। अब यह देखना उचित होगा कि पराश्रित देश प्रभुत्वशाली देशों पर किन-किन स्वरूपों से निर्भर रहते हैं। चार प्रमुख पराश्रयता के स्वरूप परिलक्षित होते हैं :

1. उपनिवेशवादी पराश्रयता
2. वित्तीय-औद्योगिक पराश्रयता
3. प्रौद्योगिक-औद्योगिक पराश्रयता, और
4. सांस्कृतिक पराश्रयता

1. उपनिवेशवादी पराश्रयता : द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उपनिवेशों का स्वरूप बदल गया। इसके पहले साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद साथ-साथ थे। आधुनिक समय में साम्राज्यवाद बिना उपनिवेश के हैं। दूसरे शब्दों में, विश्व-युद्ध द्वितीय के पूर्व साम्राज्यवादी देश दूसरे देशों को अपना उपनिवेश बनाए बैठे थे लेकिन युद्धोत्तर काल में वे ऐसा कर सकने में असमर्थ हैं। अब वे राज्य-स्तर पर नियंत्रण नहीं कर सकते क्योंकि पूर्व के उपनिवेश अब स्वतंत्र देश बन गये हैं। अतः अब साम्राज्यवाद का नया विस्तार हुआ है। इस नवीन स्थिति में साम्राज्यवादी देश राज्य को उपनिवेश बनाने का प्रयास नहीं करते। उसके स्थान पर आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व स्थापित कर नव-उपनिवेशवाद ( neo-colonialism ) को जन्म दिया है। यों भी साम्राज्यवादी देशों का अपने उपनिवेशों पर राजनीतिक आधिपत्य के साथ आर्थिक आधिपत्य था। अतः आर्थिक संबंध उपनिवेश बसाने वालों के पक्ष में था। लेकिन इस परिवर्तित परिस्थिति में नव-उपनिवेशवाद की स्थापना हुई है। यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उपनिवेश समाप्त हो गये, फिर भी साम्राज्यवादियों की अभिवृत्तियों में परिवर्तन नहीं हुआ।

2. वित्तीय-औद्योगिक पराश्रयता : इस पराश्रयता के स्वरूप को नव-मार्क्सवादियों ने अनेक नाम दिये हैं जैसे वित्तीय औद्योगिक पराश्रयता ( डॉस सन्तोस ), 'निर्यात आर्थिक व्यवस्था ( लेविन ) तथा 'विदेशोन्मुख विकास' ( मिडाल )<sup>19</sup>। इस प्रकार की पराश्रयता में पराश्रित देश का उत्पादन प्रभुत्वशाली देश की माँग पर आश्रित है। फलतः पराश्रित देश में प्रधानतया निर्यात ( export ) के लिये उत्पादन किया जाता है। इसलिये पराश्रित देशों में विशेषीकरण अपरिवर्तनीय होता है और समस्त उत्पादन प्रायः एक ही प्रकार का होता है।

3—प्रौद्योगिक-औद्योगिक पराश्रयता—यों द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उप-निवेशवाद लगभग विश्व से समाप्त हो गये, परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि स्वतंत्र देश वास्तव में स्वतंत्र हो गये। एक नये तरह का साम्राज्यवाद तेजी से शुरु



हुआ जो बहुदेशीय निगम ( Multinational Corporation ) के रूप में परि-  
लक्षित हुआ। बहुदेशीय निगम पराश्रितदेशों के उन व्यापारों में धन लगाने लगे जिसका  
पिछड़े देश में व्यापार होता है। साथ ही साथ ऐसे भी क्षेत्रों में पूँजी-निवेश करने लगे  
जिससे प्रभुत्वशाली लोगों की माँग पूरी हो सके। पिछड़ी प्रौद्योगिकी तथा निम्न स्तरीय  
औद्योगिक विकास के कारण देशज व्यापार बहुदेशीय निगमों के समक्ष टिक नहीं सका  
क्योंकि वस्तु का उत्पादन उच्च स्तर का नहीं हो पाता। साथ ही कम मजदूरी देकर  
देशज कच्चे माल से सामान तैयार कर अपने देश की माँग पूरी करते हैं।<sup>20</sup> बहुदेशीय  
निगम ( MNCS ) बाजार की शक्ति, संगठनात्मक योजना, राज्यवाद, तथा प्रत्यक्ष  
पूँजी-नियोजन के क्रियातंत्र के माध्यम से कार्य करते हैं। पराश्रित देश में असमानता  
और अस्थिरता पैदा करते रहते हैं।<sup>21</sup>

4-सांस्कृतिक पराश्रयता--नवमाक्सवादी चिन्तकों का मत है कि बहुदेशीय  
निगम ( MNCS ) न केवल आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन को प्रभावित करते हैं;  
अपितु सांस्कृतिक साम्राज्यवाद उत्पन्न करना चाहते हैं। इसके लिए बहुदेशीय निगम  
अनेक हथकण्डे अपनाते हैं। प्रथमतः वे पराश्रित देशों में विकसित देशों में उपयोग होने  
वाली वस्तुओं का प्रचार-प्रसार करते हैं। उपभोक्ता-प्रतिमान के इस हस्तान्तरण का उनको  
एक लाभ यह होता है कि पराश्रित देश के भीतर एक ऐसा समूह पैदा हो जाता है जिनका  
उपभोक्ता प्रतिमान वही है जो उनके देश का। और, यह जन्म देता है दो वर्गों को--धनी  
तथा निर्धन। धनी वर्ग में विकसित देशों के सामान को प्राप्त करने की उत्कट  
लालसा बनी रहती है क्योंकि वे ही उन्हें 'मैंहगे दामों' पर भी खरीद सकते हैं निर्धन-वर्ग  
स्वेच्छा, और कतिपय स्थितियों में मजदूरी से, स्वदेशी सामानों का उपभोग  
करता है।

उपभोक्ता हस्तान्तरण का दूसरा प्रभाव देशज उत्पादन पर पड़ता है।<sup>22</sup> पराश्रित  
देश प्रायः उन वस्तुओं के उत्पादन में जुट जाता है जो अभिजात-वर्ग चाहता है। इससे  
जन-साधारण के उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन उपेक्षित हो जाता है। दूसरे शब्दों  
में, शनैः-शनैः यह स्थिति आ जाती है कि जिन वस्तुओं का उत्पादन बहुदेशीय निगम  
पराश्रित देश में करते हैं वे प्रायः पराश्रित देश की सामान्य आवश्यकताओं के अनुकूल  
नहीं हैं।<sup>23</sup>

इतना ही नहीं, बहुदेशीय निगम पराश्रित देश में एक विशिष्ट वर्ग की संरचना  
करते हैं जो उनके हितों की पुष्टि करती है। प्रथमतः मालिकों तथा सर्वोच्च व्यवस्थापकों  
का एक अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग तैयार करते हैं जिनके सदस्य केन्द्र तथा पराश्रित दोनों देशों के  
होते हैं। इसी प्रकार एक वर्ग निम्नतम स्तर पर श्रमिकों को तैयार करते हैं जिनका  
अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य होता है। उनकी मौलिक विशेषताएँ समस्त विश्व में एक जैसी होती  
हैं। इसे नव माक्सवादियों ने 'श्रमिक कुलीनतन्त्र' (Labour Aristocracy) कहा है।<sup>24</sup>  
इन उच्च और निम्न वर्ग के बीच एक तीसरा मध्य वर्ग तैयार करते हैं जो देशज व्यक्तियों



का बना होता है। इनमें यह भावना जाग्रत कर दी जाती है कि बहुदेशीय निगमों के लाभ में ही उनके देश और उनका स्वयं का हित निहित है। इस मार्क्सवादी चिन्तक 'पाइलायों'-का स्थानीय-विक्रयकर्ता वर्ग' ( Comprador class ) या 'बुल-पदाधार वर्ग' ( bridge-head class ) कहते हैं।<sup>25</sup>

इस प्रकार पराश्रयता मात्र आर्थिक अभाव ही नहीं बरन सामाजिक मानसिक एवं सांस्कृतिक परनिर्भरता की स्थिति बन जाती है।

#### IV

पिछड़े समाजों के विकास के नव-मार्क्सवादी सुझाव

पूर्ववर्ती विवरण में पिछड़ेपन के मार्क्सवादी सिद्धान्तों की समीक्षा की गयी। साथ ही पराश्रित समाजों की समस्याओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया। अब पिछड़ेपन के मार्क्सवादी सुझावों की ओर ध्यान देना यथोचित होगा। नवमार्क्सवादियों का सुझाव है कि प्रथमतः पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना होगा और उसके स्थान पर समाजवाद की स्थापना करनी होगी, तभी पिछड़े देशों का विकास सम्भव है। लेकिन यह सर्वविदित है कि पूँजीवाद को उखाड़ फेंकना आसान नहीं है। इसलिए उनका दूसरा सुझाव है कि इसके लिए आन्दोलन की आवश्यकता है। और यदि आन्दोलन सफल न हो तो क्रान्ति की आवश्यकता है—देश में रक्तपात करना होगा और विश्वस्तरीय पर सर्वनाश ( holocaust ) करना होगा। उनका तीसरा सुझाव है कि इसे केवल सर्वहारावर्ग ही सम्पन्न कर सकता है। और वह सर्वहारावर्ग जो समाजवाद द्वारा मुक्ति पा चुका हो। इसके लिए बुर्जुआवर्ग को अपदस्थ करना होगा।<sup>26</sup>

#### V

सारांश एवं निष्कर्ष

हमने अपना विवेचन उन परिस्थितियों के वर्णन से प्रारम्भ किया जिसके कारण तीसरी दुनिया के देशों<sup>27</sup> के पिछड़ेपन पर विद्वानों की अभिरुचि बढ़ी। यह स्पष्ट किया गया कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अभूतपूर्व राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तन हुए जिसके कारण इन देशों की समस्याओं पर चिन्तकों का ध्यान गया।

मार्क्स के विकास सम्बन्धी विचारों के चिन्तन से सप्तसामयिक विचारकों ने तीन विचारों का निर्माण किया है। एक है विश्व-आर्थिक व्यवस्था का सिद्धान्त, दूसरा है साम्राज्यवादी सिद्धान्त का पुनर्जीवन, तथा तीसरा है उपनिवेश की समाप्ति के बाद के उत्पादन का स्वरूप। नव-मार्क्सवादी चिन्तकों ने मार्क्स के कतिपय विचारों को स्वीकारा है लेकिन कुछ विचारों से उन्होंने असहमति व्यक्त की है।

नव-मार्क्सवादी चिन्तकों का दृढ़ विश्वास है कि पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था से पिछड़े देशों का आर्थिक विकास होना असम्भव है। उनका तर्क है कि जहाँ-जहाँ पूँजीवाद पहुँचा है, वहाँ-वहाँ पिछड़े देशों का पिछड़ापन बढ़ा है। यों इन चिन्तकों में इस बात को



लेकर मत वैषम्य है कि पूँजीवाद किस प्रकार पिछड़ापन पराश्रित देशों में उत्पन्न करता है।

नव-मार्क्सवादी विचारधारा तीन परस्पर निवृद्ध सिद्धांतों से निर्मित है। विश्व-व्यवस्था, अविकास का विकास तथा पराश्रयता।

पराश्रयता के चार प्रमुख स्वरूप उभर कर सामने आए हैं। वे हैं : उपनिवेशवादी पराश्रयता, वित्तीय-औद्योगिक पराश्रयता, प्रौद्योगिक-औद्योगिक पराश्रयता, और सामाजिक-सांस्कृतिक पराश्रयता।

पिछड़ेपन के मिटाने का प्रमुख परामर्श है कि पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंका जाय, उसके स्थान पर समाजवाद को स्थापित किया जाय। इसके लिये आवश्यक है कि वृजुआ वर्ग को समाप्त कर सर्वहारा वर्ग के हाथ शासन की वागडोर दी जाय। यदि आन्दोलन से ऐसा करना सम्भव न हो तो राष्ट्रस्तर पर रक्तस्नान की आवश्यकता है और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सत्यानाश की।

### संदर्भ

1. नवीनतम विवरण के लिए देखें जान जी० टेलर, फ्राम माडर्नाइजेशन टू मोडर्न आफ प्राइवसन: ए क्रिटिक आफ द सोसियालाजिज आफ डेवलपमेण्ट एण्ड अण्डरडेवलपमेण्ट ( लण्डन: मैकमिलन, 1979 )
2. इन विचारों की सक्षित समीक्षा के लिए देखें: टाम बाटोमोर, "मार्क्सिज्म एण्ड सोसियालाजी," पृ० 118-148, टाम बाटोमोर तथा राबर्ट निसवेट ( सम्पादक ) ए हिस्ट्री आफ सोसियालाजिकल एनलसिस ( लण्डन: हाइनेमैन, 1979 )
3. कार्ल मार्क्स, कैपिटल : ए क्रिटिकल एनलसिस आफ कैपिटलिस्ट प्राइवसन ( लण्डन: लोरेन्स एण्ड विशाट, 1974 ), पृ० 19; "द पयूचर रिजल्टस आफ ब्रिटिश रुल इन इण्डिया," न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून अगस्त 8, 1853, श्लोमो अभिनेरी (सम्पादक) कार्ल मार्क्स आन कोलोनियलिज्म एण्ड माडर्नाइजेशन ( गार्डन सिटी; न्यूयार्क: एंकर बुक्स, 197० ), पृ० 59; बी० आई० लेलिन, द हाइएस्ट स्टेज आफ कैपिटलिज्म ( मास्को प्राग्रेस: पब्लिशर्स, 1970 ), पृ० 59.
4. पाल ए वरान, द पालिटिकल एकोनामी आफ ग्रोथ ( न्यूयार्क: सागानी एण्ड मुन्सेल 1957 ).
5. समीर अमीन, अकुमुलेशन आन ए वर्ल्ड स्केल, २ खण्ड ( न्यूयार्क: मन्थली रिव्यू प्रेस, 1974 ), पृ० 1, 15,
6. आर्चिरी एमैनुएल, अनइक्वल एक्सचेंज : ए स्टडी आफ द इम्पीरियलिज्म आफ द ट्रेड ( न्यूयार्क: मन्थली रिव्यू प्रेस, 1972 ), पृष्ठ 378-380
7. आन्ड्रे गुण्डर फ्रैंक, कैपिटलिज्म एण्ड अण्डरडेवलपमेण्ट इन लैटिन अमेरिका (न्यूयार्क: मन्थली रिव्यू प्रेस, संशोधित संस्करण, 1969 )



8. इमैन्युएल वालरस्टाइन, द ओरिजिन्स आफ माडर्न वर्ल्ड सिस्टम (न्यूयार्क; अकेडेमिक प्रेस, 1974), "डिपेन्डेन्स इन ऐन इण्टरडिपेण्डेंट वर्ल्ड," अफ्रिकन स्टडीज रिव्यू खण्ड 17 ( अप्रैल, 1974 )
9. आन्ड्रे गुण्डर फ्रैंक, "द डेवलपमेण्ट आफ अण्डर डेवलपमेण्ट," मंथली रिव्यू खण्ड 18 ( सितम्बर, 1966 ), पृष्ठ 17-31.
10. विश्व-व्यवस्था के लिए देखें वालकर बार्नसियर, "मल्टी नेशनल कापॉरेशन्स; एकोनामिक पालिसी, एण्ड नेशनल डेवलपमेण्ट इन द वर्ल्ड सिस्टम," इण्टर-नेशनल सोसल साइन्स जर्नल, खण्ड 32, अंक 1 ( 1980 ), पृष्ठ 158-172, अल्बर्ट वॉर्जेसेन, "इज देयर ए वर्ल्ड मोड आफ प्राडक्सन ? ए कमेण्ट," कन्टेम्पोरेरी क्रोइसेस खण्ड 6 (1982), पृष्ठ 91-96.
11. थियोटोनीयो डास सन्तोस, "द स्ट्रक्चर आफ डिपेन्डेन्स," अमेरिकन एकोनामिक रिव्यू, खण्ड 60, अंक 2 (मई, 1970), पृष्ठ 231-236.
12. इब्रान राक्सवारो, थियरीज आफ अडरडेवलपमेण्ट ( लण्डन : मैकमिलन, 1979)
13. ए० निवजानो, "द मार्जिनल रोल आफ द एकातामी एण्ड द मार्जिनलाइज्ड लेबर फोर्स", एकोनामी एण्ड सोसायटी खण्ड 3, अंक 4 (1974), पृष्ठ 398-399.
14. ओसवाल्डो सुंकेल, "ट्रान्सनेशनल कैपिटलिज्म एण्ड नेशनल डिसइण्टिग्रेशन इन लैटिन अमेरिका", सोसल एण्ड एकोनामिक स्टडीज खण्ड 22 ( मार्च, 1973 ), पृष्ठ 152-176,
15. एस० बोडेनहाइमर, "डिपेन्डेन्सी एण्ड इम्पीरियलिज्म", एन ए सी एल ए न्यूजलेटर, खण्ड 4 ( 1970 ); रोजा लक्सम्बर्ग, द अकुमुलेशन आफ कैपिटल ( न्यूयार्क : मंथली रिव्यू प्रेस, 1964 ); जान गाल्डुंग, "ए स्ट्रक्चरल थियरी आफ इम्पीरियलिज्म," जर्नल आफ पीस रिसर्च खण्ड 8 (1971),
16. एच० अलावी, "इण्डिया एण्ड द कोलोनियल मोड आफ प्राडक्सन," सोसलिस्ट रजिस्टर ( लण्डन: मलिन प्रेस, 1975 ),
17. देखें एफ० एच० कार्डोसो, "एसोसिएटेड डिपेण्डेंट डेवलपमेण्ट : थियोरेटिकल एण्ड प्रैक्टिकल इम्प्लिकेशन्स," ए० स्टेपान ( सम्पादक ), अथॉरिटेरियन ब्राजील : ओरिजिन्स, पालिसिज. एण्ड फ्यूचर ( न्यू हैवेन, कनेक्टिकट : येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1973 ); अलावी, पूर्वोक्त, वालकर बार्नसियर, "डिपेण्डेंट इण्डस्ट्रियलाइजेशन इन द वर्ल्ड एकोनामी : सम कमेन्ट्स एण्ड रिजल्ट्स कन्सर्निंग ए रिसेण्ट डिबेट- "जर्नल आफ कंपिलक्ट रिजोल्यूशन", खण्ड 25 अंक 3 सितम्बर, 1981 ) पृष्ठ 371-400; ब्रियान टर्नर, मार्क्सिज्म एण्ड द एण्ड आफ ओरिएंटलिज्म.
18. आन्ड्रे गुण्डर फ्रैंक, वर्ल्ड अकुमुलेशन, 1492-1789 (लण्डन : मैकमिलन, 1978); अमीन, पूर्वोक्त; जी० अरीफी और जान एस० सोल, एसेज आन द पालिटिकल एकोनामी आफ अफ्रीका ( न्यूयार्क मंथली रिव्यू प्रेस, 1972 )



19. दास सन्तोम, पूर्वोक्त, बी० आई० लेविन, द एक्सपोर्ट एकोनामीज [ हीरे-वर्ड : द यूनिवर्सिटी प्रेस, 1964 ]; फ्रैंकवायस क्राउजेट, "टूवार्ड एन एक्सपोर्ट एकोनामी ब्रिटिश एक्सपोर्ट्स इयूरिंग द इण्डस्ट्रियल रिवोल्यूशन," एक्सप्लोरेशन्स इन एन्ट्रोप्रेन्योरियल हिस्ट्री खण्ड 18 [ 1980 ], गुन्नार मिरडाल, एशियन ड्रामा [ लण्डन: पेनग्विन, 1९68 ] .
20. राविन मुर्रे, "अण्डरडेवलपमेण्ट, इण्टरनेशनल फर्मस एण्ड द इण्टरनेशनल डिवीजन आफ लेवर," दू वर्ड्स न्यू वर्ल्ड एकोनामी में [ राट्टरडैम : राट्टरडैम यूनिवर्सिटी प्रेस, 1972 ]
21. वोल्कर वानंशियर, क्रिस्टाफर चेज-डन्न, और रिचार्ड रविन्सन, "क्राम-नेशनल एविडेन्स आफ द इफेक्ट्स आफ फारेन इनवेस्टमेण्ट एण्ड एड आन एकोनामिक ग्रोथ एण्ड इनइक्वैलिटी. ए सर्वे आफ फाइण्डिंग्स एण्ड ए रीएनलिसिस," अमेरिकन जर्नल आफ सोसियालाजी खण्ड 84, अंक 3 [ नवम्बर, 1978 ] पृष्ठ 651-683
22. उत्पादन और उपभोग के सम्बंधों के शास्त्रीय विचारों के लिए देखें कार्ल मार्क्स, ए कपिटल्लियुशन दू द क्रिटीक आफ पालिटिकल एकोनामी [ शिवागो: शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, 1904 ], पृष्ठ 280; थार्सटाइन वेब्लेन, थियरी आफ द लेजर क्लास (न्यूयार्क : मेण्टर बुक्स, 1953 ), पृष्ठ 61 समसायिक विवेचन हेतु देखें : जान के गालब्रेथ द अपलूएण्ट सोसायटी ( कैम्ब्रिज: रिवरसाइड प्रेस, 1958 ), पृ० 159, 158, 124,
23. स्टीफेन जे० कोब्रिन, "मल्टीनेशनल कार्पोरेशन्स, सोसियोकल्चरल डिपेन्डेन्स, एण्ड इण्डस्ट्रियालाइजेशन : नीच सैटिस्फैक्शन आर वाण्ट क्रिएशन," द जर्नल आफ डेवलपिंग एरियाज खण्ड 13, अंक 2 ( जनवरी 1979 ), पृष्ठ 109-125
24. एन पोलन्टजाज लेस क्लासेज डैन्स लैकैपिटललिस्मे डी, औजोर्ड' हुई ( सेउइल पैरिस, 1974 ), पृ० 17
25. जान गाल्टुङ्ग, द स्ट्रक्चरल थियरी आफ एम्पीरियललिस्म," जर्नल आफ पीस रिसर्च खण्ड 8 ( 1971 ).
26. इन सुझावों के संक्षिप्त विवरण के लिए देखें आन्ड्रे गुण्डर फैंक, आन कैपिटलिस्ट अण्डर डेवलपमेण्ट ( बम्बई : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1979 ) पृष्ठ 104-110.
27. दुनियाँ के आर्थिक आधार पर तीन वर्गों में विभाजन की अवधारणा के लिए देखें इविंग लूइस होरोविज, ग्री वर्ल्ड्स आफ डेवलपमेण्ट : द थियरी एण्ड प्रैक्टिस आफ इण्टरनेशनल स्टूडीफिकेशन ( न्यूयार्क : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1966 ) प्रथम दुनियाँ में पाश्चात्य देश तथा अमेरिका सम्मिलित है। दूसरी दुनियाँ रूस तथा अन्य साम्यवादी देश हैं और तीसरी दुनियाँ में लैटिने अमेरिका और एशिया के देश हैं )।

२३ से २५ मार्च १९८४ को समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा आयोजित विचार-मोष्ठी: "मार्क्स, एशिया और समाज शास्त्र" में प्रस्तुत प्रबन्ध ।



## भारतीय कृषि उत्पादन पद्धति की मार्क्सवादी समीक्षा

कँवर पाल सिंह

लगभग पिछले बारह वर्षों से भारतीय कृषि की उत्पादन पद्धति से संबंधित, स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में संवाद चल रहा है। इसमें भाग लेने वाले भारतीय और विदेशी समाजवैज्ञानिक हैं।<sup>1</sup> अधिकांश वैज्ञानिकों ने मार्क्सवादी कार्यविधि की ( Marxist-methodology ) अवधारणाओं का प्रयोग किया है और वे यह मानकर चले हैं कि भारतीय कृषि मार्क्सवादी प्रारूप ( Marxist model ) लागू होता है। इन विद्वानों में भारतीय यथार्थ के कुछ पक्षों पर मतैक्य है और कुछ पक्षों पर मत भिन्नता है। उत्पादन पद्धति सम्बन्धी सम्वाद और साहित्य की संक्षिप्त समीक्षा प्रेषित करते हुए हम कुछ मुख्य प्रवृत्तियों को निकालने का प्रयास करेंगे और यह भी देखेंगे की इस संवाद ( debate ) से भारतीय स्थिति को समझने की क्या दृष्टि मिलती है। एलिस थोरनर<sup>2</sup> ने इस संवाद के प्रमुख मुद्दों की समीक्षा इस प्रकार की है।

( 1 ) क्या भारतीय कृषि में पूंजीवाद है ? अगर है तो कितने अंशों में ? क्या देश के केवल कुछ भागों तक पूंजीवादी कृषि सीमित है ? या उत्पादन की प्रबल पद्धति ( dominant mode of production ) है ? क्या इससे कृषि की उन्नति हो रही है ? किन्तु आधारों पर पूंजीवाद को प्रमाणित या अप्रमाणित किया जा सकता है ?

( 2 ) कृषि में पूंजीवाद के विपरीत मत यह है कि भारतीय कृषि अभी तक पूंजीवाद और अर्द्धसामन्ती सम्बन्धों पर आधारित है। क्या ये सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों पर रोक लगाते हैं ? और परिवर्तन को अवरुद्ध करते हैं ?

( 3 ) मार्क्स ने उत्पादन पद्धतियों के जो स्वरूप ( दासता, सामन्तवाद, पूंजीवाद और एशियाई उत्पादन पद्धति ) दिये हैं, क्या उनके अनुसार वर्तमान भारत का चरित्र-चित्रण किया जा सकता है ? उपनिवेश होने कारण क्या नयी उत्पादन की पद्धति को जोड़ा जा सकता है ? क्या एक ही समाज संरचना में, एक ही अवधि में, एक से अधिक उत्पादन पद्धतियाँ रह सकती हैं ? यदि ऐसा है तो क्या उन पद्धतियों में परस्पर संघर्ष हो रहा है ? और उस संघर्ष का प्रतिफल क्या निकलेगा ?

( 4 ) स्वतंत्रता से पूर्व (सन् 1947) उपनिवेशिक काल में भारत में क्या विशेष प्रकार की उत्पादन पद्धति थी ?

( 5 ) कौन-कौन से महत्वपूर्ण ग्रामीण वर्ग हैं ? उनके विभाजन के आधार क्या हैं ? और गाँव की जन संख्या में कितने लोग किस वर्ग में हैं ?



( 6 ) भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों में संघर्ष की मुख्य धाराएँ क्या हैं ? और उनके संदर्भ में सरकार की क्या भूमिकाएँ हैं ? क्या संघर्ष सम्पूर्ण ग्रामीण भारत में व्याप्त हैं ?

( 7 ) उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर से किस प्रकार की कार्य शैली उत्पन्न होती है ? और घामपंथी पार्टियों की भूमिकाएँ क्या हैं ?

पूँजीवादी कृषि से संबंधित कुछ ऐसे मुद्दे भी हैं जिन्हें एलिस थोरनर ने नहीं उठाया है। उनमें एक महत्वपूर्ण स्केल (scale) का है। पूँजीवादी कृषि का क्षेत्र गांव है। गांव छोटा क्षेत्रीय समुदाय (small territory community) है, किन्तु उत्पादन (Commodity) से यह छोटा समुदाय राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्केल से जुड़ता है। अतः हम और मुद्दे उठा सकते हैं—

( 1 ) छोटे क्षेत्रीय समुदाय का बड़े क्षेत्रीय समुदायों से प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (functional relation) का चरित्र क्या है ?

( 2 ) एलिस थोरनर ने ग्रामीण वर्गों के जनानकीय (demographic) पक्ष को मुद्दा बनाया है, परन्तु ग्रामीण वर्गों का राजनीतिक प्रकार्य (political function) और उनकी शक्ति संरचना (power structure) के चरित्र की व्याख्या करना आवश्यक है।

( 3 ) पूँजीवादी कृषि का अत्यन्त महत्वपूर्ण मुद्दा उत्पादन की लागत, बिक्री और लाभ है। समाजवैज्ञानिक अवधारणाओं के अनुसार हम उसे उद्यम (enterprise) की समस्याओं से जोड़ते हैं। देश के पूँजीवादी अर्थतन्त्र में पूँजीवादी उद्यम (Capitalist enterprise) को कहाँ तक प्रोत्साहन मिल रहा है और उद्यम को सीमित करने वाली दशाएँ क्या हैं ?

( 4 ) उद्यम की समस्या एक और मुद्दा उठती है। भारतीय ग्रामीण विकास में कृषि और औद्योगिक शाखा अन्तर्विरोधी (sectorial Contradiction) सोपाप से गुजर रही है। मार्क्सवादी विचारधारा में बायर्स का मत है विकास शील देशों के कृषि की आमदनी का महत्वपूर्ण भाग उद्योगों में लगाना चाहिए तभी समाज का विकास सम्भव होगा।<sup>8</sup> लिप्टन<sup>4</sup> का मत इसके विपरीत है। भारतीय परिस्थितियों में शाखाओं का अन्तर्विरोधी ग्रामीण विकास ही नहीं अपितु पूरे देश के विकास के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

### उत्पादन पद्धति सम्बन्धी संवाद

उत्पादन पद्धति सम्बन्धी संवाद की इकाइयाँ और शाखाएँ बदलती गयीं। कुछ विद्वानों ने एक कृषक को अध्ययन की इकाई माना है। कुछ विद्वानों ने उपनिवेश केन्द्र (Colony metropole) के आधार पर सम्पूर्ण भारतीय अर्थतन्त्र की व्याख्या करते हुए पूरी दुनिया की अर्थ-व्यवस्था से जोड़ दिया है। कुछ शोधकर्त्ताओं ने ( खर, पटनायक, भादुड़ी, प्रसाद, निर्मल चन्द्रा, मिन्चर, हेरिस आदि ) क्षेत्र से आंकड़ें एकत्रित करके अपने पक्ष को रखा है। द्वितीय स्रोतों के आंकड़ों के साथ-साथ स्वयं एकत्रित आंकड़ों को मिलाकर अपने पक्ष को रखने वालों में काटोवास्की, सुलेखचन्द्र गुप्ता, गिल



ओम्बत और गफ आदि महत्त्वपूर्ण शोधकर्ता है। बानाजी और वागची ने ऐतिहासिक स्रोतों से १९वीं शताब्दी के विकास की व्याख्या की है। अपने योगदान को सैद्धान्तिक पक्ष तक सीमित रखने वालों में चटोपाध्याय, सेनगुप्ता, दीपाकर गुप्ता और शरत जी० लिन० आदि हैं। संवाद का दूसरा पक्ष साम्यवाद से पूंजीवाद में परिवर्तित होने की प्रक्रिया से है। इस संवाद में मैरिस जे० स्वेजी और ताकाशासी आदि ने भाग लिया है और एशियाई उत्पादन पद्धति ( Asiatic mode of production ) के अस्तित्व की चर्चा की है। खेती के आकार ( form size ) और उत्पादन का सम्बन्ध भी आँका गया है। जमींदार मालगुजार ( 'enamt' ) और काश्तकार के सम्बन्धों पर भी विचार किया गया है और साथ ही साथ भारतीय राजनीति में जमींदारों और किसानों के हित समूहों ( Lobbies ) की भूमिका पर भी प्रकाश डाला गया है।

सन् 1953-54 के फार्म मैनेजमेन्ट के अध्ययन के आधार पर सुलेख चन्द्र गुप्ता<sup>6</sup> ने यह प्रमाणित किया है कि 20 एकड़ तक जमीन पर खेती करने वाले किसान पारिवारिक श्रम की तुलना में मजदूरी पर अधिक श्रमिक रखते हैं। 20 एकड़ की सीमा एस०सी० गुप्ता ने पूंजीवादी कृषि की मोटी सीमा मान ली है। आपने अपने अध्ययन से निष्कर्ष निकाला है कि 6 से 7 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि पूंजीवादी कृषि के अधीन हो चुकी है। सन् 1953 और 1954 के आंकड़ों के आधार पर कोटोवास्की<sup>6</sup> ने यह अनुमान लगाया कि 20 से 30 प्रतिशत खेती योग्य भूमि पर मजदूरी पर श्रमिक रखे जाते हैं। श्रम के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि भारतीय कृषि में पूंजीवादी प्रवृत्ति का समावेश तो हो रहा है, परन्तु वह प्रबल प्रगति ( 1964 ) नहीं है। डेनियल थोरनर द्वारा लिखे गये लेख "सैपिंग आफ माडर्न इंडिया" ( shaping of modern India ) नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुके हैं।<sup>7</sup> भारत के विभिन्न क्षेत्रों का निरीक्षण करने के बाद डेनियल थोरनर ने यह अनुमान लगाया है कि लगभग 15 वर्ष पूर्व 1956 की भारतीय कृषि में विशेष परिवर्तन आया है। 15 वर्ष पूर्व की खेती पिछड़ी हुई और अवरुद्ध थी, परन्तु अब वैज्ञानिक आधुनिक वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग तेजी से करने लगे हैं। ट्रैक्टर पंपिंग सेट, अच्छी किस्म के बीज, रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाओं के प्रयोग के साथ-साथ वे मजदूरी पर श्रमिक रखकर खेती करने लगे हैं। लगान या साझे पर जमीन देने के बजाय वे स्वयं खेती करने की मान्यता देते हैं। डेनियल थोरनर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कृषि उत्पादन इतना लाभकारी हो चुका है कि उसकी तुलना उच्चस्तरीय औद्योगिक सेक्टर से की जा सकती है। ग्रामीण क्षेत्रों में डेनियल थोरनर ने यह भी देखा है कि "शरीफ किसान" ( gentleman farmer ) की संख्या बढ़ती ही जा रही है। आज इनमें व्यवसायी, ऋणदाता, उच्च अधिकारी सैनिक अधिकारी, डाक्टर, अध्यापक व वकील जैसे उच्च सामाजिक स्तर के लोग भी सम्मिलित हो गये हैं। अपने साधनों व शिक्षा द्वारा वे अच्छी खेती कर रहे हैं। अतः डेनियल थोरनर ने महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकाला है कि भारतवर्ष में पूंजीवादी कृषि की लहर दौड़ गयी है। पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर-प्रदेश, मध्य गुजरात, कोयम्बटूर और आंध्र के तटीय इलाकों में वास्तविक पूंजीवादी



कृषकों की संख्या के साथ-साथ उनकी राजनीतिक शक्ति भी बढ़ रही है। भारत की भावी संरचना और राजनीति पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ेगा।<sup>8</sup>

सन् 1967 में डेनियल थोरनर ने नगरों से गाँवों की ओर भद्र किसानों (gentleman farmers) के आगमन की तरफ ध्यान आकर्षित कराया था और इस प्रक्रिया को "सोने की ओर दौड़" (gold rush) की संज्ञा दी थी। रुद्रा, माजिद और तालिब के अध्ययन की समीक्षा करते हुए डेनियल थोरनर ने पूँजीवादी कृषि की परिभाषा भी दी है। "मजदूरी पर श्रमिकों से बाजार में लाभ कमाने हेतु उपज को बेचने के उद्देश्य से कृषि करना पूँजीवादी कृषि है और लाभ का पर्याप्त भाग कृषि के विकास या गहन उत्पादन में लगाना पूँजीवादी कृषि की पहचान है।"<sup>9</sup>

अशोक रुद्रा, माजिद और तालिब ने पंजाब के जनपदों से 261 बड़े किसानों का सर्वेक्षण किया और डेनियल थोरनर के भद्र किसानों के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाया। केवल 3 प्रतिशत ऐसे किसान थे जो सेवा या उच्च सरकारी नौकरियों से अवकाश प्राप्त कर चुके थे और 9२ प्रतिशत बड़े किसानों ने बताया कि मात्र कृषि ही उनका मुख्य पेशा है। इस सर्वेक्षण में ऐसे किसान भी नहीं मिले जो खेती के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में लगे हों या उद्योग में लगे लोग कृषि कार्य करते हों। 96.7 प्रतिशत बड़े किसान कृषि के अतिरिक्त कोई दूसरा पूरक व्यवसाय नहीं करते। उच्च शिक्षा प्राप्त किसान केवल एक प्रतिशत मिले। 31 प्रतिशत साक्षर और 6७.6 प्रतिशत निरक्षर बड़े किसान पाये गये। इस सर्वेक्षण में वैभव और विलासिता की वस्तुओं के उपयोग करने वाले केवल वे बड़े किसान थे जो पहले जमींदार रह चुके थे। इन विशेषताओं के अतिरिक्त पूँजीवादी कृषि के अन्य सूचक भी इस सर्वेक्षण में नहीं पाये गये। इस सर्वेक्षण (1968-69) के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि पूँजीवादी कृषि का अस्तित्व नहीं है।<sup>10</sup> बड़े फार्म के आँकड़ों के आधार पर अशोक रुद्र ने यह भी प्रमाणित किया है कि बड़े आकार के फार्म आवश्यक रूप में पूँजीवादी कृषि का सूचक नहीं है। आकार के आधार पर पूँजीवादी कृषि और गैर-पूँजीवादी कृषि का अन्तर नहीं किया जा सकता है। इसी कारण अशोक रुद्र, को पंजाब में (सन् 1969) पूँजीपति किसान नहीं मिल सका।<sup>11</sup>

रुद्र के निष्कर्ष की प्रक्रिया में उत्साहपटनायक ने पाँच राज्यों के दस जनपदों के 66 बड़े किसानों का सर्वेक्षण (1969) किया और पूँजीवादी कृषि के विकास का ऐतिहासिक सर्वेक्षण भी प्रस्तुत किया। पूँजीपति किसान और पूँजीवादी कृषि को इतिहास के विकास क्रम से जोड़कर पटनायक ने अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है, जबकि रुद्र ने ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपेक्षा की है। उत्साह पटनायक ने खेती के आकार, मजदूरी देकर श्रमिक रखने और अतिरिक्त मूल्य (surplus value) के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि एक नया पूँजीपति कृषक वर्ग भारतीय समाज में विकसित हो रहा है। पूँजीवादी कृषि के विकास की प्रक्रिया पूर्ण नहीं हुई है। जब तक यह प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो जाएगी तब तक प्राक्-पूँजीवादी सम्बन्ध भी बने रह सकते हैं। अतः पूँजी:



वादी कृषि में अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों का होना अस्वाभाविक नहीं है और विकसित होने वाले पूंजीपति किसान में प्राक पूंजीवादी कृषि की कुछ विशेषताएं भी मिल सकती हैं। रुद्र के निष्कर्ष तो उसी स्थिति में सार्थक हो सकते हैं जबकि भारतीय कृषि में पूंजीवादी कृषि पूर्णरूप से स्थायी हो जाये। अभी तो यह एक उभरने वाली प्रक्रिया है और पूंजीपति किसान वर्ग बनने की प्रक्रिया में हैं। कुल मिलाकर भारतीय कृषि संक्रमण के सोपान से गुजर रही है। उत्सा पटनायक का निष्कर्ष यह है कि भारत के जिन क्षेत्रों में कृषि की उपज और बाजार से लाभ हो रहा है, उन सभी क्षेत्रों में पूंजीपति किसानों का एक नया वर्ग उभर रहा है और पूंजीवादी कृषि का स्तर किसी क्षेत्र में अधिक और किसी क्षेत्र में कम देखा जा रहा है, परन्तु कृषि में पूंजीवादी प्रवृत्ति के यथार्थ को नकारा नहीं जा सकता।<sup>12</sup>

रुद्र का ऐसा विचार है कि तथ्यों के आधार पर छोटे किसानों, मध्यम किसानों और बड़े किसानों के स्पष्ट वर्ग नहीं मिलते। सांख्यिकी तथ्यों के आधार पर रुद्र ने निम्नलिखित सूचक निर्धारित किये हैं --

- (अ) दूसरों को लगान पर खेती देने के बजाय स्वयं खेती करता है।
- (ब) अपने परिवार के श्रम के अनुपात में अधिक मात्रा में मजदूरी में मजदूरों को रखता है।
- (ग) कृषि का मशीनीकरण करता है।
- (द) उपज का महत्त्वपूर्ण भाग बाजार में बेचता है।
- (य) अपने उत्पादन को इस प्रकार संगठित करता है कि उसे लगाई हुई पूंजी पर अधिक से अधिक लाभ मिले।

यदि कोई किसान पूंजीपति होगा तो उपर्युक्त सभी विशेषताएँ उसमें अधिक मात्रा में पाई जायेगीं, जबकि क्षेत्र से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर ऐसा किसान रुद्र को नहीं मिला।

उत्सा पटनायक ने अशोक रुद्र के तर्कों को नकारते हुए उनके अध्ययन को ऐतिहासिक आँकड़ों के आधार पर बताया है। केवल मजदूर रखना और अतिरिक्त उपज को बाजार में बेचना पूंजीवादी कृषि नहीं है। पूंजीवादी कृषि की असली पहचान पटनायक के अनुसार यह है कि “अतिरिक्त धन को संचित करके पुनः अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने के लिए पूंजी का लगाना है।” जो कृषक इस उद्देश्य से खेती पर गहन पूंजी (capital intencification) लगाता है वह पूंजीपति किसान है। इस प्रकार की खेती का विकास पंजाब में हो रहा है।<sup>13</sup> सांख्यिकी आँकड़ों के आधार पर वर्गों का विश्लेषण करना मार्क्सवादी पद्धति के विपरीत है। रुद्र ने ‘गुणों’ को ‘मात्राओं’ में विवश्लेषण करना मार्क्सवादी विवश्लेषण करने का दावा किया है। उनका कहना है कि स्थानांतरित करके मार्क्सवादी विवश्लेषण करने का दावा किया है। उनका कहना है कि कृषकों के तीन वर्ग मात्र उपकल्पना हैं और इनका परीक्षण होना ही चाहिए। पंजाब में



किसानों का ध्रुवीकरण (polarization) अभी नहीं हुआ है और जब तक ध्रुवीकरण न हो जाये तब तक पूँजीपति और गैर-पूँजीपति किसान में अन्तर नहीं किया जा सकता।<sup>14</sup>

पारेस चटोपाध्याय ने इस संवाद में देखल देते हुए यह लिखा है कि भारतवर्ष में पूँजीवादी कृषि का विकास हो रहा है, परन्तु अभी उसके महत्व को बढ़ा-चढ़ा कर आँका जा रहा है और प्राक-पूँजीवादी प्रवृत्तियों की शक्तियों को कम करके समझा जा रहा है। आँकड़ों के कारण रुद्र का अध्ययन रुचिकर है, परन्तु उत्सा पटनायक ने पूँजीवाद की एक नयी परिभाषा रखी है। पूँजीवाद की लेनिन द्वारा दी गयी परिभाषा के अनुसार पटनायक की पूँजीवाद की परिभाषा नहीं है। पटनायक का कहना है कि उपनिवेशिक स्थिति के कारण भारत में पूँजीवाद के विकास का स्वरूप यूरोप से भिन्न है। उपनिवेशकाल में पूँजी का उपयोग विनिमय के रूप में किया जाता था और वर्तमान भारत में पूँजी का उपयोग उत्पादन के लिए किया जाता है। पूँजी के उपयोग के अन्तर को पारेस चटोपाध्याय और गुण्डर फ्रांक दोनों ही नहीं समझ पाये हैं।<sup>15</sup> इस कारण गुण्डर फ्रांक यह मानता है कि सभी उपनिवेश पूँजीवादी भी थे। जैसुर बानाजी ने भी अपने अध्ययन द्वारा इस बात की पुष्टि की है कि उपनिवेशकाल में पूँजी का संचय भारत से बाहर होता था। इसलिए भारत में कामाडिटी के उत्पादन का लाभ नहीं मिलता था। अतः उपनिवेश काल में पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के साथ-साथ प्राक-पूँजीवादी उत्पादन पद्धति भी समान रूप से पायी जाती थी।

गुण्डर फ्रांक ने उत्सा पटनायक की पूँजीवाद की शर्तों को स्वीकार नहीं किया है। वह यह नहीं मानता कि अतिरिक्त धन जहाँ से उत्पन्न हो, वहीं एकत्रित हो और पुनः वहीं उत्पादन में लगाया जाये। यदि उत्सा पटनायक की इस शर्त को स्वीकार कर लिया जाये तो इसके राजनीतिक परिणाम बहुत महत्वपूर्ण निकलेंगे। गुण्डर फ्रांक का ऐसा विश्वास है कि उपनिवेशवादी देशों में पूँजीवाद का विकास हो चुका है, इसलिए अब वहाँ समाजवाद आ सकता है। हमारे विचार से तीसरी दुनिया के नये आजाद हुए देशों में समाजवादी व्यवस्था आ जाने की सम्भावना से दूर है। गुण्डर फ्रांक के तर्क से इस प्रकार के निष्कर्ष निकलते हैं कि यदि समाजवाद लाना है तो उपनिवेशिक देशों को पूँजीवादी मान लिया जाये। इसके विपरीत अधिक तर्क संगत लगता है कि उपनिवेशिक कालीन व्यवस्था में पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का विकास तो हुआ परन्तु अतिरिक्त धन उपनिवेशों से निकलकर 'केन्द्रों' पर चला गया। इस कारण पूँजीवादी विकास की वे सारी परिस्थितियाँ नहीं उभर सकीं जिसके कारण राजनीतिक महत्व गुण्डर फ्रांक के विचारों के अनुकूल हो।

**अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन व्यवस्था**

सन् 1970 के पश्चिमी बंगाल के अध्ययन पर अमित भादुरी ने अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन पद्धति और अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्धों की प्रभुता (dominant character



of production relation ) के पक्ष में कई तथ्य और प्रमाण रखे हैं।<sup>17</sup> मार्क्स-वादी ऐतिहासिकवाद में उत्पादन संबंधों को केन्द्र मानकर अमित भादुरी ने भारतीय गांवों की कृषि और उत्पादन संबंधों की व्याख्या की है। निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर वर्तमान संबंधों को सामन्त-सर्व के संबंधों के समान माना है—

( अ ) साझे की खेती ।

( ब ) छोटे किसानों का निरन्तर ऋणग्रस्त होना ।

ऋण देना और भूमि पर मालिकाना अधिकार रखना इन्हीं भूपतियों के हाथ में है। इन दोनों ही विशेषताओं से वे छोटे किसानों का शोषण करते हैं। पश्चिमी बंगाल में 40 से 50 प्रतिशत ऐसे साझेदार किसान हैं जो मालिक से जमीन लेकर और उस पर अपना श्रम लगाकर उपज का मात्र एक तिहाई भाग प्राप्त करते हैं। चूँकि यह एक प्रकार का ठेका होता है, इसलिये किसान अधिक उत्पादन करने में रुचि नहीं लेता है। मालिक के कर्ज से दबा हुआ किसान खलिहान के समय अपने निश्चित भाग से भी कम पाता है, क्योंकि उसके भाग से कर्ज की रकम या सूद काट लिया जाता है। परिणाम यह निकलता है कि वह गुजारे के लिए फिर ऋण लेता है और इस तरह निरन्तर कर्ज से दबा रहता है। इसी तथ्य को अर्द्ध-सामन्ती संबंध कहा गया है। स्वामी भक्त किसान को कुछ सुविधाएँ दी जाती हैं। कहने के लिए किसान स्वतन्त्र है, लेकिन कर्ज के भार और भूमि पर भूस्वामी के अधिकार के कारण वह स्वतन्त्र नहीं हो पाता। यह स्थिति भी अर्द्ध-सामन्ती संबंध की विशेषता है। किसान की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं होती कि उसे कर्ज दिया जा सके। वह आधुनिक बैंकों से कर्ज लेने की शर्त पूरी नहीं कर सकता। अतः उसे विवश होकर जोतदार से उसी की शर्तों पर ऋण लेना ही पड़ता है। इस तरह किसान जोतदार की कृपा पर निर्भर होता है।<sup>18</sup> नयी तकनीकी और पूँजी को किसानों के पास इसलिए नहीं पहुँचाने दिया जाता कि वह जोतदार के चंगुल से निकल जायेगा।<sup>19</sup>

अमित भादुरी ने यह भी लिखा है कि अर्द्ध-सामन्ती संबंधों के कारण नये-नये साधनों से कृषि की उन्नति नहीं हो सकती। ऐसे संबंध उत्पादन के साधनों पर रोक लगाते हैं। उनका यह भी अनुमान है कि यह स्थिति ऐतिहासिक परिवर्तन के लिये परिपक्व है। जब तक अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्ध बने रहेंगे, कृषि का विकास भी अवरूद्ध रहेगा और असन्तोष बढ़ते रहने की सम्भावनाएँ हैं। यदि नये साधनों से उत्पादन में वृद्धि की गयी तो सामन्तवादी उत्पादन सम्बन्धों के स्थान पर पूँजीवादी उत्पादन संबंध उत्पन्न हो जायेंगे। अमित भादुरी ने भावी संघर्ष की ओर इंगित किया है।

अमित भादुरी के इन मूल विचारों को लेकर प्रधान एच० प्रसाद ने कई अध्ययन किये हैं और उनमें निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं—

( १ ) अर्द्ध-सामन्ती संबंधों पर आधारित शोषण, पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के शोषण से भिन्न है।



- ( 2 ) जमींदारों का वर्गीय हित इसी में है कि कृषि में तीव्रगति से विकास न होने पाये ।  
 ( 3 ) गरीब किसान नये साधनों में पूँजी नहीं लगा सकता, इसीलिए अभी तक वह गुजारे की खेती पर निर्भर रहता है ।

खेतिहर मजदूरों की दूसरी जांच की रिपोर्ट के अनुसार लगभग 30 प्रतिशत मजदूरों के घर, न्यूनतम स्तर से नीचे गुजारा करते हैं । गुजारे के लिये उन्हें इन्हीं जमींदारों से कर्ज लेना पड़ता है । ऋणग्रस्तता जितनी अधिक होगी जमींदार और किसान के संबंध भी उतने ही बन्धन युक्त होंगे । प्रसाद ने स्वीकार किया है कि पंजाब और हरियाणा के छोटे किसानों को छोड़कर शेष देश के दूसरे भागों में अर्द्ध-सामन्ती शोषण फैला हुआ है और जमींदारों का हित इसी में है कि किसान आर्थिक रूप से कमजोर बने रहें । अतः आर्थिक शोषण और जमींदारों की राजनीतिक शक्ति की प्रबलता के आधार पर प्रसाद ने भारतीय कृषि के आधार पर अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन पद्धति को प्रभु उत्पादन पद्धति ( dominant mode of production ) माना है <sup>20</sup> पंजाब और हरियाणा में जंकर माडल ( Jonker model ) के पूँजीवादी कृषि के अस्तित्व को प्रसाद ने स्वीकार किया है, परन्तु भारत के अधिकांश क्षेत्रों में अर्द्ध-सामन्ती उत्पादन संबंधों को कृषि के विकास में सशक्त बाधा के रूप में बताया है । इसी मूल विचार को प्रसाद ने ग्रामीण भारत में सूदखोरी के आधार पर भी प्रमाणित किया है । सूदखोरी पूँजी का ऐतिहासिक चरित्र, ऋणदासता, निर्धनता और कृषि के पिछड़ेपन को बढ़ाती है । <sup>21</sup> उत्तर भारत में मध्यम श्रेणी के किसानों की राजनीतिक भूमिका की विवेचना करते हुए यह भी अनुमान ( सन् 1980 ) लगाया है कि मध्यम श्रेणी के किसान बांभ-पंथी दलों की तरफ झुक जायेंगे । <sup>22</sup> परन्तु ऐसा देखने को नहीं मिल रहा है ।

निर्मल चन्द्र भी अर्द्ध-सामन्तवादी मूलविचारों का समर्थन करते हैं । उनका पश्चिमी बंगाल के पांच जिलों से 250 फार्मों के अध्ययन ( 1967-68 ) के आधार पर उनका यह निष्कर्ष है कि भारतीय कृषि पूँजीवादी कृषि में परिणित नहीं हो रही है । अमित भादुरी के निष्कर्ष से कुछ भिन्नता रखते हुए निर्मल चन्द्र ने ग्रामीण क्षेत्र में व्यापक बेरोजगारी और अर्द्ध-बेरोजगारी को पिछड़ेपन का मुख्य कारण माना है । ग्रामीण बेरोजगारी के कारण औद्योगिक उत्पादन की खरीद सीमित हो जाती है । बेरोजगारी के कारण अतिरिक्त श्रम अर्द्ध-सामन्तवाद को बढ़ावा दे रहा है । <sup>23</sup> अर्द्ध-सामन्तवाद के बने रहने का दूसरा कारण यह है कि भारत में औद्योगिक पूँजीवाद और राज्यपूँजीवाद दोनों इतने कमजोर हैं कि कृषि में उत्पादक पूँजी ( productive capital in agriculture ) पर्याप्त मात्रा में नहीं लगा सकते । अर्द्ध-सामन्तवाद के बने रहने का तीसरा कारण छोटे किसान हैं । वैकल्पिक रोजगार न होने के कारण छोटे किसान विवश होकर भाटे की खेती करते ही रहेंगे । अतः छोटे किसानों को समाप्त करना पूँजीवादी कृषि के लिये अत्यन्त कठिन कार्य है । ऐसा ही तर्क रणजीत साहू ने भी रखा है । उनके अनुसार भारतीय कृषि पर काटस्कीय, लेनिन का पूँजीवादी कृषि की सीमा का नियम लागू है । पूँजीवादी कृषि पूर्ण रूप से प्राक्-पूँजीवादी सम्बन्धों को मिटा नहीं पाती है । टेरे-



देढ़े और असमतल रास्तों के रूप में कृषि में पूँजीवाद का विकास होता है और अर्द्ध-सामन्ती तत्त्व कृषि के विकास को रोकते रहते हैं।<sup>24</sup>

अशोक रुदा जो कि पहले पंजाब में भी पूँजीवादी कृषि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे वे अब पश्चिमी बंगाल और उत्तर प्रदेश में भी पूँजीवादी कृषि की प्रवृत्तियाँ देखने लगे। रुद्र ने अर्द्ध-सामन्तवादी कृषि की आलोचना की है।<sup>25</sup> रुद्र ने भारतवर्ष में अर्द्ध-सामन्तवाद के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया है। उनका कहना है कि यूरोप में सामन्तवाद के जो प्रकार्य थे, भारत में वे प्रकार्य जाति व्यवस्था से सम्पन्न होते हैं।<sup>26</sup>

गुण्डर फ्रांक ने पूँजीवादी और अर्द्ध-पूँजीवादी उत्पादन पद्धतियों की बहस के संवाद को व्यर्थ बताते हुए यह कहा कि पूँजीवाद को व्यक्तियों के आधार पर नहीं देखा जा सकता। एक पूँजीपति धन एकत्रित करके पुनः उत्पादन में लगता है या नहीं, यह महत्वपूर्ण प्रश्न पूरी व्यवस्था का है। ब्रिटिश शासन काल में भारत एक व्यवस्था के रूप में किसी बड़ी व्यवस्था से जुड़ा हुआ था। उस बड़ी व्यवस्था को साम्राज्यवाद कहते हैं। पूँजीवाद व्यक्तियों तक सीमित नहीं है। पूँजीवाद एक प्रकार का उद्यम है और उद्यम (enterprise) के रूप में भारत में पूँजीवाद का अस्तित्व उपनिवेशकाल से आज तक चला आ रहा है।<sup>27</sup>

### उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति

उपनिवेशों पर अंग्रेजी राज्य के शासन के कारण जो उत्पादन पद्धति उत्पन्न हुई उसे उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति कहते हैं। इसकी विशेषता यह है कि इस पद्धति के विकास में उपनिवेशिक सत्ता की जितनी महत्वपूर्ण भूमिका रही है उतनी आन्तरिक बलों की नहीं रही है। उपनिवेशिक राज्य का उद्देश्य भी वह नहीं रहा है जो किसी देश के अपने राज्य का होता है। अतः उपनिवेशिक अधीनता के काल की निम्नलिखित विशेषताएँ हमजा आलवी ने बतलाई हैं।<sup>28</sup>

(अ) उपनिवेशों के किसान पहले तो पूँजी की आकारगत अधीनता (farmer Subsumetion) में आये और फिर पूँजी की वास्तविक अधीनता के अन्तर्गत आये। इसका अर्थ यह है कि विदेशी पूँजी का दबाव दो चरणों में उपनिवेश पर हावी (dominant) हो गया।

(ब) उपनिवेशी समाज में एक ही साथ संहार (dissolution) और संचार (Conservation) की प्रक्रिया उभरी है।

(स) उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति का उद्देश्य अतिरिक्त मूल्यों को खींचकर मेट्रोपोलिस पर ले जाना था। उपनिवेश का आर्थिक विकास नहीं करना था। इसलिए यह शोषण की प्रक्रिया थी। इसका उद्देश्य उपनिवेश के साधनों का शोषण करके धन "केन्द्र" की ओर ले जाना था। अतः उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति से उपनिवेश का आर्थिक विकास तो बहुत कम हुआ किन्तु केन्द्र पर आश्रितता बढ़ती गयी।



## उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति की संरचना

1 ) सामन्तवादी उत्पादन पद्धति में धन की पुनरुत्पत्ति सरल होती है, किन्तु पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में अतिरिक्त धन विस्तृत होता जाता है। हमजा आलवी का कहना है कि उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति में दोनों ही दशाएँ नहीं उत्पन्न हुईं, चूँकि विदेशी साम्राज्य के अधीन उत्पादन हो रहा था, इसलिए उपनिवेश में उत्पादित अतिरिक्त धन, भारत में न रहकर सीधे मेट्रोपोलिटन केन्द्र पर चला गया। अतः अतिरिक्त धन की पुनरुत्पत्ति का लाभ भारत के विकास में नहीं लगा।<sup>29</sup>

( 2 ) दूसरा महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्न यह उठाया गया है कि यदि उपनिवेश में अतिरिक्त पूँजीवाद का विकास हो रहा था तो सामान्यीकृत कामाडिटी का उत्पादन हो रहा था या नहीं? इस सम्बन्ध में यह कहा गया कि “मल्टी कामाडिटी” का उत्पादन कराने वाले उपनिवेशों के सामन्त या उद्योगपति नहीं थे। विदेशी बुर्जुआ द्वारा कामाडिटी का उत्पादन कराया जा रहा था और उसका लाभ भी वही लोग उठा रहे थे। विदेशी शासन होने के कारण उपनिवेश का एक खण्ड दूसरे खण्ड से व्यापार नहीं कर सकता था। इसलिए समस्त आर्थिक व्यवस्था प्राचीन रह गयी है। समर अमीन का कथन है कि उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति के अन्तर्गत उपनिवेश अर्थ-व्यवस्था आन्तरिक रूप से मुखारित नहीं हुई।<sup>30</sup>

( 3 ) तृतीय राज्य कानून कर्मचारी तन्त्र और न्यायपालिका का निर्माण हुआ और सामन्तवादी शक्ति संरचना समाप्त हुई। मुगलकाल में स्थानीय जमींदार शक्ति के टुकड़े ( porcellization of sovereignty ) और सशक्त शासक के रूप में नहीं उभर पाये थे। मुगल काल में इस तरह के शक्ति के टुकड़े समाप्त हो गये और एक केन्द्रीय उपनिवेशवादी बुर्जुआ राज्य ( Colonial bourgeoisie state ) का निर्माण हुआ। इस राज्य व्यवस्था में उत्पादन पद्धति बदल गयी।<sup>31</sup>

( 4 ) अंग्रेजी शासन काल से पूर्व जमीन कामाडिटी के रूप में नहीं थी। शक्ति और दबाव के आधार पर सामन्तों और जमींदारों ने जमीन पर कब्जा कर रखा था। इस कारण श्रमिक भूपतियों के अधीन रहते थे। अंग्रेजी शासन काल में जमीन से सम्बन्धित कानूनी अधिकार बनाये गये और जमीन निजी सम्पत्ति के रूप में प्रकट हुई अब गरीब किसान भी अपनी जमीन को बेच सकता था। जमींदार और कृषक के सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया। वह इस बात के लिए स्वतन्त्र था कि अपने मालिक को छोड़कर भूखों मर सकता था। अतः ऐसे गरीब ग्रामीण लोग सस्ते श्रमिक बन गये जिसका लाभ उपनिवेशवादी कृषि पद्धति में उठाया गया।

( 5 ) 19 वीं शताब्दी के मध्य तक भारत में रेलों का जाल सा बिछ गया। कच्चा माल इंग्लैण्ड भेजा जाने लगा। दस्तकारी की बनी हुई वस्तुओं का निर्यात होने लगा। कृषि उत्पादन और औद्योगिक उत्पादन का लाभ भारत को न मिलकर सीधे मेट्रोपोलिटन केन्द्र को मिलने लगा। यही उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति का परिणाम था।



( 6 ) उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति में पूंजी का संचय भारत में नहीं हो सका । विदेशी राज्य होने के कारण संचित पूंजी का उपयोग इंग्लैण्ड की औद्योगिक पूंजी को बढ़ाने में किया गया, परन्तु भारतीय अर्थ-व्यवस्था विकृत कर दी गयी ।<sup>82</sup>

पूर्वोक्त विशेषताओं के आधार हमजा आलवी ने यह कहा है कि उपनिवेशकाल की अर्थ-व्यवस्था को सामन्तवादी या पूंजीवादी से पूर्व ( precapitalist ) की व्यवस्था नहीं कहा जा सकता । उसे एक विशेष प्रकार की अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत ही समझा जा सकता है । अतः उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति एक विकृत मध्य व्यवस्था है जो उपनिवेश और साम्राज्यवाद को जोड़ने में बीच की कड़ी के समान है । सामन्तवादी व्यवस्था को समाप्त करके भारतीय अर्थ-व्यवस्था को पूंजीवाद से जोड़ने का कार्य उपनिवेशवादी उत्पादन व्यवस्था में हुआ है । इस कारण भारतवर्ष में पूंजीवादी विकास का रंगमंच तैयार हो गया और स्वतन्त्रता के बाद से पूंजीवाद का विकास तेजी से होने लगा ।<sup>83</sup>

अशोक रुद्र<sup>84</sup> और गिल ओमवत<sup>85</sup> ने हमजा आलवी के उपनिवेशवादी अवधारणा के कुछ अंशों को समर्थन दिया है और कुछ को समर्थन नहीं दिया है । भारतीय समाज के अन्तर्द्वन्द्व ( contradiction ) के प्रति हमजा आलवी का दृष्टिकोण तथ्यगत प्रतीत नहीं होता । उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति की अवस्था में हमजा आलवी के अनुसार सामन्तवादी और पूंजीवादी अन्तर्द्वन्द्व नहीं था । दोनों ही प्रकार की उत्पादन पद्धतियाँ एकल समाज संरचना ( single Social formation ) में साथ-साथ चल रही थीं । हमजा आलवी के अनुसार भारत में सामन्तवाद और पूंजीवाद में अन्तर्द्वन्द्व के तथ्यगत प्रमाण नहीं मिलते हैं । गिल ओमवत ने सन् 1971 के बाद अमीर किसान और भारत के औद्योगिक बुर्जुआ संघर्ष का विवरण दिया है और जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन को इन्हीं दो वर्गों के अन्तर का परिणाम बतलाया है ।

निष्कर्ष

उत्पादन पद्धति के संवाद को स्याह व सफेद में नहीं देखा जा सकता । भारत में प्राक् पूंजीवाद चरण भी विषमतापूर्ण था और जब इसके ऊपर उपनिवेशवादी उत्पादन पद्धति स्थापित की गयी तो इसका पूंजीवादी विकास विकृत एवं अवरुद्ध हो गया । शरत जी० लिन के अनुसार भारतवर्ष में प्राक् पूंजीवादी और पूंजीवादी सम्बन्ध एक ही समाज संरचना में चलने लगे । अतः भारतीय उत्पादन पद्धति का चरित्र संयुक्त माना जाना चाहिए । उपनिवेश काल में घरेलू पूंजी और साम्राज्यवादी पूंजी का मिश्रित रूप बना हुआ था, परन्तु यह भी सत्य है कि अतिरिक्त पूंजी भारत से बाहर चली जाती थी । स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय पूंजी की व्याख्या करते हुए शरत जी० लिन ने लिखा है "आज भी पूरे भारतवर्ष में एक उत्पादन पद्धति का वर्चस्व नहीं है । जहाँ पूंजीवादी कृषि हो रही है, वहाँ भी अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्ध बने हुए हैं ।"<sup>86</sup> हमारा कहना यह है कि अर्द्ध-सामन्ती सम्बन्ध बड़ी तेजी से बिखर भी रहे हैं और उनके स्थान पर श्रम स्वातन्त्र्य और नकद केन-



देन सम्बन्ध निर्मित हो रहे हैं। इस आधार पर यह कहना तो उचित नहीं होगा कि भारत वर्ष में एकल उत्पादन पद्धति है, उसका चरित्र मिश्रित (a single mode with dual character) है। मिश्रित होने के कारण आन्तरिक संघर्ष और द्वन्द्व चलते रहते हैं। संयुक्त उत्पादन सम्बन्ध संक्रमण अवस्था को दिखाते हैं। संक्रमण का स्वरूप (forms of transition) प्राक् पूँजीवादी से पूँजीवाद की ओर चल रहा है।<sup>87</sup> कृषि के सम्बन्ध में यह कहना सत्य के अधिक निकट है कि वह जमींदाराना पूँजीवाद से अमीर किसान के पूँजीवाद की ओर बढ़ रही है।

### REFERENCES

1. Ashok Rudra, Utsa Patnaik, Amit Bhaduri, Dipanker Gupta, Nirmla Chandra, Ranjeet Sau, Amiya Bagchi, Pradhan Prasad, N. S. Gupta, Jairus Banaji, Paresch Chattopadhyay, Sharat G. Lin, John Harris, Kothleen Cough, Johan P. Mencher, Humza Alavi, Gail Omvedt.
2. Alic Thorner, Semi--feudalism of capitalism ? Contemporary debate on classes and mode of production in India, In three parts, EPW, Dec. 4 11 and 18, 1982.
3. T. J. Byres, Agrarian Transition and the agrarian question, Journal of Peasant Studies, Vol. 4, No. 3, 1977.
4. M. Lipton, Why poor people stay poor, this paper is taken from the text of the Vikram Sarabhai Memorial Lecture, delivered by M. Lipton at the Indian Institute of Management, Ahmedabad in January, 1981.
5. S. C. Gupta. Some Aspects of Indian Agriculture, Enquiry, Delhi, 1962, cited by Danial Thorner in Shaping of Modern India, 1980, pp 251—252.
6. G. Kotovasky, Agrarian Relation in India, Progress Publication, Moscow, 1964.
7. Danial Thorner, op cit., p 241.
8. Danial Thorner (1980) quoted by Alice Thorner, in semifeudalism or capitalism ?. EPW, Dec. 4, 1982.
9. Danial Thorner Capitalist Farming in India, EPW, Review of Agriculture, Dec. 1969.
10. Ashok Rudra, A. Majid and B. D. Talib, Big Farmers of Punjab : Some Preliminary Findings of a Sample Survey, EPW, Vol. IV, No. 39, 1969.  
also, Ashok Rudra, Big Farmers of Punjab, Vol. IV, No. 52, 1969.



11. Ashok Rudra, In Search of the Capitalist Farmer, EPW, Vol. V. No. 26. 1970.
12. Utsa Patnaik, Capitalist Development in Agriculture, A note, EPW, Vol. VI, No. 39, 1971,
13. Utsa Patnaik, Capitalist Development in Agriculture, Further comment, EPO, Vol. VI, No. 52, 1971.
14. Ashok Rudra, Capitalist Development in Agriculture : Reply, EPW, Vol. VI, No. 45, 1971.
15. Utsa Patnaik. On the Mode of Production in Indian Agriculture : A reply, EPW, Vol. VII, No. 40, 1972.
16. Paresh Chattopadhyay, Mode of Production in Indian Agriculture, An Anti—kritik. EPW, Review of Agriculture, Dec, 1972.
17. Amit Bhaduri, A Study of Backwardness Under Condition of Semi—feudalism, Economic Journal, Vol, 23, No. 329, 1973.
18. ibid
19. ibid
20. Pardhan H. Prasad, Semi—feudalism : The Basic Constraint of Indian Agriculture, in Arvind Das and Nilkant ( ed. ) Agrarian Relation in India, New Delhi, 1979, pp 48—49.
21. Pardhan H. Prasad, Reactionary Role of Usurer's Capital in Rural India. EPW, Vol IX, Nos. 32 and 33 end 34, 1974.
22. Pardhan H. Prasad, Rising Middle Peasantry in North India, EPW, Vol. XV, Nos. 5, 6 and 7 1980.
23. Nirmal K. Chandra, Farm Efficiency Under Semi—feudalism : A critique of marginalist theories and some Marxist formulations, EPW Vol. IX, Nos. 32. 33 and 34, 1974.
24. Ranjit Sau, Farm Efficiency Under Semi—feudalism . A critique of marginalist theories and some marxist formulation : A comment, EPW, Vol X, No. 13, 1975.
25. Ashok Rudra, Semi—feudalism, Usury Capital, Electera, EPW, Vol. IX, No. 4 , 1974.
26. Ashok Rudra, Against feudalism, EPW, Vol. XVI, No. 52, 1981.
27. Ander Gunder Frank. On Feudal, Modes, Models, and Methods of Escaping Capitalist Reality, EPW. Vol. XIII, No. 1, 1973.
28. Humza Alavi, India and the Colonial Mode of Production, Socialist Register, 1975.



- 29. *ibid*
- 30. *ibid*
- 31. *ibid*
- 32. *ibid*
- 33. *ibid*
- 34. Ashok Rudra, India and the Colonial mode of Production : A comment, EPW, Oct. 18, 1975.
- 35. Gail Omvedt, India and the Colonial Mode of Production, A Comment, EPW, Vol. X, No. 42, 1975.
- 36. Sharat G. Lin, A Theory of dual Mode of Production in Postcolonial India, EPW, Vol. XV, No. 11, 1980.
- 37. Sharat G. Lin, A Theory of Dual Mode of Production in Post-Colonial India, EPW, Vol. XV, No. 10, 1980.





## औद्योगिक संगठन एवं मार्क्सवाद

ओ० पी० गुप्ता

समाज की उत्पादन व्यवस्था एवं वैचारिक व्यवस्था, नगरीकरण एवं उद्योगीकरण की प्रक्रियाओं से गम्भीर रूप में प्रभावित हुई है। सम्पूर्ण परिवर्तन के लिये वैज्ञानिक एवं तकनीकी जगत की उपलब्धियाँ प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं। वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास ने भौतिक जगत को प्राकृतिक संगठन के रूप में समझने पर बल दिया जिसे मनुष्य की इच्छानुसार नियंत्रित किया जा सकता है। विज्ञान की इस समझ ने सामाजिक संगठन को परम्परागत पराभौतिक एवं दार्शनिक आधारों पर आधारित समझ से मुक्त कर दिया। परिणाम स्वरूप सामाजिक विकास का एक ऐसा स्तर आया जहाँ पर मनुष्य ने उपयुक्त समाज व्यवस्था की तलाश में अनेक प्रकार की व्यवस्थाओं के लिये प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। मार्क्सवाद स्वयं विश्व के स्तर पर किया जा रहा एक सामाजिक-राजनीतिक प्रयोग है। यह प्रयोग सम्पूर्ण समाज के व्यापक पुनर्जीव तथा विषमताओं, शोषण एवं सामाजिक अन्याय को समाप्त करने की दिशा में एक प्रयास है। (लैन्की 1978 : 365) इस प्रकार के प्रयासों के दूरगामी समाज वैज्ञानिक परिणाम निकलते हैं। वैचारिक स्तर पर मार्क्सवाद सामाजिक विश्लेषण का एक प्रमुख अभिगम है। लेकिन मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा किये गये अध्ययनों ने केवल यह दर्शने का प्रयास किया है कि किसी भी विश्लेषण में मार्क्सवादी-उपागम का प्रयोग किया जा सकता है। इसी श्रेणी में दूसरे अध्ययन वे रहे हैं जिन्होंने केवल पूंजीवाद की कमजोरियों को उभारने का प्रयास किया है। या तो वैचारिक लगाव अथवा अदृश्य शैक्षणिक भय के कारण समाज वैज्ञानिकों ने विशेष रूप से तीसरी दुनिया के विद्वानों ने इस बात को तथ्यगत अध्ययन के आधार पर बताने का प्रयास नहीं किया है कि मार्क्सवाद की संकल्पनाएँ तथा मान्यताएँ समाजवादी परिवेश में भी कितनी साकार हो पाई हैं। प्रस्तुत लेख में औद्योगिक सन्दर्भ में मार्क्स द्वारा दी गई 'संघर्ष' 'अस विराग' तथा 'ट्रेडयूनियन' की स्थिति की सीमित आधार पर विवेचना की गई है।

मार्क्सवाद के अनुसार इतिहास की गति का वैज्ञानिक आधार वर्ग-संघर्ष है। वर्तमान औद्योगिक समाज में यह संघर्ष और तीव्र हो गया है। उत्पादन के पूंजीवादी प्रकार ने नये वर्ग एवं नये प्रकार के वर्ग-संघर्ष को जन्म दिया है। "हमारे युग, बुर्जुवा वर्ग के इस युग की यह विशेषता है : इसने वर्ग-विरोधाभास को सरल कर दिया है... समाज निरंतर दो प्रतिद्वन्दी गुटों में बँटता जा रहा है परस्पर विरोधी दो वर्गों में विभाजित हो रहा है : बुर्जुवा तथा सर्वहारा।" (मार्क्स तथा एंजिल्स 1967 : 80)

व्यापार तथा उत्पादन की अन्य प्रक्रियाओं पर अधिकार के कारण प्रोडिटेरिएट्स की अपेक्षा बुर्जुवा वर्ग का पूंजी के स्रोतों पर पहले से ही अधिकार होता है। प्रोडिटेरिएट्स



के पास अपने श्रम के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं होती है। इस प्रकार सौदेबाजी की दृष्टि से मजदूर अत्यन्त कमजोर स्थिति में रहता है। यदि उन्हें तुरन्त रोजगार प्राप्त न हो तो उनके सामने परिवार के भरण-पोषण की समस्या गम्भीर हो जाती है। बुर्जुआ वर्ग अपनी इस उच्च आर्थिक स्थिति का लाभ उठाता है एक श्रमिक को अपनी शक्तों पर काम करवाने पर बाध्य करता है। पूँजीवादी व्यवस्था में अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से कम लागत में अधिक श्रम प्राप्त कर अतिरिक्त मूल्य द्वारा निजी सम्पत्ति में वृद्धि होती है। सम्पत्ति की निरन्तर वृद्धि असमताओं को और स्थायित्व प्रदान करती है।

औद्योगिक उत्पादन की वर्तमान व्यवस्था ने प्रोलिटेरिएट्स की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की है। फैक्टरी-उत्पादन व्यवस्था के कारण मजदूरों का एक स्थान पर जमाव बढ़ा तथा उनकी शक्ति में वृद्धि हुई। मशीनों के विकास ने प्रोलिटेरिएट्स की विविधताओं को समाप्त कर एक समान वेतन स्तर पर उन्हें ला दिया। बुर्जुआ वर्ग में बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा एवं उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न व्यावसायिक संकट श्रमिकों के जीविका के अवसरों को प्रभावित करते हैं, एवं पूँजीवादी व्यवस्था के अन्त को नजदीक लाते हैं जैसा मार्क्स एवं एंगिल्स का कथन है "बुर्जुआ वर्ग के अस्तित्व तथा प्रभुत्व की अनिवार्य दशा पूँजी का निर्माण तथा उसकी निरन्तर वृद्धि है। वैतनिक श्रम श्रमिकों की प्रतिस्पर्धा पर निर्भर करता है। उद्योग के विकास, जिसका अनैच्छिक उन्नतकर्ता-बुर्जुआ है, ने प्रतिस्पर्धा पर आधारित श्रम की पृथक्ता को, उनकी निकटता ने क्रान्तिकारी संगठन में परिवर्तित कर दिया। आधुनिक उद्योग का विकास अपने पैरों के नीचे से उन आधारों को ही नष्ट कर देता है जिन पर बुर्जुआ उत्पादन करता है एवं उत्पादन का उपभोग करता है। इस प्रकार वास्तव में बुर्जुआ अपनी कब्र खोदने वालों को ही उत्पन्न करता है।" (मार्क्स तथा एंगिल्स 1967 : 93)

इस प्रकार मार्क्सवाद के अनुसार श्रम के बुर्जुआ तथा प्रोलिटेरिएट वर्गों में विभाजन के कारण पूँजीवादी व्यवस्था में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। औद्योगिक परिवेश में संघर्ष के विश्लेषण में इसी मार्क्सवादी उपागम का प्रयोग किया जाता है। मार्क्सवादी विचारों के आधार पर उद्योग में संघर्ष के विश्लेषण के प्रयास इस मूल तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि मार्क्सवादी वैचारिक सन्दर्भ में समाज के विभिन्न पक्ष एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं। समाज की सम्पूर्ण सामाजिक क्रियाओं को नियंत्रित करने वाले कारक उत्पादन की प्रणाली तथा उत्पादन के सम्बन्ध हैं। वास्तव में मार्क्स ने अपने विचारों में पूँजीवादी समाज में अनिवार्य वर्ग संघर्ष की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है। उद्योग जैसे सीमित क्षेत्र में संघर्ष का विश्लेषण मार्क्सवादी विचारों का विषय नहीं है। यह संघर्ष व्यापक वर्ग संघर्ष का एक अंश मात्र है। उससे पृथक् इसकी अपनी कोई वास्तविकता नहीं है। "वह कोई भी विश्लेषण जो इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि कार्य स्थल का शुद्धता है तथा इस प्रकार के संघर्ष की वास्तविक प्रकृति को समझने में बाधक बनता है।" (ब्राउन 1978 : 148)



मार्क्सवादी वैचारिकी से प्रेरित श्रम संगठन, श्रमिकों को उद्योग के स्तर पर पूंजीवाद से संघर्ष करने का आह्वान करते हैं। वेनन (1973) ने यह बिल्कुल उचित कहा है कि श्रमिकों की चेतना, प्रबन्धकों से संघर्ष के मूल कारणों के प्रति सीमित होती है। और ऐसी कोई स्पष्ट वर्ग चेतना निर्मित नहीं होती है जो श्रमिकों को पूंजीवाद की विस्तृत राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में संघर्ष का स्पष्टीकरण दे सके। श्रमिकों एवं प्रबन्धकों के संघर्ष लाइन उत्पादन संगठन से उत्पन्न होते हैं एवं उसी के इर्द-गिर्द गतिशील रहते हैं, लाइन उत्पादन व्यवस्था पर नियंत्रण 'फ़ैक्टरी चेतना' का निर्माण करते हैं 'वर्ग चेतना' का नहीं। उत्पादन की गति, छंटनी तथा अन्य प्रकार के दुरुपयोग से संबंधित संघर्ष श्रमिकों में एक दृढ़ फ़ैक्टरी चेतना का निर्माण करते हैं। यदि श्रमिक वर्ग के सदस्य यह विश्वास करते हैं कि औद्योगिक संघर्ष का हल स्थापित व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पत्ति के सम्बन्धों की सीमा में ही हो सकता है तो वे झूठी चेतना के शिकार हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मार्क्स के विचार औद्योगिक संगठन केन्द्रित संघर्ष का विश्लेषण करने में सहायक नहीं होते हैं। मार्क्सवादी विचारों के अनुसार औद्योगिक संघर्ष पूंजीवादी समाज व्यवस्था को साम्यवादी समाज व्यवस्था में परिवर्तन करने की प्रक्रिया के अंग के रूप में ही समझे जा सकते हैं। उन्हें संस्थागत सीमा में विश्लेषण करना और समझना मार्क्सवादी विश्लेषण का उद्देश्य नहीं है लेकिन विकास-शील देशों की प्रगति और शान्ति की आवश्यकता है।

उद्योग में संबंधों के विश्लेषण के लिए मार्क्स की एक और महत्वपूर्ण देन 'श्रमिकों में कार्य से विराग' की समस्या है। इसके अनुसार उद्योगीकरण तथा फ़ैक्टरी उत्पादन ने कार्य को निरंतर अर्थहीन कर दिया है। मार्क्स के विचार से कार्य ने अपना सकारात्मक अर्थ खो दिया है। तकनीकी प्रगति की वजह से नहीं बल्कि पूंजीवादी समाज में सम्पत्ति के सम्बन्धों के कारण। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि कार्य श्रमिक के लिए बाहरी है यह उसकी स्वाभाविक प्रकृति का अंग नहीं है। इसलिए श्रमिक कार्य में स्वयं को साकार नहीं करता है बल्कि स्वयं को नकारता है। उसमें एक रिक्तता का अहसास उत्पन्न होता है आत्म संतोष का नहीं। ... उसका कार्य एच्छिक नहीं है बल्कि आरोपित है, अनिवार्य श्रम। उसका कार्य अपने लिए अपनी इच्छा से नहीं बल्कि दूसरे के लिए उसकी इच्छा से लिया जाता है। श्रमिक स्वयं अपना नहीं है। जितना अधिक वह श्रम करता है उतना ही गरीब वह बनता रहता है। (बोटोमोर तथा रयूवेल 1974:177-78)

पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था का यह सबसे गम्भीर दुष्परिणाम है। श्रम विराग पर पर्याप्त संख्या में पश्चिमी तथा गैर पश्चिमी विद्वानों द्वारा अध्ययन किया जा चुका है। लेकिन इस पर पुनर्विचार करना आवश्यक है। प्राप्त जानकारी के आधार पर वर्तमान रोजगार परिस्थितियों में 'श्रम विराग' तथा चेतन रूप से स्वीकृत असन्तोषों में अन्तर करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए गोल्ड-थोर्प तथा उनके सहयोगियों ने (1969) थोड़े समृद्ध श्रमिकों के दृष्टिकोण तथा व्यवहारों के विश्लेषण में पाया कि अधिकांश श्रमिक



कार्यों में बाहरी संतोषों को प्रधानता देते थे और अपनी अपेक्षाओं को उसी प्रकार से बना लिया था। वास्तव में श्रम विराग उन सभी रोजगार सम्बन्धों की अनिवार्य उत्पत्ति है जिनमें अधीनस्थों तथा अधिकारियों के सम्बन्ध पाये जाते हैं। लगभग सभी प्रकार के कार्यों में अधिकारियों द्वारा अपने अधीनस्थों को निर्देशित करने की आवश्यकता कार्य सम्पादन के लिए आवश्यक है। यहाँ तक कि सार्वजनिक रूप से प्रवर्धित साधनों एवं उद्योगों में भी श्रम का विभाजन उत्पादन की आवश्यकता के अनुसार न्यूनतम स्तर पर ले जाया जाता है। यदि यह मान की लिया जाय कि पूँजीवादी व्यवस्था तथा पूँजीवादी सम्बन्ध ही श्रम विराग को उत्पन्न करते हैं तो क्या समाजवादी देशों में श्रम विराग की समस्या को हल किया जा सकता है ?

पोलिश समाज में श्रमिक की स्थिति का वर्णन एक पोलिश समाजशास्त्री द्वारा इस प्रकार किया जाता है "श्रमिक आज भी किराये के भजदूर है। समाजवादी क्रांति श्रमिकों के मधीमों से सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं लाती। नहीं फैक्ट्री की तकनीकी व्यवस्था में उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन लाती है। श्रम की संगठन व्यवस्था श्रमिक को फोरमैब तथा फैक्टरी के प्रबन्धकों के अधीन ही रखती है। वह अपने कार्य की मात्रा तथा स्तर के आधार पर वेतन पाता है तथा उसके लिए कार्य अनुशासन के नियमों का पालन अनिवार्य है।" (जैपान्सकी 1970) ! सोवियत यूनियन तथा पोलैण्ड में श्रमिक विराग, हड़ताल तथा संघर्ष के स्तर तक पहुँच गया है। (शिपलर 1977) कार्य स्थल पर सत्ता की संरचना को बनाये रखने की आवश्यकता और अधिक कार्य से विराग की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। अधिकतर श्रमिक दूसरों से अपने कार्य के बारे में निर्देश लेना प्रसन्न नहीं करते हैं। इस स्थिति को रोकने के लिए यूगोस्लाविया ने 1950 में श्रमिक स्व-वियंत्रण की व्यवस्था प्रारम्भ की। यूगोस्लावियन समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये वर्तमान अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि किन इन काउन्सिलों में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व 1960 में 76% से 1970 में 68% तक थिर गया। काउन्सिल की कार्यकारिणी में उसका प्रतिनिधित्व 67% से 44% ही रह गया। श्रमिक काउन्सिलों की विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि संगठन की बैठकों में प्रबन्धक सदैव अधिक प्रभावी रहते थे एवं वही अधिकतर सुझावों को आगे बढ़ाते थे। पोलिश पार्टी के जनरल सेक्रेट्री मिस्टर गियंश 1971 में जब एक हड़ताल कमेटी के सदस्यों से मिले तो उनसे कहा गया कि फैक्टरी के इतने निर्दयी अधिकारी हैं जो मुफ्त का खाते हैं, इनका काम केवल हमें कंट्रोल बीट देना मात्र है। (टाइम्स आफ इंडिया 1980)

क्यूबा से प्राप्त जानकारी के आधार पर यह कहा जाता है कि उद्योग तथा कृषि में अनुपस्थिति तथा उपेक्षा व्यापक है। कार्य दिवस का पूरा उपयोग नहीं किया जाता है (जैसालिन 1970)। इन उपलब्ध जानकारीयों के आधार पर यह कहना कठिन प्रतीत होता है कि कार्य विराग की समस्या पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था एवं उत्पादन के सम्बन्धों को बदलने से दूर हो सकेगी। कार्य से श्रमिक वृद्धा प्राप्त करने की अपेक्षा करता है जब विराग का प्रश्न इससे जुड़ा हुआ है। "यदि हम मनुष्य को उसके वर्तमान स्वरूप



में देखे जैसा कि उसे उसके परिवार स्कूल कार्य तथा उप संस्कृति द्वारा बनाया गया है तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि अधिकांश कामिक 'मशेवैज्ञानिक सन्तोष' को कार्य से अपेक्षाओं में प्राथमिकता नहीं देते ( गोल्डपोप 1968 )। मनुष्य की आवश्यकताएँ उसके सन्दर्भ की उत्पत्ति है। मनुष्य में अनुकूलन की बढभुत क्षमता है। यदि मनुष्य अपनी आकांक्षाओं को अपनी अनिवार्य नियति के अनुसार अनुकूलन करने में असमर्थ होता तो मानसिक चिकित्सालय वर्तमान से कहीं अधिक व्यस्त होते" ( Fox 1974:45 )

ट्रेड यूनियन्स केन्द्रित वृहत उत्पादन व्यवस्था तथा उत्पादन के सम्बन्धों के अनिवार्य परिणाम है। ट्रेडयूनियन आन्दोलन पूँजीवाद को समाप्त करने की दिशा में अग्रसर है अथवा समाजशादी व्यवस्था ने श्रमिक यूनियनों की आवश्यकता को समाप्त कर दिया है, मार्क्सवादी परिपेक्ष्य में यह एक विचारणीय विषय है। मार्क्स का विचार था कि श्रम की अनिवार्य दशाएँ प्रोलिटेरिएट्स को संगठित करेंगी तथा सामूहिक क्रिया की शक्ति के उपयोग द्वारा मालिक वर्ग की शक्ति पर अंकुश लगा कर अन्त में उस शक्ति को धराशायी कर देंगी। श्रम शक्ति कमजोर है अतः वह पूँजीपतियों की बाजार की शक्ति को रोक नहीं सकती। मार्क्स के विचार से "उद्योगपतियों की श्रम बाजार की शक्ति को रोकने वाली संस्था के रूप में ट्रेडयूनियन व्यर्थ हैं, परोक्षरूप से वे वर्ग संगठन के निर्माण की शिक्षा के वाहन एवं सामान्य वर्ग चेतना उत्पन्न करने वाली संस्था के रूप में महत्वपूर्ण है। ट्रेड यूनियनों द्वारा किये जा रहे संघर्ष का वास्तविक उद्देश्य तुरन्त मिलने वाले परिणाम में निहित नहीं है बल्कि श्रमिकों की निरन्तर विस्तृत होती हुई एकता में है।" ( मार्क्स तथा एंजिल्स 1967:93 )

यूनियनों के वर्तमान अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि यूनियनों केवल उस प्रकार का श्रम - अनुशासन ही दे सकती हैं जो औद्योगिक संगठन की व्यवस्था के लिए आवश्यक है। मिल्स ( 1948 ) का विचार था कि यूनियनों के नेता "असन्तोष के प्रबन्धक" है वे बहुत से मसलों को निष्क्रिय बना डालते हैं तथा श्रमिकों की शक्ति तथा उनके ध्यान को उन कतिपय प्रश्नों पर केन्द्रित कर डालते हैं जो पूँजीवादी उद्योग की संरचना में सुलझाएँ जा सकते हैं। इसी दिशा में फाक्स तथा पलन्डर्स (1969) ने भी यह बताया है कि ट्रेड यूनियन संघर्ष के प्रबन्ध की प्रभावी संस्था नहीं हो सकती इसलिए वे अपनी भूमिका, संघर्ष की प्राथमिकताओं को आँकने तथा सुलह की प्रक्रिया में निभाती है जिन पर उद्योग की व्यवस्था निर्भर है। हाइमन (1971:160) का भी यही मत है कि ट्रेडयूनियन आन्दोलन एक प्रकार की ट्रेड यूनियन चेतना को बढावा देता है जो श्रमिकों की आकांक्षाओं को सीमित करती है तथा उन्हें पूँजीवादी बाजार की सीमाएँ स्वीकार करने में सहायक होती हैं। इस प्रकार सामान्यता 'ट्रेड-यूनियनों ने पूँजीवाद तथा श्रमिक वर्ग के आधारभूत विरोधों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के स्थान पर एक सुलझाने वाली भूमिका स्वीकार कर ली है तथा अपनी सोदेबाजी की शक्ति को उन्ही मसलों तक सीमित रखा है जो मूलभूत वेतन भोगी सम्बन्धों को खतरा उत्पन्न नहीं करते हैं"...हाइमन (1971: 164) ने इस बात को



विशेषबल पूर्वक बताया है कि संघर्ष पर्याप्त शिक्षक नहीं है इस रोमांटिक विश्वास के समर्थन में बहुत कम प्रमाण उपलब्ध है कि "बड़े-बड़े औद्योगिक संघर्ष स्वाभाविक रूप से एक ऐसी चेतना उत्पन्न करते हैं जो अन्य सभी सीमाओं को लांघकर श्रमिक को एक सूत्र में बांध सके।" ( हाइमन 1973:126 ) फैक्टरी, श्रम बाजार तथा अन्य संरचनाएँ सामान्य वर्ग चेतना को बढ़ने से रोक देती हैं। यहाँ तक कि "वैतनिक श्रमिक एक पृथक वर्ग के रूप में, धीरे-धीरे बलिक हिमात्मक रूप से स्वयं को किसान, व्यापारी तथा नियुक्तिकर्ताओं से पृथक् करता जा रहा है" ( जैक वारवाश 1956:36 ) इनाइडर ( 1957:389 ) का विचार है कि श्रमिक यूनियनों की ओर किसी वैचारिक कारकों अथवा सामाजिक लाभों से प्रेरित नहीं है, वे मूलरूप से कार्य सुरक्षा की भावना से प्रेरित होते हैं। 'श्रमिक वर्ग के संघर्ष के स्थान पर न केवल श्रम विक्री की मुनाफेयुक्त शर्तें प्राप्त करने, बल्कि उस समाज व्यवस्था को नेस्तनाबूद करने, जो निर्धन व्यक्तियों को स्वयं को धनिकों के हाथ बेच देने के लिए बाध्य करती है।' के लिए संघर्ष के स्थान पर सह नियंत्रण तथा संघर्ष समाधान की संस्थाओं ने उस संरचना को और मजबूत कर दिया है जिसके माध्यम से श्रम को बेचने वालों ने इस वस्तु ( श्रम ) को अधिक अच्छी शर्तों पर बेचना तथा खरीदार से विशुद्ध व्यावसायिक लेन देन के रूप में लड़ना सीखा। ( लैनिन 1970:104 ) विकासशील तथा विकसित देशों में राज्य के हस्तक्षेप ने वर्ग चेतना के निर्माण में बाधा उत्पन्न की है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रश्न यह भी उठाया गया है कि यूनियनें क्या सम्पूर्ण श्रम शक्ति को संगठित कर सकती हैं? यह कहा गया है कि केवल थोड़े से यानी कुल श्रम शक्ति के 25% श्रमिकों को संगठित करने से ही यूनियनें अपनी उपस्थिति के अहसास मात्र से मजदूरी तथा कार्य दशाओं में उन परिवर्तनों को उत्पन्न कर देती हैं कि शेष श्रमिकों को यूनियनें बनाने की आवश्यकता ही नहीं होती। प्रो० सोरोकिन ( 1947 : 156 ) का विचार है कि यदि श्रम यूनियनें सम्पूर्ण समाज को संगठित करती हैं तो वे श्रम यूनियनें न रहकर मानवता की यूनियनें बन जाती हैं। अपनी चरम सीमा पर उनकी शक्ति न्यूनतम हो जाती है एवं वे राजनीतिक व्यवस्था की एक अभिगम ( Agency ) बन जाती हैं।

समाजवादी व्यवस्था में श्रम यूनियनों के बारे में जो जानकारी उपलब्ध है उससे पता चलता है कि व्यवस्था परिवर्तन ने श्रम यूनियनों की आवश्यकता एवं उनके महत्व को कम नहीं किया है। लैन्सकी की रिपोर्ट के अनुसार सोवियतयूनियन में ही कई तो श्रमिकों ने स्वतन्त्र यूनियन बनाने का प्रयास किया है। पोलैंड में श्रमिकों ने पार्टी के नियंत्रण से मुक्त स्वतन्त्र ट्रेडयूनियनों के निर्माण के अधिकार की मांग की थी। स्वतंत्र ट्रेड यूनियन आंदोलन की आवश्यकता पड़ी और उसे दबा दिया गया। इससे यही प्रतीत होता है कि पार्टी सत्ता का श्रमिकों से सम्बन्ध कमजोर है तथा पार्टी की नीतियाँ एवं श्रमिकों की आवश्यकताएँ भिन्न हैं। व्यावहारिक जीवन में "साम्यवादी झुकाव के यूनियन नेताओं को भी सामूहिक सौदेबाजी का कुशल खिलाड़ी होना पड़ता है। सभी संगठन की बागडोर उनके हाथ में रह सकती है" ( हास्वीसन 1954 : 177 )



इस प्रकार मार्क्सवाद की वैचारिकी संरचनात्मक परिवर्तनों पर बल देती है तथा वर्ग संघर्ष के माध्यम से जीवन तथा कार्य की उन दशाओं को पुनः स्थापित करने अथवा सुधारने की आशा जाग्रत करती है जो सहज मानवीय हैं तथा जिन्हें पूंजीवाद एवं उद्योगवाद की संस्कृति ने नष्ट कर दिया है। मार्क्सवाद का महत्व इसीलिये बढ़ जाता है कि उसने सामाजिक रंगमंच पर श्रमिक को एक प्रधान पात्र के रूप में विचारों का केन्द्र बनाया एवं उसकी उपस्थिति तथा ऐतिहासिक भूमिका के प्रति सामाजिक जागरूकता उत्पन्न की। (नैफ 1968 : 47) मार्क्सवाद के विचारों ने एक विश्व आंदोलन को जन्म दिया तथा सामाजिक विश्लेषण का एक शक्तिशाली उपागम दिया। औद्योगिक सम्बन्धों में अनेक परिवर्तन प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मार्क्सवाद की ही देन हैं।

लेकिन उद्योग के सीमित क्षेत्र में मार्क्सवादी विश्लेषण की संकल्पनाएँ हमें एक ऐसे अन्त पर पहुँचा देती हैं जहाँ आगे बढ़ने का कोई रास्ता नजर नहीं आता। मनुष्य की अनुकूलन करने की क्षमता पर से विश्वास उठ जाता है। वास्तव में मानव व्यवहार इतना जटिल है कि उसे किसी एक कारण परिणाम के निश्चित सिद्धान्त में बाँधना कठिन है और इसीलिए मार्क्सवाद एक प्रकार का Reductionism प्रतीत होता है। प्रस्तुत विवेचना औद्योगिक संघर्ष, कार्य विराग तथा श्रम यूनियन तक ही सीमित रही है। मार्क्सवादी विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि (1) उद्योग की संरचनात्मक व्यवस्था में श्रमिक व्यवहार को समझना एवं उसका विश्लेषण करना न तो मार्क्सवाद का उद्देश्य है और नहीं विश्लेषण सम्भव है। (2) मार्क्सवादी विचार उत्पादन के प्रकार तथा उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तन द्वारा पूंजीवाद तथा उद्योगवाद से उत्पन्न मानवीय समस्याओं को समाप्त करने पर बल देता है लेकिन जो कुछ जानकारी समाजवादी देशों के बारे में उपलब्ध है उसके आधार पर यह स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है कि केवल व्यवस्था परिवर्तन से ही इन समस्याओं का हल सम्भव है। (3) औद्योगिक समस्याओं तथा औद्योगिक सम्बन्धों का विश्लेषण तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था के परिवेश में ही सम्भव है किसी विश्वव्यापी सिद्धान्त के आधार पर क्षेत्रीय एवं सांस्कृतिक समायोजन की सराहना करना आलोचना करना अथवा मार्ग दर्शन करना व्यावहारिक नहीं है।

### REFERENCE

- Brown David and Michael J Harrison (1978) A Sociology of Industrialization, The Macmillan Press Ltd London.
- Beynon H (1973) Working for Ford. Harmondsworth, Middx : Penguin Books.
- Bottomore T. B I. Ru'el M. (Ed) 1961. Karl Marx : Selected writings in Sociology and Social philosophy. Penguin Books.
- Blauner Robert (1964) Alienation and Freedom : The Factory worker and his Industry. University of Chicago Press,



- Fox Alan ( 1974 ) Beyond contract : Work Power and Trust Relations. Faber and Faber Ltd. London.
- Fox A. and Flanders A. ( 1969 ) 'The Reform of collective bargaining From Donovan to Durkheim', British Journal of Industrial Relationon 7. PP. 151-80.
- Goldthorpe, J. H. etal ( 1969 ) The Affluent worker in class structure, University Press Cambridge.
- Gerhard Lenski ( 1978 ) Marxist Experiments in Destratification : An appraisal. Social Forces vol. 57 : 2 Dec.
- Hyman R. ( 1971 ) Marxism and the Sociology of Trade Unionism, London : Pluto Press.
- ( 1973 ) Industrial conflict and the Political Economy : Trends of the Sixties and prospects for the seventies in socialist Register 1973, ed. R. Miliband and J. Saville. London Merlin Press
- Harbison, F. ( 1954 ) 'Collective Bargaining and American Capitalism' in Kornhauser. A. etal ( eds. ) 1954—Industrial Conflict Mc Graw Hill New York.
- Jack Barbash ( 1956 ) The Practice of unionism. Harper New York.
- Mills C. W. ( 1959 ) The Power Elite, Newyork oxford University—Press.
- Marx K. and Engels F. ( 1948 ) The Communist Manifesto Harmondsworth. Middx : Penguin Books. 1967.
- Neft, Walter S. ( 1968 ) Work and Human Behaviour Athertsn Press. Newyork.
- Seeman Melvin ( 1959 ) On the meaning of Alienation American sociological Review 6, PP. 783-91.
- Schnieder, Eugene ( 1957 ) Industrial sociology. Me Grow Hill Book Co. New York.
- Shipler D. ( 1977 ) Sovlet Workers kept heir Mouth shut or Else, Newyork Times news service Dec. 14.
- Szeze pans' i Jan ( 1970 ) Polish society. New York Random House.
- Sorokin P. A. ( 1947 ) Society, Culture and Personality, Harper New York.
- Zeitlin Maurice ( 1970 ) Revolutionary politics and the cuban working class Harper New York.
- Times of India Sept. 6, 1980—The Polish Predicament by Sham Lal P.6.



## आचार्य कौटिल्य और कार्ल मार्क्स

### वीणा व्यास

आचार्य कौटिल्य और कार्ल मार्क्स अपने समय की दो महान विभूतियाँ हैं, जिनके विचारों तथा निर्देशों ने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश को प्रभावित किया तथा अपने विचारों के माध्यम से भविष्य के लिए भी सुस्पष्ट निर्देश देने का कार्य किया। दोनों शास्त्रज्ञ चिन्तकों के मध्य देश एवं काल का अत्यधिक लम्बा अन्तराल है, जो उन्हें दो समान्तर स्तम्भों के सदृश रखता है, तथापि दोनों की विचारधाराओं के मूल तत्वों में एक विचित्र साम्य दृष्टिगोचर होता है।

✓ आचार्य कौटिल्य तीसरी सदी ईसा से पूर्व में भारत भूमि में होने वाले महान नीतिज्ञ थे जिनकी राजनीति आज के युग में भी उतनी ही उपयोगी है जितनी तत्कालीन युग में थी। निरंकुश राजसत्ता के पोषक कौटिल्य राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के उद्घोषक और संस्थापक थे। 19 वीं सदी की शोषक और साम्राज्यवादी मनोवृत्तियों से आपका कोई परिचय न था, किन्तु आप मानव मनोभावों को समझने की अद्वितीय क्षमता से युक्त ऐसे मनीषी थे जिन्होंने ईसा से पूर्व की सदियों में ही भविष्य के मनुष्य की साम्राज्य लिप्सा और शोषक मनोवृत्ति का दिग्दर्शन किया था। इन्हीं मनोवृत्तियों का विश्लेषण कर अपने नीति सम्बन्धी सिद्धांत निर्धारित किये थे।

कार्ल मार्क्स ने 19 वीं सदी के औपनिवेशिक साम्राज्यवाद, राज्य एवं मनुष्य द्वारा मनुष्य के आर्थिक शोषण की भयानकता को निकट से देखा और अनुभव किया था। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप मार्क्सवादी जिहाद की घोषणा तत्कालीन पूँजीवादी राजसत्ता के विरुद्ध की। एक व्यक्तित्व अपने चारों ओर के शोषक परिवेश के विरुद्ध विद्रोही हो आर्थिक शोषण का विरोधी बना तो दूसरे की भविष्य दृष्टि एवं मनुष्य के चरित्र को समझने की अन्तर्दृष्टि ने उसे शोषण का विरोधी बना दिया। विचारों का यही साम्य दोनों महान विभूतियों के मध्य विरोधामास युक्त विचित्र समता को उपस्थित करता है।

दोनों का उद्भव और विकास राजतंत्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत ही हुआ। ईसा से पूर्व जब आवागमन के साधन सीमित थे, उच्चकोटि के वैज्ञानिक अनुसंधानों की शृंखला आरम्भ न हुई थी, न ही यांत्रिकयुग का आगमन हुआ था, आचार्य कौटिल्य राजतंत्रात्मक व्यवस्था में राज्य द्वारा वृत्ति प्राप्त करने वाले बुद्धिजीवी थे। इनकी वृत्ति अत्याचारी धर्म विरोधी नन्द नरेशों द्वारा बन्द कर दी गयी थी। नन्द नरेशों के उत्पीड़क धर्म विरोधी शासन का प्रत्यक्ष दर्शन आचार्य कौटिल्य ने किया था। आप भारत के उस



वर्ग के प्रतिनिधि थे जो राजसत्ता और सामाजिक विधाओं का नियामक वर्ग है। फ्रेंच स्वल्प आचार्य कौटिल्य धर्म विरोधी शुद्ध नन्द शासकों को समाप्त कर धर्म सम्मत राज्य की स्थापना करने के लिये अग्रसर हुये। आपने अपने शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य को सहायता देकर मगध राज्य में क्रांति की एवं बाहुबल द्वारा नन्दों का उन्मूलन कर चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में धर्म पर आधारित, सशक्त राजतंत्र की स्थापना की। इस प्रकार एक हिंसा-त्मक क्रांति द्वारा उत्पीड़क शासन की समाप्ति और लोककल्याणार्थ धर्मसम्मत सशक्त राजतंत्र की स्थापना का कार्य कौटिल्य के निर्वेशों के आधार पर सम्पन्न हुआ।

19 वीं सदी में कार्ल मार्क्स का उद्भव और विकास भी उस समय हुआ जब प्रशा के चांसलर प्रिंस बिस्मार्क ने जर्मन एकीकरण के कार्य आरम्भ कर दिये थे और 1870 में एकीकृत जर्मनी में सशक्त राजसत्तात्मक व्यवस्था की स्थापना कर दी थी। मार्क्स ने जर्मनी के विकेन्द्रित और एकीकृत दोनों रूपों का दर्शन किया था, किन्तु मार्क्स निरंकुश राजसत्ता का विरोधी था। इसके दृष्टिकोण से राज्यसत्ता पूंजीवादी शोषण को संरक्षण देने वाली एवं आर्थिक शोषण की आधारभूत संस्था है। मार्क्स का यह विचार पाश्चात्य राजसत्तात्मक सिद्धांत पर आधारित था। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार राजा भूमि पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। इस दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत के द्वारा पाश्चात्य शासक असीमित अधिकार सम्पन्न व्यक्ति हैं जिसके विरोध का अधिकार जनता को प्राप्त नहीं। राजा का अच्छा या बुरा होना जनता के पुण्य और पाप कर्मों का प्रतिफल है अतः जो कुछ प्राप्त हो उसे ईश्वर का प्रसाद समझकर ग्रहण करना जनता का कर्तव्य है। मार्क्स राजसत्ता की शोषणयुक्त एकांगी विचारधारा का कट्टर विरोधी था क्योंकि इसके अन्तर्गत पूंजीवादी शोषण अपनी चरम सीमा तक पहुँचने में समर्थ था, तथा सर्वसामान्य जनता की रक्त मज्जा से राज्य का निर्माण करने के कार्य किये जाते थे। मार्क्स ने सर्वहारा शोषण द्वारा संकल्पित संपत्ति से संगठित पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध हिंसात्मक क्रांति का आह्वान कर समस्त सर्वसामान्य को एक जुट होने का गुरुमंत्र दिया।

इस प्रकार एक लम्बे अन्तराल के होते हुये भी आचार्य कौटिल्य और मार्क्स शोषण की व्यवस्थाओं के विरोधी थे, चाहे शोषण राजनीतिक हो सामाजिक हो या आर्थिक हो। दोनों ने शोषण के विरुद्ध शक्ति के प्रयोग का सिद्धांत प्रस्तुत किया। यदि मार्क्स पूंजीवाद के विरुद्ध हिंसात्मक क्रांति की बात कहता है तो कौटिल्य भी बाहुबल द्वारा धर्मसम्मत राजसत्ता की स्थापना का समर्थन करता है। दोनों के विचारों में वैमन्य क्रांति के पश्चात् स्थापित होने वाली व्यवस्था को लेकर है। जहाँ कौटिल्य का राज्यतंत्र<sup>1</sup> धर्म का संरक्षक, उच्चायक, लौकिक शक्ति का संवर्धक एवं मनुष्य-मात्र के चतुर्मुखी विकास तथा सुख समृद्धि की स्थापना का माध्यम है, वहीं मार्क्स का राजतंत्र शोषक राजतंत्र है अतः वह इस पूंजीवादी राजतंत्रीय व्यवस्था का उन्मूलन कर एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना चाहता है जिसमें न्याय एवं समानता की स्थापना हो सके और हर



प्रकार के शोषण की संभावना समाप्त हो जाय। इस प्रकार मार्क्स की विचारधारा शोषित और दलित वर्ग की विचारधारा के रूप में प्रस्तुत हुई और उसने सर्वहारा वर्ग के प्राधान्य के सिद्धांत प्रदान किये।

दोनों युग पुरुषों ने अपने सिद्धान्तों और विधि निर्देशों में 'अर्थ' को प्रधानता दी है। समस्त कार्यों, घटनाओं तथा उपलब्धियों के मूल में 'अर्थ' को एक महत्वपूर्ण और निर्णायक कारण माना है किन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य विचारों के वैभिन्न्य और भिन्न मानसिकता के कारण दोनों के तर्क और प्रतिपाद्य विषय एक आधार पर होते हुए भी एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं। जहाँ पाश्चात्य विचारधारा अति भौतिकवादी है वही भारतीय में आध्यात्मिक पक्ष पर्याप्त सबल है।

अतः मार्क्स की व्याख्याएँ भौतिकता पर आधारित हैं। आपने अर्थ को प्रधानता देते हुए, उसके अनन्तर जिस व्यवस्था को प्रतिपादित किया उसमें समाज पूँजीवादी और सर्वहारा दो वर्गों में विभक्त है। एक वर्ग धन सम्पन्न, अधिकार एवं सुविधा सम्पन्न जिसका एकाधिकार समस्त उपकरणों पर है तथा दूसरा धन सम्पत्ति और अधिकार विहीन है। इन दो असमान वर्गों के बीच व्याप्त शोषण, असमानता और अग्राय के विरुद्ध जन-जागरण लाना मार्क्स का प्रथम उद्देश्य था। वह शोषित वर्ग को उसकी शक्ति एवं अधिकार से परिचित कराकर एक न्यायपूर्ण समानता पर आधारित व्यवस्था की स्थापना का कार्यक्रम लेकर चला था, जिसका लक्ष्य दलित वर्ग को संगठन का गुरुयंत्र प्रदान करना था ताकि वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो सके। मार्क्स के विचारों ने मजदूरों के संगठनों, ट्रेड यूनियन, लेबर यूनियन आदि को जन्म दिया। संगठित श्रमिक आन्दोलनों का युग आरम्भ किया। सहकारी समितियों की व्यवस्था अस्तित्व में आई। इस विचारधारा ने पश्चिमी जगत में क्रांति उत्पन्न की एवं पश्चिम में सशक्त राजतन्त्रों ने समाजवादी प्रवाह को प्रतिबन्धित करने के उद्देश्य से राज्य समाजवाद की नीति अपना कर मजदूरों के लिए विभिन्न सुधारात्मक अधिनियम पारित किये।<sup>2</sup> किन्तु मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त मूल्य, अतिरिक्त मूल्य, वर्ग संघर्ष और सर्वहारा वर्ग की अधिनायकत्व के सिद्धान्त इतने तथ्यपूर्ण, और उत्तेजक थे की समाजवाद की बाढ़ को रोकना सम्भव न हो सका।

मार्क्स के समान ही कौटिल्य ने भी अपने सिद्धान्तों में अर्थ को प्रधानता दी है। किन्तु कौटिल्य राज्य एवं समाज की व्यवस्थाओं का नियामक था अतः उसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ के प्राधान्य का ध्येय भिन्न है।

आचार्य कौटिल्य भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था एवं अनुशासन के पोषक और संस्थापक थे। उनके अनुसार इस व्यवस्था के सम्यक् पालन में ही लोक कल्याण निहित है। क्योंकि मानव जीवन में भोग और कामना ही बड़ी उपलब्धि नहीं वरन् उसका संयम, नियम, आदर्श और आध्यात्मिक विचार सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि हैं। भोग के साथ योग भी है, कामना के साथ साधना भी है। वस्तुतः जीवन में भौतिक सुख और आध्यात्मिक



सुख दोनों का महत्व है। जीवन की सार्थकता इन दोनों के सन्तुलित, समन्वित रूप को प्राप्त करने में है भारतीय जीवन दर्शन इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वित और संतुलित रूप है, यह स्वरूप ही 'पुरुषार्थ' कहा गया है। भौतिक सुख के अन्तर्गत अर्थ एवं काम आध्यात्मिक सुख में धर्म एवं मोक्ष रखे गए हैं। इन चारो पुरुषार्थों के वैज्ञानिक रूप की संस्थापना करते हुए कौटिल्य ने अर्थ को प्राथमिकता दी।<sup>४</sup>

✓ अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः ।

अर्थ मूलोहि धर्मकामायिति ॥

अर्थात्—

अर्थ ही चारों पुरुषार्थों में प्रथम प्रधान है। धर्म एवं काम इसी के अन्तर्गत है अर्थात् अर्थ द्वारा ही काम और धर्म की प्राप्ति सम्भव है।

कौटिल्य संयमित विकास और आध्यात्मिक उन्नयन के लिए अर्थ को मूल में रख कर आगे बढ़ते हैं क्योंकि उनकी व्यवस्था में असंयम और असंतुलन को कहीं भी स्थान नहीं दिया गया है। मार्क्स भी १९वीं सदी में अर्थ के कारण उत्पन्न असंयमित, असंतुलन अव्यवस्था और अर्थ के अनियमित उपभोग के प्रति अपनी तीव्र प्रतिक्रिया अपने सिद्धान्तों के माध्यम से प्रकट करते हैं।

मार्क्स ने मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्यों के सिद्धान्तों द्वारा स्पष्ट किया कि पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन की विभिन्न वस्तुओं के समान ही श्रमिक का 'श्रम' भी एक वस्तु है। पूंजीपति उत्पादन हेतु श्रम का क्रय करता है। श्रमिक अपने श्रम का उचित मूल्य प्राप्त नहीं कर पाता। मार्क्स के अनुसार पूंजीपति श्रमिक को मात्र इतना ही वेतन देता है जितना उसके भरण पोषण और उसके श्रम लेने के लिए आवश्यक है। अतः मार्क्स इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि श्रमिक के श्रम से उत्पादित वस्तु का दोहरा मूल्य होता है। प्रथमतः प्रयोग मूल्य ( use-value ) द्वितीय-विनिमय मूल्य ( Exchange value ) वस्तु के विनिमय मूल्य से प्राप्त धन ही अतिरिक्त मूल्य है। श्रमिक अपने वेतन के रूप में मूल्य का एक छोटा सा अंश ही प्राप्त करता है और समस्त अतिरिक्त मूल्य पूंजीपति के नियंत्रण में चला जाता है जिसका वास्तविक अधिकारी श्रमिक है क्योंकि मार्क्स के अनुसार श्रमिक ही वास्तविक उत्पादक है। मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या की है और उसके अन्तर्गत इसने प्रत्येक प्रकार के कार्य श्रम के अन्तर्गत रखा है। एक ओर जहाँ मार्क्स यह स्वीकार करता है कि उत्पादन में श्रम ही नहीं बल्कि पूंजी, कच्चा माल, भूमि, मशीनों आदि का भी सहयोग है, पूंजीपति अपने संकलित धन का उपयोग नए कारखाने खोलने एवं नवीन उपकरणों को क्रय करने में लगाता है वहीं दूसरी ओर मार्क्स मजदूर वर्ग को समस्त उपकरणों पर नियंत्रण करने यह सामूहिक सहयोग से समानान्तर उद्योगों को आरम्भ करने की विधा भी देता है। मार्क्स के अनुसार समाज का असमान विभाजन वर्ग संघर्ष का जन्मदाता है क्योंकि कि



पूँजी के संकलन के कारण समाज में प्राप्त आर्थिक असमानता की खाई निरंतर बढ़ती जाती है और अन्ततः संपत्ति विहीन वर्ग, संघर्ष द्वारा पूँजीपति व्यवस्था को अधिकृत कर लेता है। मार्क्स का यह वर्ग-संघर्ष उस समय तक निरंतर चलता है जब तक वर्गहीन समाज की स्थापना न हो जाय। अपने इसी वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त के दौरान मार्क्स सामयिक व्यवस्था के रूप में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना की आयोजना देते हैं। इस प्रकार मार्क्स नितान्त भौतिकवादी दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ते हैं, जब कि भारतीय जीवन आधार शिला की भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का समन्वित स्वरूप है जिसका प्रतिनिधित्व ही आचार्य कौटिल्य करते हैं। जीवन के प्रति दोनों मनीषियों के दृष्टिकोण भिन्न धरातल पर आधारित हैं, किन्तु आश्चर्य जनक तथ्य यह है कि मार्क्स त्रिस लोककल्याणकारी राज्य की प्राप्ति के लिए वर्ग संघर्ष, हिंसात्मक क्रांति, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के सोपानों का विवरण देते हैं और अपने उद्देश्य की चरम उपलब्धि के रूप में वर्गहीन समाज की रचना करते हैं, वही कौटिल्य मनुष्य की मनोवृत्तियों तथा उनमें उत्पन्न प्रतिक्रियाओं को दृष्टिगत रखते हुए, राज्य, उद्योगपति, श्रमिकवर्ग, सबके लिए ऐसे राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्तों का निर्देश देते हैं जिनका व्यवहारिक पक्ष मार्क्सवादी या साम्यवादी व्यवस्था के कार्यकारी स्वरूप के अत्यन्त निकट है। कौटिल्य ने राज्य के प्रत्येक वर्ग को चाहे वह शासनाधिकारी वर्ग हो, बुद्धिजीवी हो या श्रमिक हो, अधिकार बोध और कर्तव्य बोध साथ-साथ कराया है और इसी आधार पर नीति निर्देश दिए हैं। कौटिल्य द्वारा प्रदत्त निर्देशों पर डाली गयी एक विहंगम दृष्टि इस तथ्य को स्पष्ट करने में समर्थ है। राज्य की औद्योगिक नीति के सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए कौटिल्य ने यह स्पष्ट किया कि जनता कि समृद्धि, सम्पत्ति और संतुष्टि ही राज्य को समृद्ध और सम्पन्न बनाती है। अतः आवश्यक है कि मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो। इस शोषण को रोकने के उद्देश्य से कौटिल्य ने राज्य के उन समस्त उद्योगों पर जिन पर राज्य का विकास एवं समृद्धि, अस्तित्व निर्भर हैं, राज्य के नियंत्रण के सिद्धान्त की स्थापना की। अर्थात् इनमें लगी समस्त पूँजी, श्रम एवं प्रबन्ध राज्य का होना चाहिए। इसी प्रकार उत्पादन, वितरण एवं उपभोग पर भी राज्य का नियंत्रण होना चाहिए। इस प्रकार उद्योगों के माध्यम से प्राप्त राशि का उपयोग लोक कल्याणार्थ किया जाना चाहिए।

राज्य नियंत्रित उद्योगों के साथ कौटिल्य ने निजी उद्योगों (private sectors) को भी समर्थन एवं प्रोत्साहन दिया है किन्तु इस संबंध में यह अनिवार्यता रखी कि निजी उद्योग के अधिपति उद्योग के निमित्त क्रय विक्रय वितरण राज्य द्वारा स्थापित व्यवस्था के माध्यम से ही करे, स्वतंत्र रूप से नहीं। इस प्रकार निजी उद्योगों के वितरण एवं उपभोग पर भी राज्य के अप्रत्यक्ष नियंत्रण की स्थापना की जिससे पूँजी का अत्यधिक संग्रह वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष के पास न हो सके।

राज्य की समृद्धि की अभिवृद्धि को दृष्टिगत रखते हुए कौटिल्य ने उद्योगों पर कर लगाने के सम्बन्ध में जो विधान दिया है वह भी पर्याप्त क्रांतिकारी है। उसके अनुसार किसी भी उद्योग के ऊपर उसके शेषकाल में अर्थात् प्रारम्भ में कर नहीं लगाना



चाहिए। अपने विचार को स्पष्ट करने के लिए कौटिल्य ने इसकी तुलना पके हुए फल और चतुर माली से की एवं कहा।<sup>4</sup>

✓ पववं पववाभिन्नारामात्फलं राज्यादवाप्नुयात् ।

आमच्छेद भयादामं वर्जयेत्कोष कारकम् ।

अर्थात्—

✓ जिस प्रकार चतुरमाली वृक्षों से पके फलों को एकत्र कर उनका उपयोग करता है, वह कच्चे फलों को तोड़ता नहीं वरन, उनकी रक्षा करता है एवं उनके पूर्ण विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है उसी प्रकार राजा को सोच विचार कर, प्रजा को परिपुष्ट कर कर लगाने चाहिए।

तात्पर्य यह है कि यदि किसी भी उद्योग के प्रारम्भ में उस पर कर का बोझ होगा तो राज्य उससे अधिक लाभ न ले सकेगा और उद्योग शीघ्रगति से विकसित न हो पायेगा अतः अधिक लाभ की प्राप्ति हो इस निमित्त राज्य द्वारा उसकी रक्षा और विकास आवश्यक है। इस प्रकार नवीन उद्योग के शैशव में उसे कर मुक्त रखने का विधान दिया।

इसी के साथ कौटिल्य राज्य के लिए उपयोगी एवं दुर्लभ वस्तुओं को शुल्क मुक्त रखने का विधान देता है।<sup>5</sup> इतना ही नहीं कौटिल्य का कथन है कि वे वस्तुएँ जिनका उपयोग जन सामान्य विशेष अवसरों और संस्कारों, अनुष्ठानों आदि के लिए करते हैं जन सुलभ और सस्ती होनी चाहिए इस कारण सामान्य उपयोग तथा विशिष्ट अवसरों में प्रयुक्त होने वाली वस्तुएँ भी शुल्क मुक्त होनी चाहिए जिससे जनता को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े।<sup>6</sup>

कौटिल्य के इन उपर्युक्त निर्देशों का कार्यान्वयन, आज के युग में भी संभव है यदि समय तथा आवश्यकता को देखते हुए उसके द्वारा प्रदत्त सूची में आंशिक परिवर्तन कर दिये जाये। इस प्रकार कौटिल्य की व्यवस्था अत्याधुनिक आधारों पर प्रगतिशील संयमित कल्याणकारी राज्य की व्यवस्था है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि निरंकुश सत्ता का समर्थक होते हुए भी कौटिल्य ने राजा द्वारा राजकोष के प्रयोग का विधान भी किया है। किसी भी निरंकुश व्यवस्था में राजकोष पर राजा का ही स्वामित्व रहता है। कौटिल्य ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी यह विधान किया कि राजा एक वेतन भोगी कर्मचारी है जो राजा प्रजा के योग क्षेम सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन में प्रमाद करता है और अपने निर्धारित कर्तव्यों का विधिवत पालन नहीं करता है, इस वेतन की प्राप्ति के अधिकार से वंचित हो जाता है। अतः कोष के मनमाने प्रयोग एवं संचय करने के अधिकारों का स्वेच्छाचारी प्रयोग का अधिकार राजा को प्राप्त न था। अतः किसी भी प्रकार उत्पीड़न की सम्भावना के उपस्थित होने की स्थिति न थी।<sup>7</sup> कौटिल्य का विधान राजा को मनमाने ढंग से कोष का उपयोग व्यक्तिगत जीवन के लिए करने की अनुमति नहीं देता।



उपयुक्त विधानों के साथ ही कौटिल्य ने उद्योगों में कार्यरत शिल्पियों, कर्मचारियों आदि के वेतन, भत्ता, पुरस्कार एवं दण्ड से सम्बन्धित नियमों का निर्माण भी किया है। अपनी व्यवस्था में वह दोनों पक्षों को संरक्षण प्रदान करते हैं तथा कर्त्तव्य एवं अधिकार दोनों का समान ज्ञान भी देते हैं।

अतः कौटिल्य का कथन है कि अच्छे शिल्पियों और कारीगरों को संतुष्ट तथा प्रसन्न रखना राज्य की समृद्धि के लिए आवश्यक है। अतः उनके उत्साह वर्धन के लिये समय-समय पर उन्हें पुरस्कृत करना चाहिए।<sup>8</sup> पुरस्कार के साथ ही दण्ड का भी विधान रखा है। कौटिल्य ने निर्देश दिए हैं कि प्रत्येक शिल्पी को कार्य देते समय ही यह स्पष्ट निर्देश देना चाहिए कि कार्य पूर्ण करने की अवधि कितनी है। उत्पादन की मात्रा तथा निर्धारित अवधि का निर्देश शिल्पियों के द्वारा की जाने वाली समय की बर्बादी को रोकता है। यदि कोई कार्यकर्ता अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करे एवं निर्दिष्ट निर्धारित अवधि में निश्चित उत्पादन न करें या कार्य संपूर्ण न करे तो उसे कठोर दण्ड देने का भी विधान कौटिल्य ने दिया।<sup>9</sup> इस प्रकार कौटिल्य कर्त्तव्य उपेक्षा करने वालों के द्वारा किसी प्रकार के असंयम और अव्यवस्था के उत्पन्न होने की संभावना को ही बाधित कर देते हैं।

प्रत्येक कर्मचारी के वेतन के संबंध में आपका विचार है कि कार्य के दायित्व, लाभ और गौरव के आधार पर कार्यरत कर्मचारी का वेतन निर्धारित होना चाहिए।<sup>10</sup> इसके साथ ही यह स्पष्ट किया कि वेतन इतना होना चाहिए कि वह अपना और अपने आश्रितों का सुख पूर्वक पालन पोषण कर सके। उसे किसी अन्य माध्यम का सहारा न लेना पड़े।<sup>11</sup>

वेतन निर्धारण के साथ ही कौटिल्य वेतन भुगतान के लिए भी नियमबद्ध थे। वह विलम्ब से वेतन का भुगतान दण्डनीय अपराध मानते थे। अतः उन्होंने ऐसे पदाधिकारियों के लिए जो वेतन का विलम्ब से भुगतान करता हैं 'मध्यम साहम' का दण्ड निर्दिष्ट किया।

कौटिल्य की उदार व्यवस्था यहीं तक सीमित न थी वे आधुनिक व्यवस्थाओं के पर्याप्त निकट थीं। इसके अन्तर्गत आपने कार्यरत कर्मचारी की मृत्यु पर उसका वेतन और भत्ता उसके पुत्र या पत्नी को देने का विधान किया—कर्मसु मृतानां पुत्र दारा भक्त वेतनं छभेरन्।<sup>12</sup> इसी के साथ आश्रितों की भी व्यवस्था की यदि वे आश्रित बालक वृद्ध या रोगी हैं तो—

‘बाल वृद्ध व्याधितश्चैवाय मुग्राह्याः।’<sup>13</sup>

अर्थात्—

यदि राजा के कर्मचारी<sup>14</sup> की मृत्यु हो तो उसके आश्रित यदि बालक वृद्ध या रोगी हैं तो राजा को अनुग्रह करके उनके लिए वेतन या भत्ता निर्धारित करना चाहिए।



राजा और कर्मचारियों के मध्य संबंध स्नेह पूर्ण तथा मधुर रहें इसका ध्यान रखते हुए कौटिल्य राजा को यह दायित्व भी प्रदान करता है कि वह अपने कर्मचारियों के ग्रहों में होने वाले विशेष अवसरों, उत्सवों, संस्कारों आदि पर उपहार आदि प्रदान कर अपने विशेष अनुग्रह का प्रदर्शन करे।<sup>16</sup>

कौटिल्य की शोषण विरोधी व्यवस्था में मात्र वेतन तथा भत्ते का ही उल्लेख न था वरन उसमें वह सार्वजनिक अवकाश तथा त्यौहारों पर अवकाश की भी व्यवस्था थी। उसके अनुसार यदि अवकाश के समय या त्यौहार के समय कार्य लिया जाय तो उसके लिए अतिरिक्त वेतन दिया जाना चाहिए।<sup>17</sup>

इस प्रकार यदि हम कौटिल्य द्वारा निर्देशित आर्थिक सिद्धांतों, कार्य, कार्य के घंटे वेतन, अवकाश, पुरस्कार आदि का निरूपण समय तथा काल के अनुसार आधुनिक मन्दावली में करें तो उसकी व्यवस्था साम्यवादी व्यवस्था की न्याय और समानता की व्यवस्था से श्रेष्ठतर ही प्रमाणित होगी।

दोनों महान चिंतकों ने कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए पृथक पृथक मार्गों का चयन किया। मार्क्स की वर्गहीन समाज की कल्पना मात्र कल्पना है जिसका व्यवहारिक पक्ष शून्य है किन्तु उक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने अपनी शताब्दी में एक महान विध्वंसक आंदोलन को जन्म दिया।

कौटिल्य व्यवहारिक प्रणाली के ठोस आधार पर अपनी व्यवस्था को प्रस्तुत करता है। शोषण को रोकने के सशक्त माध्यम प्रस्तुत करते हुए अधिकार तथा कर्तव्य के मध्य सन्तुलन बनाये रखता है। भारतीय परिवेश जो धर्म से अनुप्राणित है, स्वतः ही इस प्रश्न को उपस्थित करता है कि भारत आज को भौतिकतावादी स्पर्धा में किन सिद्धांतों को ग्रहण कर प्रगति समृद्धि संगठन की ओर अग्रसर हो सकता है। निश्चय ही वे सिद्धांत कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद है, जो प्रदर्शनों और हड़तालों जैसी असंयमित व्यवस्थाओं का विरोधी और प्रगति, सुरक्षा संरक्षण समृद्धि का समर्थक है।

### संदर्भ

- 1) प्रजा सुखे सुखम् राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।  
आत्म प्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥  
श्लोक 39 अ० 19 अधि० 1 अर्थशास्त्र ।

अर्थात्—

प्रजा के सुख में ही राजा का सुख निहित है और प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण है। राजा का अपना प्रिय एवं कल्याणकारी कार्य पृथक नहीं होता। प्रजा का प्रिय और कल्याणकारी कार्य ही राजा का प्रिय और कल्याणकारी कार्य होता है।



2. इंग्लैंड, जर्मनी फ्रांस आदि में Factory Legislation के अन्तर्गत विविध नियम पारित हुए जिनके द्वारा कार्य के घंटों का निर्धारण किया गया, बच्चों को खान के भीतर काम करने की मनाही की, वेतन निर्धारण, Old age pension accident, insurance, Provident fund, आवास आदि से सम्बन्धित नियम पारित हुए तथा मजदूरों को संरक्षण देने की नीति अपनायी गयी।
3. वार्ता 10 अ० 7 अधि 1 अर्थशास्त्र।
4. श्लोक 82 अ० 2 अधि० 5 अर्थशास्त्र।
5. महोपकार मुच्छुल्कं कुर्याद् बीजं तु दुर्लभम्।  
वार्ता 39 अ० 21 अधि० 2 अर्थशास्त्र
6. वार्ता 22 अ० 21 अधि० 2 अर्थशास्त्र।  
वैवाहिक मन्वायन मौपायनिकं यज्ञ कृत्यग्र सव नैमित्तिकं देवेभ्यो चौषोपनयनं गोदानवृत्तदक्षिणादि सुक्रिया विशेषेषु भाग्युच्छुल्कं गच्छेत्।
7. तेन भूताराजानः प्रजानां योगक्षेमं ब्रह्मास्तेषां किल्बिषामदण्डकरा हरन्ति अयोगक्षेम-  
ब्रह्मश्च प्रजानाम्।  
तस्माद् दुच्छद्भागमारण्यका अपि निवर्त्यन्ति तस्यैतदभागं धेयं योऽस्यान्गोपायतीति।  
वार्ता 8, 9 अ० 13 अधि० 1 अर्थशास्त्र
8. गन्धमाल्यदानैरन्यैश्चोग्राहिकैराराधयेत्।  
वार्ता 9 अ० 23 अधि० 2 अर्थशास्त्र
9. वेतनेषु च कर्मकराणामपराधतो दण्डः। वार्ता 20 अ० 23 अधि० 2 वार्ता 3  
अ० 14 अधि० 2; वार्ता 13, अ० 1 अधि० 4 अर्थशास्त्र आदि
10. एतेन भूतानाम् भूतानां च विद्याकर्मभ्यां भक्त वेतनं विशेषं च कुर्यात्॥  
वार्ता 36 अ० अधि० 5 अर्थशास्त्र
11. एता वता भरणे नानास्वाद्यन्व मेकोपकं चैवं भवति।  
वार्ता 5 अ० 3 अधि० 5 अर्थशास्त्र
12. वार्ता 29 अ० 3 अधि० 5 अर्थशास्त्र
13. वार्ता 30 अ० 3 अधि० 3 अर्थशास्त्र
14. कौटिल्य निर्देशित नियमों में राज कर्मचारी एवं राज्य नियंत्रित उद्योगों का स्थान था। उद्योगों पर राज्य का नियंत्रण होने के कारण उसमें कार्यरत समस्त कर्मचारी शिल्पी भी राज कर्मचारियों की ही श्रेणी में आते थे पृथक् नहीं।
15. प्रेत व्याधित सूतिका कृत्येषु चैवामर्थमान कर्म कुर्यात्।  
वार्ता 31 अ० 3 अधि० 5 अर्थशास्त्र
16. तिथिषुप्रतिपादनमानैश्च कर्मकारयित्त्याः।  
वार्ता 6 अ० 23 अधि० 2 अर्थशास्त्र









## मार्क्सवादो समाज विज्ञान

सत्य प्रकाश आर्य

सामान्य व्यक्ति के मन में प्रायः यह भ्रम स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि क्या कार्लमार्क्स को मात्र एक दार्शनिक (philosopher) ही कहा जाना चाहिए अथवा उन्हें एक समाजशास्त्री (sociologist) कहना भी उपयुक्त होगा ? वास्तविकता तो यह है कि मार्क्स ने क्योंकि सारे आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक पक्षों के प्रति अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए मौलिक सन्दर्भ के रूप में 'मानव समाज' (human society) और 'व्यक्ति' (individual) इनके परस्पर सम्बन्ध तथा समाज में निरन्तर विकसित होती रही प्रक्रियाओं (processes) को ही विशेष स्थान दिया है, इन पक्षों के प्रति अपने समस्त अध्ययनों के लिए वैज्ञानिक कसौटी पर परखने और अपने निष्कर्षों को व्यावहारिक तर्कों और प्रमाणों पर ही स्थापित करने का प्रयास किया है, अतएव यदि हम मार्क्स को न केवल अन्य सामाजिक-आर्थिक दार्शनिकों की ही भाँति, बल्कि उनसे कहीं अधिक बढ़कर एक 'समाज वैज्ञानिक' (social scientist) की श्रेणी प्रदान करें, यही दृष्टिकोण सम्भवतः सर्वोपयुक्त होगा।

मार्क्स का विचार था कि समाज विज्ञान तथा चिन्तन एवं दर्शन अनुसन्धान के एक सम्पूर्ण क्षेत्र के ही प्रमुख निर्माणक-क्षेत्र हैं। जबकि दर्शन समाज के अध्ययन के लिए एक अवधारणात्मक संरचना या ढाँचा (conceptual Frame-work) स्थापित करता है, समाज विज्ञान कुछ ऐसी दार्शनिक समस्याओं तथा ऐसे विषयों को समझने में सहयोग देता है जिन्हें अन्य किसी क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य' क्या है ? 'समाज' क्या है ? 'इतिहास' क्या है ? 'धर्म' क्या है ? इत्यादि इसी प्रकार के प्रश्न हैं जिनका निदान 'समाज विज्ञान' के ही अधीन सम्भव है। मार्क्स का विचार था कि 'मनुष्य' के बारे में समस्त अवधारणाएँ जैविकीय तथा सामाजिक, दोनों प्रकार की परिस्थितियों के अधीन अपना कोई रूप धारण करती हैं। इसलिए समस्त दर्शन तक भी अतीत अथवा इतिहास की ही देन मानी जानी चाहिए।

### मनुष्य तथा समाज

कार्ल मार्क्स ने 'मनुष्य' की जो अवधारणा प्रस्तुत की है वह यद्यपि दार्शनिक आधार पर टिकी हुई है, परन्तु उनका मनुष्य से सम्बन्धित विज्ञान समाजशास्त्रीय तथा अनुभव सिद्ध (empirical) है। आप के विचार में, व्यक्ति या मनुष्य की प्रकृति उसकी क्रियाओं के अवलोकन से जानी जा सकती है। फ्यूअरबाख (Feuerbach) के विचार में, 'समाज मनुष्य से भी पहले है क्योंकि मनुष्य वास्तव में आत्म-सचेत (self-



conscious) तथा मानव केवल अपने साथी-व्यक्तियों के माध्यम से ही बनता है।<sup>1</sup> मनुष्य सदैव ही एक सामाजिक प्राणी (Social being) रहा है, उसे अपने जीवित रहने के लिए काम भी करना पड़ता है। जीवित रहने के लिए साधनों की उत्पत्ति सदैव ही एक सामूहिक अर्थात् 'सामाजिक क्रिया' (Social activity) हुआ करती है। व्यक्ति एक दूसरे के सहयोग से ही उत्पादन करते हैं और परस्पर अपनी क्रियाओं तथा उत्पादनों की एक-दूसरे से बदला-बदली भी करते हैं।

### 'समाज'—मार्क्सवादी दृष्टिकोण

उत्पादन करने के हेतु ही मनुष्य एक दूसरे के प्रति कुछ निश्चित सम्बन्धों में प्रविष्ट होते हैं और इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत 'उत्पादन' (production) होता है। इस प्रकार अन्तःक्रिया करने वाले (interacting) व्यक्तियों के द्वारा ही 'सामाजिक संसार' (Social world) की स्थापना होती है। इसलिए मार्क्स ने कहा था कि "समाज अनेक व्यक्तियों का केवल एक समुच्चय (aggregate) मात्र ही नहीं है, बल्कि यह (समाज) व्यक्तियों की प्रत्यावर्ती (reciprocal) क्रिया की उपज है और मनुष्य का विज्ञान समाज में व्यक्तियों के बीच पायी जाने वाली अन्तः क्रियाओं का अध्ययन है।"<sup>2</sup> मार्क्स महोदय 'व्यक्ति' को एक प्राकृतिक इकाई मानने के कारण इस बात पर भी बल देते रहे कि 'समाज' प्राकृतिक कारकों से स्थापित होता है जिनकी उत्पत्ति भी मनुष्य के साथ ही होती है और समाज के ये कारक भी प्रकृति की अन्य समस्त घटनाओं की ही भाँति प्राकृतिक कारकों से निर्देशित होते हैं।

### सामाजिक उद्विकास

मार्क्स ने व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों के साथ ही सामाजिक उद्विकास (Social evolution) की अवधारणा को भी स्थापित किया। इसी के अन्तर्गत 'प्रगतिशील श्रम-विभाजन' (progressive division of labour) को मार्क्स ने प्रोत्साहित किया। इसी आधार को लेकर आपने घोषित किया था कि विश्व के समस्त इतिहास को 'मनुष्य' की ही रचना (creation of man) कहा जाना चाहिए। मनुष्य का सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन, उसका बौद्धिक विकास, इत्यादि सभी कुछ सामाजिक उलझनों से पनपते हैं। सामाजिक जीवन में भाग लेने के द्वारा ही तथा एक-दूसरे के साथ कार्य करने से ही व्यक्ति अनेक संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं की उत्पत्ति करते हैं, जैसे भाषा, सरकार, सामाजिक संगठन, कानून, कला, विज्ञान तथा धर्म इत्यादि। इसी के द्वारा वे स्पष्ट रूप से मानव विशेषताएं प्राप्त करते हैं।

### प्राकृतिक प्रघटनाएं तथा समाज

मार्क्स ने विज्ञान की स्थापना के आधार पर ही भौतिकवाद तथा आदर्शवाद के मध्य उलझी हुई गुथी को सुलझाया है। मनुष्य से सम्बन्धित बिज्ञान ने ही यह दर्शाया है कि किस प्रकार मानव का सम्पूर्ण आध्यात्मिक अनुभव तक



भी सामाजिक अन्तः क्रिया के ही द्वारा विकसित हो पाया है। माक्स ने साथ ही साथ प्राकृतिक प्रघटनाओं के क्षेत्र को अधिक विस्तृत करके समाजशास्त्र के विकास के लिए भी क्षेत्र बढ़ाया है और 'समाज' को भी एक प्राकृतिक अस्तित्व वाली इकाई (natural entity) की मान्यता प्रदान की है। आपके विचार में मनुष्य की प्रकृति एक स्वयं-विकसित तथा संचयी प्रक्रिया में सामाजिक उद्विकास की एक बदलती हुई उपज है।

विभिन्न व्यक्तियों के बीच अन्तः क्रियाओं के जाल को 'समाज' मानने की अवधारणा ने यह पुनः स्थापित किया कि समाज और व्यक्ति के मध्य एक निरन्तरता (continuity) पायी जाती है। इस अवधारणा में यह तो स्वतः निहित ही था कि सामाजिक प्रघटनाएँ भी प्राकृतिक प्रघटनाएँ ही होती हैं जो प्राकृतिक नियमों के अधीन कार्यशील बनी रहती हैं। अन्तःक्रिया की अवधारणा तथा इसके अधिक विशिष्ट स्वरूपों जैसे विभेदीकरण, विशेषीकरण तथा श्रम-विभाजन ने अपेक्षाकृत स्थायी समूहों को विकसित होने के कारण जानना सम्भव बना दिया चाहे वे समूह, परिवार, जनजाति गिल्ड, जाति तथा सामाजिक वर्ग के ही रूप में क्यों न हों।

### सामाजिक वर्ग

अपने समाजशास्त्रीय दायरे में कार्ल माक्स ने जहाँ एक ओर 'मनुष्य' और 'समाज' की अवधारणाओं को स्पष्ट किया तथा उन्हें परस्पर अन्तर-सम्बन्धित भी किया, वहाँ साथ ही साथ, आप ने 'सामाजिक वर्ग' (Social class) के सिद्धान्त को भी अपने एक पृथक दृष्टिकोण से तर्क पूर्वक स्थापित करने का महान् कार्य किया है। समाजशास्त्र के किसी आधुनिक अध्ययनकर्ता को माक्स की 'सामाजिक वर्ग' की अवधारणा एक अद्वितीय योगदान के रूप में ग्रहण करनी पड़ती है जिसके अभाव में सम्भवतः कोई विद्वान आधुनिक समाजशास्त्र को भली प्रकार समझ लेने का दावा नहीं कर सकता है। 'सामाजिक वर्ग' का सिद्धान्त ही वास्तव में माक्स की वह देन है जिस पर आपकी सम्पूर्ण समाजवादी व्यवस्था तथा इससे सम्बन्धित चिन्तन एवं दर्शन, वर्ग-संघर्ष, सामाजिक क्रांति और समाज के परिवर्तित स्वरूप के प्रति भविष्यवाणी, इत्यादि सभी कुछ आधारित है।

### माक्सवादी अवधारणा

माक्सवादी सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता यह विश्वास है कि 'सामाजिक वर्ग' मानव समाज के उद्विकास में एक निश्चित भूमिका अदा करते हैं। प्रत्येक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन किसी न किसी रूप में 'वर्ग-संघर्ष' (class struggle) से जुड़ा हुआ है। यह वर्ग-संघर्ष ही किसी समाज के एक उद्विकासीय चरण से दूसरे चरण में परिवर्तन का निर्धारण करता है। माक्स का समाजशास्त्र वर्ग-सम्बन्धों तथा तनावों से इतना अधिक प्रभावित है कि यदि हम इसे 'माक्सवादी समाजशास्त्र' के स्थान पर 'वर्ग संघर्ष का समाजशास्त्र' (Sociology of class struggles)



ही कहने लग जाएं तो भी यह त्रुटिपूर्ण नहीं होगा। आपने सम्पूर्ण समाज को दो प्रमुख वर्गों 'सर्वहारा' (proletariat) तथा 'पूंजीपति, बुर्जुआ' (bourgeoisie) के अन्तर्गत विभाजित किया है।

आपके विचार में, सामाजिक वर्गों में, उनकी सामूहिक प्रकृति होने के कारण दबाव, उत्पीड़न (Coercion) की शक्ति तथा उसे अपने सदस्यों को किन्हीं निश्चित प्रतिमानों के अनुसार क्रिया करने और उनपर अपनी विचारधारा थोपने के लिए क्षमता विद्यमान होती है। दुर्खीम (Durkheim) ने मनुष्य की सम्पूर्णता (totality) के द्वारा व्यक्तियों पर डाले जाने वाले दबाव को अधिक महत्वपूर्ण बताया है और कहा है कि कोई सम्पूर्ण वस्तु उसके अपने विभिन्न भागों के मात्र योग से कहीं अधिक शक्तिशाली होती है और यह एक विशिष्ट यथार्थता का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी कुछ अपनी पृथक् विशेषताएँ होती हैं। उदाहरणार्थ, कोई सम्पूर्ण समूह अपने सदस्यों के व्यक्तिगत और बिखरे हुए रूप में सोचने, अनुभव करने तथा क्रिया करने के तरीकों से बिल्कुल भिन्न रूप में दिखायी पड़ता है।<sup>3</sup>

कार्ल मार्क्स ने यद्यपि 'सामाजिक वर्ग' की यह अवधारणा स्थापित तो अवश्य की, परन्तु आप इसे सामाजिक स्तरीकरण के किसी सार्वभौमिक सिद्धान्त (universal theory) के रूप में प्रस्तुत न कर सके। बहुत कुछ मार्क्स के ही विचारों पर आधारित करते हुए लेनिन (Lenin) ने परिभाषित किया है कि "सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियों के विशाल समूह हैं जो किसी ऐतिहासिक रूप से निर्धारित सामाजिक उत्पादन की व्यवस्था में उन्हें प्राप्त होने वाली प्रस्थिति के कारण विभिन्नता प्रकट करते हैं, जो उत्पादन के साधनों से सम्बन्धित होते हैं, जिनकी श्रम के सामाजिक संगठन में एक भूमिका होती है और जो सामाजिक सम्पत्ति (धन) के अंश के आकारों के कारण भी एक दूसरे से भिन्न हो जाया करते हैं चाहे वे उसे प्रयोग करने अथवा प्राप्त करने से सम्बन्धित हों।"<sup>4</sup>

### 'सामाजिक वर्ग' के आधार (मान्यताएं)

आधुनिक समाज में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के आधार पर कार्ल मार्क्स ने केवल तीन प्रमुख सामाजिक वर्गों, अर्थात् मजदूरी प्राप्त करने वाले श्रमिकों (wage labourers), पूंजीपतियों (capitalists), तथा भू-स्वामियों (land owners) को ही बड़े सामाजिक वर्गों के रूप में मान्यता दी है। इस दृष्टि से तो मार्क्स द्वारा प्रस्तुत वर्ग-विभाजन आय के स्रोतों पर ही आधारित प्रतीत होता है। परन्तु बाद में इन्हें आय-स्रोतों के रूप में न अपनाते हुए, मार्क्स ने इन साधनों (भूमि, पूंजी और श्रम) के स्वामित्व को सामाजिक वर्गों का विभाजन आधार स्वीकार किया है। मार्क्स ने 'सामाजिक वर्ग' की स्थापना में तीन निम्नलिखित मुख्य आधार माने हैं :

(i) उत्पादन के साधन तथा सम्पत्ति का वितरण—वास्तव में सामाजिक वर्ग सामाजिक सम्पत्ति के वितरण में स्थिरता के आधार पर ही एक-दूसरे



से विभेदीकृत किये जा सकते हैं। इस प्रकार आय का वितरण नहीं; बल्कि सम्पत्ति का वितरण ही वर्ग-विभाजन का वास्तविक आधार है।<sup>5</sup>

(ii) केवल दो वर्ग : सर्वहारा और पूँजीपति—दूसरी मार्क्सवादी मान्यता सामाजिक वर्गों के आर्थिक आधार से इस प्रकार सम्बन्धित है कि पूँजीवाद के अन्तिम स्तरों पर समाज में केवल दो ही वर्ग रहेंगे, अर्थात् सर्वहारा और पूँजीपति (बुर्जुआ)। सर्वहारा वर्ग के पास विक्रय के लिए केवल उनकी श्रम-शक्ति ही रह जाएगी और पूँजीपति वर्ग ही उत्पादन के समस्त साधनों पर नियन्त्रण रखेगा।

मार्क्स की यह मान्यता भी दुर्बल है कि आधुनिक औद्योगिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता तथा उसके प्रभाव वाला तत्व विशेष महत्व रखता है जिसे मार्क्स ने अपनी 'सामाजिक वर्ग' की अवधारणा में पूर्णतः त्याग दिया है। मार्क्स के विचार में "वर्ग जिसके पास भौतिक उत्पादन के साधन उपलब्ध होते हैं, ही शासक-वर्ग (ruling class) होता है।"<sup>6</sup>

(iii) वैचारिक चेतना: विरोधी वर्गों से तनाव तृतीय मार्क्सवादी मान्यता 'वैचारिक चेतना' की है जिसके अन्तर्गत न केवल कोई वर्ग अपनी एकता (unity) मात्र के प्रति ही जागरूक हो सकता है बल्कि अन्य उपस्थित सामाजिक वर्गों के प्रति खिचाव-तनाव तथा शत्रुता की भावना भी रखता है जिसके परिणामस्वरूप ही वह वर्ग अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए दूसरों के हितों के विरुद्ध एक संघर्ष को प्रोत्साहित करता है। यह कहा गया है कि "पृथक बिखरे हुए व्यक्ति केवल उसी सीमा तक एक वर्ग का निर्माण करते हुए माने जाते हैं जब तक कि उन्हें दूसरे वर्ग के विरुद्ध एक सामान्य संघर्ष करते रहना पड़ता है।"<sup>7</sup>

संक्षेप में, मार्क्स ने वर्ग-चेतना में एक निश्चित तथा स्पष्ट विचारधारा को सम्मिलित किया है। इस चेतना के अन्तर्गत सम्पन्न की जाने वाली क्रिया का एक कार्यक्रम इस प्रकार अपनाया जाता है जिसका उद्देश्य वर्तमान या प्रचलित वस्तु-स्थिति को दृढ़ बनाये रखना, परिवर्तित कर देना अथवा पूर्णतया उखाड़ फेंकना होता है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

किसी समाज में वर्ग-संरचना (class-structure) वास्तव में आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक, तीनों ही आधारों पर निर्भर होती है। मार्क्स ने प्रमुख रूप से आर्थिक आधार को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। वास्तविकता यह है कि किसी आर्थिक वर्ग की निर्धारक विशेषताएं आवश्यक रूप से उसके सदस्यों की सामाजिक और राजनीतिक विशेषताओं के अनुरूप नहीं होती हैं। सच तो यह है कि जिस वर्ग में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक, तीनों ही आधार सन्तोषजनक



रूप से सन्तुलित होते हैं वही वास्तविक अर्थ में 'सर्वोत्तम वर्ग' माना जाना चाहिए। इन तीनों आधारों से भी पूर्व, काल मार्क्स ने अपने लेखों तथा विवरणों में, 'सामाजिक वर्ग' को स्थापित करने में 'ऐतिहासिक' आधार को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। मार्क्स ने बाद में इन आधारों को भी त्यागते हुए अपनी स्वेच्छानुसार कुछ बड़े पैमाने के सामाजिक समूहों को ही 'सामाजिक वर्गों' की श्रेणी में सम्मिलित कर दिया है। इस हेतु मार्क्स ने विभिन्न आधारों को समयानुकूल तथा परिस्थितियों के अनुरूप अपनाने का प्रयास किया है।

अन्त में, यही कहा जा सकता है कि मार्क्स ने 'सामाजिक वर्ग' की दो प्रकार की, अर्थात् समाजशास्त्रीय तथा ऐतिहासिक अवधारणाएं स्थापित करके एक जटिल समस्या खड़ी कर दी है। मार्क्स का अन्तिम रूप से इसी पक्ष पर अधिक बल है कि ऐतिहासिक आधार पर ही आगे चलकर भविष्य में केवल दो ही प्रमुख सामाजिक वर्ग, सर्वहारा और बुर्जुआ, रह जायेंगे। अन्य शेष सभी वर्गों का इन्हीं दोनों में से किसी न किसी रूप में विलय हो जाएगा। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित तर्कों के अधीन होने वाले दीर्घकालीन सामाजिक परिवर्तन इसी वर्गीकरण की पुष्टि करेंगे। परन्तु यह अनुमान कहाँ तक यथार्थ सिद्ध होता है, इस समस्या का उत्तर तो भविष्य में आने वाला युग तथा उसमें घटित होने वाले परिवर्तन ही दे सकेंगे।

### संदर्भ

1. "Society is prior to the individual, for and becomes truly human and self conscious only through his fellow-men". L. Feuerbach, *The Essence of Christianity*, Harper Torchbooks, New York, 1957, p. 587.
2. "Society is not an aggregate of individuals but the product of man's 'reciprocal action' and the science of man is the study of the interactions among individuals in society." cf. Jordan, Z. A. (ed.), *Karl Marx: Economy, Class and Social Revolution*, London, Michael Joseph; 1971, p. 11.
3. "The group thinks, feels and acts quite differently from the way in which its members would, were they isolated." Emile Durkheim, *The Rules of Sociological Method*, Glencoe, New York, 1958, pp. 2, 101-4.
4. "Social classes are large groups of people differing from each other by the place they occupy in a historically-determined system of social production, by their relation (in most cases fixed and formulated in law) to the means of production, by their role in the social organisation of labour, and, consequently, by the



dimensions of the share of social wealth of which they dispose and the mode of acquiring it." V. I. Lenin, 'A Great Beginning', *Collected Works*, Moscow, 1960 ff, Vol. XXIX, p. 421.

5. ".... the distribution of property, and not the distribution of income, is the true basis of the formation of classes." Bottomore, T. B., *Classes in Modern Society*, London, 1965, pp. 17ff.
6. "The class which has the means of material production at its disposal, is the ruling class." Quoted by Jordan, Z. A., *op. cit.*, p. 27.
7. The separate individuals from a 'class' only in so far as they have to carry on a common battle against another class." *Ibid.*









## कार्ल मार्क्स का जीवन परिचय

भगवान शरण्य भारद्वाज

“जब हम जीवन में अपनी काम करने की स्थिति का चयन कर लेते हैं, तो हमें मानव जाति के लिए सर्वोत्तम कार्य करना चाहिए। इसमें आने वाले अवरोधों का भार हमें चकनाचूर नहीं कर सकता क्योंकि इसमें सभी को ऐसे बलिदान करने पड़ते हैं।”

सन् 1917 की रूसी राज्यक्रांति ने सर्वहारा अधिनायकवाद के अभ्युदय तथा जार-शाही के पतन का शंखनाद किया। इस क्रांति के उन्नायक लेनिन थे किन्तु इसे समृद्ध चिन्तन की पीठिका देने का महत्कार्य नवयुग के मन्त्रद्रष्टा ऋषि कार्ल मार्क्स ने किया। उन्होंने देखा कि विश्व में करोड़ों व्यक्ति दारिद्र्य-ग्रस्त तथा पशुओं से भी दयनीय तथा हेय जीवन यापित करने के लिये जिस समाज व्यवस्था द्वारा विवश कर दिये गये हैं उसके मूल को उत्पाटित करना, जिसमें आमूलाग्र परिवर्तन कर अभिनव व्यवस्था का श्री गणेश करना ही एकमात्र मार्ग है न कि यात काल, जीर्ण-शीर्ण, पर्युषित तथा प्रगति विरोधी व्यवस्था में सुधार का प्रयास। मानव-जगत् की प्रगति का पथ खोजने वाले, अस्तित्व की मूलभूत समस्याओं का तलस्पर्शी आलोचना कर उनका निराश करने वाले और नूतन जीवन का सन्देश प्रदान करने वाले पथिकत् सूरियों की संख्या कम नहीं है मगर यह सौभाग्य विरलों को ही मिल पाता है कि उन्होंने जिन स्वप्नों, आदर्शों और विज्ञानदेशक सिद्धान्तों की सृष्टि की हो, जिनके लिए हृद्देश में उद्दाम आकांक्षा जीवन व्यापी-साध, निश्चन्द, निष्काम और समग्र समर्पण तथा उद्वेलनकारी आह्वान पल रहा हो, उन्हें व्यवहार में रूपान्तरित होते, कल्पना को सत्य में ढलते देख सकें। मार्क्स व्यवहारनिष्ठ तत्त्वविद् थे। उन्होंने लिखा है—‘दार्शनिक लोग अब तक विश्व की व्याख्या करने का प्रयास करते रहे हैं किन्तु महत्वपूर्ण बात तो है विश्व को बदलना।’

अकिञ्चनों के मुक्तिदूत मार्क्स ने 5 मई, 1818 ई० को हेनरी मार्क्स नामक यहूदी वकील के घर जर्मनी के राइनलैण्ड प्रदेश के अन्तर्गत ट्रियर नामक नगर में जन्म लिया। वह बाल्यकाल से ही स्वाधीन चेतन था। उनके चरित्र में अनमनीय दृढ़ता और विद्रोही-मुलम निस्संगता तथा अनासक्ति प्रारम्भ से ही परिलक्षित होती थी। उनके दुर्धर्म और अपराजेय व्यक्तित्व को गढ़ने में उक्त गुणों की भूमिका के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जब वह छः वर्ष के थे उनके परिवार ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया, तथापि यह बताना मुश्किल है कि ईसाइयत ने उन्हें किसी प्रकार भी प्रभावित किया था।

उनकी आरम्भिक शिक्षा उनके भावी स्वसुर के यहां हुई। 1831 में कानून के छात्र के रूप में कार्ल ने बॉन विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। दूसरे वर्ष वह बर्लिन विश्व



विद्यालय चले गये। वेस्ट फैलेन के सम्पर्क से मार्क्स ने शेक्सपियर, शिलर, दान्ते आदि कवियों की कृतियों का रसास्वादन किया। उनके पिता की इच्छा थी कि वह कानून में निष्णात हों किन्तु मार्क्स इसके विपरीत दर्शन और इतिहास के अध्ययन में अहोरात्र व्यस्त रहते थे। उनपर हीगल के दर्शन का व्यापक प्रभाव पड़ा। 1841 ई० में उन्होंने डेमा क्रेट्स तथा एपिक्यूरस के दर्शन पर डॉक्टरेट प्राप्त की।

मार्क्स फ्यूरवाख की इस मान्यता को स्वीकार करते थे कि भगवान मनुष्य को नहीं, किन्तु मनुष्य भगवान को बनाता है वह शनैः शनैः अनीश्वरवाद की दिशा में अभिमुख होते गये। शिक्षा का सत्र पूरा होने पर उन्होंने बॉन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक पद के लिए आवेदन किया किन्तु उनके बाइबिल-विरोधी विचारों के कारण उन्हें नौकरी नहीं मिली। उन्होंने पत्रकारिता का मार्ग चुना, रहाइनीशेत्साइतुंग नामक पत्रिका का सम्पादन किया। उनके मित्रों ने एक दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया जिसमें उन्होंने नियमित रूप से लिखना आरम्भ किया। उनके विचार अत्यन्त उग्र थे, इससे पत्र अल्पकाल में बहुत लोकप्रिय हुआ। पत्र की आयु छोटी ही रही क्योंकि सेंसर के आघात से उसकी अकाल मृत्यु हो गयी।

एक सम्प्रांत परिवार की कन्या जेनी के साथ पिछले सात साल से कार्ल के मधुर प्रणय-सम्बन्ध चल रहे थे। युवाहृदय जेनी के सान्निध्य में कवि बन चुका था। कार्ल जेनी को लक्ष्य करके प्रणय-कविताओं की रचना करने लगे। उनकी कुछ कविताएँ प्रकाशित भी हुई। अपने निश्चित और अटल विचारों के कारण मार्क्स रूढ़ प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि उनका अन्तर्मन मानवीय कारुण्य, प्रेम, सदाशयता और अनुराग सराबोर था। प्रणय-परिणय में परिणत होकर जीवन की स्थायी शक्ति बनता है। विवाह के फल के रूप में—पक सकने वाला प्रेम न रस समाज-मंगल की दृष्टि से अभिशप्त और जीवन का चपल विकार मात्र है। कार्ल पवित्र विवाह-सूत्र में बँध गये। जेनी सच्चे अर्थों में उनकी जीवन-संगिनी सिद्ध हुई। वह पति के हर कृत्य में सहायता किया करती थी। वह स्वयं एक धनवान परिवार की पुत्री थी, किन्तु पतिग्रह में दारिद्र्य के निवारण आघातों से जर्जर होने पर भी रंचमात्र उद्विग्नता उनके हास्योज्ज्वल मुखमण्डल पर कभी नहीं देखी गयी। पग-पग पर आने वाले कष्टों को उन्होंने सोत्साह सह्य और कार्ल की साधना में कभी व्याघात उपस्थित नहीं होने दिया। कार्ल के प्रशंसक, मित्र और सहचर जेनी के निर्मल-निश्चल स्वभाव के कारण बहुत प्रसन्न रहते थे। वह अपनी रचनाओं की पाण्डुलिपि पत्नी के हाथों में सौंप देते थे और उनके अभिमत का पूरा सम्मान करते थे। जेनी कैंसर से ग्रस्त हो गयी और इसी द्रवित्वाजन्य रोग ने उसके प्राण ले लिए।

1848 में यूरोप के अनेक देश में क्रांति की सम्भावना उत्पन्न हुई। मार्क्स को बेल्जियम छोड़ने का आदेश मिला। वह पेरिस चले गये। 1849 ई० में फ्रांस की सरकार ने भी उन्हें निर्वासन-आदेश दे दिया, अतः वह लन्दन आ गये। यहीं उन्होंने



जीवन के शेष वर्ष बिताये। कोटि-कोटि अकिञ्चनों के अन्न-वस्त्र चिन्ताओं में संलग्न व्यक्ति को 1860 तक आत्यान्तिक दारिद्र्यता में दिन बिताने पड़े। विधि की विडम्बना कितनी निर्मम है कि दूसरों की रोटी, कपड़ा, और मकान के लिए संघर्ष करने वाला महाप्राण कार्ल एक बार उस मकान का किराया भी न चुका सका जिसमें वह रहता था। मकान मालिक ने उसे मकान छोड़ने के लिए विवश कर दिया और किराया बसूल करने के लिए उसका सारा सामान, बच्चों के पालने और खिलौने तक कुर्क करा दिये। 1852 में छोटी बेटी फ्रांसिस्का कण्ठनाली के प्रदाह से चल बसी जिसके लिए पड़ोसी से उधार लेकर कफन की व्यवस्था की जा सकी। दारिद्र्यता ने एक दूसरे बच्चे के भी प्राण ले लिए। मार्क्स ने बुकिंग क्लर्क के स्थान के लिए जो प्रार्थना-पत्र दिया, वह इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया कि मार्क्स का हस्तलेख सुपाठ्य नहीं, किन्तु कर्मवीर ने परिस्थितियों के सामने घुटने टेकना नहीं सीखा था, विपत्तियों की अनवरत शर-वर्षा में दीनता और पलायन का, चिन्ता या विषाद का कष्ट राग छेड़ना नहीं सीखा था।

इसी समय फ्रेडरिक एंजिल्स के साथ उनका परिचय हुआ जिसने घनिष्ठ मैत्री का रूप ग्रहण कर लिया। एंजिल्स मार्क्स से दो वर्ष छोटे थे। वह उनके सखा, अनुचर, सहायक और सहकर्मी सभी कुछ थे। ऐसी मित्रता संसार में बहुत कम दिखाई पड़ती है। आर्थिक विपन्नता मैत्री की निर्मम कसीटी है। सुख के दिनों में चारों ओर से घेरे रहने वाले मौसमी मित्र विपत्तियों के निदाघकाल में जाने कहीं अदृश्य हो जाते हैं! एंजिल्स न केवल आनन्दपूर्ण दिनों के सहचर थे अपितु विपत्काल में भी साथ निभाने वाले सच्चे मित्र थे। सरकारें उस समय विवेकहीन हो जाती हैं जब सभी विचारकों से अपने अनुकूल चिन्तन की अपेक्षा करने लगती हैं और जहाँ कोई मनीषी उनसे जरा भी मतभेद रखता है, वहीं सहिष्णुता खोकर उस पर अपनी शक्ति का प्रहार कर बैठती हैं। मार्क्स को पेरिस से बहिष्कृत कर दिया गया। जनवरी 1845 में वह ब्रुसेल्स चले आये। एंजिल्स उन्हें लन्दन ले गए जहाँ जर्मन श्रमजीवी शिक्षण-संघ से उनका परिचय कराया। मार्क्स जब ब्रुसेल्स लौटे तब उन्होंने पूर्वोक्त संस्था के समान एक श्रमजीवी सघ स्थापित किया जिसका उद्देश्य था साम्यवाद के सिद्धान्तों का अध्ययन तथा प्रचार-प्रसार। विभिन्न देशों के साम्यवादियों को संगठित करने के लिए उन्होंने एक साम्यवादी पत्राचार समिति का निर्माण किया। 1847 ई० में लन्दन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसमें ब्रुसेल्स, लन्दन और पेरिस के प्रतिनिधियों ने भाग लिया इसके फलस्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संघ का जन्म हुआ। मार्क्स और एंजिल्स ने उसकी ओर से साम्यवादी घोषणापत्र प्रसारित किया। पत्र के अन्तिम अंश में कहा है—“सर्वहारा क्रान्ति के आतंक से शासक-वर्ग को कांपने दो। श्रमिकों के पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जीतने के लिए सारा जगत् है। समस्त संसार के श्रमजीवियों एक हो जाओ।”

मार्क्स ने इस घोषणा-पत्र में पूँजीवाद के पिशाच का प्राणान्त करने के लिए दस सूत्री कार्यक्रम निरूपित किया है—



1. भूमि के रूप में सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्त किया जाए और तमाम लगान का उपयोग सार्वजनिक हित के कार्यों के लिए किया जाए ।
2. आयकर इस प्रकार निर्धारित किया जाए कि आय की मात्रा में वृद्धि के साथ उसकी भी मात्रा बढ़ती जाय ।
3. उत्तराधिकार की प्रथा सर्वथा समाप्त कर दी जानी चाहिए ।
4. विद्रोहियों की सम्पत्ति राज्य द्वारा अधिग्रहीत कर ली जानी चाहिए ।
5. राज्य की पूंजी से राष्ट्रीय बैंक खोलकर लेन-देन का काम एकमात्र राज्य ही करे ।
6. डाक तार तथा यातायात के साधनों पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण हो ।
7. एक वृहत् योजना के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों का विस्तार, परती जमीन पर कृषि और उर्वरता का संवर्द्धन किया जाय ।
8. प्रत्येक व्यक्ति के लिए काम करना अनिवार्य हो ।
9. कृषि-कार्य उद्योग-धन्धों से संलग्न हो और ग्राम तथा नगरों में जनसंख्या का सन्तुलित वितरण हो ।
10. सार्वजनिक विद्या-मन्दिरों में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था हो ।

दरिद्रता ने हर दिशा से कार्ल पर आक्रमण किये । पत्नी और बच्चों के अतिरिक्त वह स्वयं भी बीमार रहे । फिर भी मनोबल इतना ऊँचा कि इस स्थिति में भी अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना 'दास कैपिटल' के प्रकाशन के लिए द्रव्य संग्रह में व्यस्त रहे । एंजिल्स उनके बिलों का भुगतान करते थे । उस पर भी मार्क्स ने एक पत्र निकालने का आश्चर्यजनक निर्णय कर लिया । अपने पहनने का एकमात्र कोट बन्धक रखकर मिले धन से उन्होंने कागज क्रय किया । दिन भर वह ब्रिटिश म्यूजियम में बैठकर अध्ययन करते और टिप्पणियाँ लिखते, पर सायंकाल को घर की दिशा में पैर उठाते ही उनका रूप परिवर्तित हो उठता । घर पर प्रायः यह दृश्य रहता था कि न तो कोई खाद्य-पदार्थ ही होता और न खरीदने के लिए पैसे ही । मार्क्स शान्त भाव से गृहिणी का कोई आभूषण गिरवी रखने चले जाते और तब घर में खाद्य-पदार्थ आता । बन्धक योग्य वस्तु न रहने पर किसी से कुछ पैसा उधार लेने की चेष्टा करते । किन्तु घर पर सभी सदस्यों के बीच प्रफुल्ल दिखाई देते थे ।

जिन दिनों वह 'दास कैपिटल' की रचना कर रहे थे, उन दिनों फोर्डे के कारण बैठ नहीं पाते थे । खड़े रहकर ही उन्होंने सारा लेखन किया । अठारह वर्ष की साधना का चरम परिपाक था यह ग्रन्थ जिसे शोषितों और सर्वहाराओं का भेद कहा जाता है । बाद के दो खण्ड एंजिल्स ने पूरे किए । उन्होंने एक बार विनोद में अपने मित्र को लिखा था - 'पूँजीपति मेरे फोर्डों को हमेशा याद रखेंगे ।' उक्त ग्रन्थ का प्रथम भाग उस समय प्रकाशित हुआ जब भारत की जनता ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध पहली क्रान्ति कर रही थी । शेष दोनों भाग 1885 और 1894 ई० में मार्क्स के देहावसान के बाद छपे ।



मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को भौतिक जगत् की ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या के साधन के रूप में प्रयुक्त किया और उसकी आध्यात्मिकता को छोड़ दिया। मार्क्स विशुद्ध अद्वैतवादी हैं, वे जड़ प्रकृति को सृष्टि का एकमात्र मूल तत्त्व मानते हैं। जड़ प्रकृति की मशीन को गतिशील करने के लिए किसी भगवान् को मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि प्रकृति स्वयं ही गतिशील है। मार्क्स क्षणिकवादी हैं। उनकी मान्यता है कि समस्त-प्रकृति-वालूकण से सूर्य तक-सभी एक निरन्तर प्रवाह, अनवरत गति और परिवर्तन की स्थिति में है।

प्रकृति एक सुसम्बद्ध और संयुक्त समष्टि है। प्रत्येक घटना अन्य घटनाओं से घिरी होती है न कि आकस्मिक और दैवयोग से प्रत्येक जड़ पदार्थ में सदैव विरोधी तत्वों की उपस्थिति रहती है। हीगल कहता था कि बिजली में घन और ऋण के छोर दो अलग स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। जो हमारे लिए पूर्व का रास्ता है, वही दूसरे के लिए पश्चिम का भी। परस्पर विरोधी तत्वों के संघर्ष से विकास होता है जिसके अनिवार्य तत्व हैं हिंसा, बल-प्रयोग और पीड़ा।

मार्क्सवाद मानता है कि विचार को जड़ पदार्थ से पृथक् नहीं किया जा सकता। चेतना भौतिक पदार्थ के पीछे चलती है। विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है, वाद, प्रतिवाद और संवाद की प्रक्रिया से। प्रत्येक कड़ी अपने से पहली कड़ी का विलोम होती है किन्तु प्रत्येक चक्कर के अन्त में हम पहली की अपेक्षा थोड़ा ऊँचा उठ जाते हैं। प्रकृति में होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि मात्रा में बढ़ा अन्तर होने से गुण में भी अन्तर पड़ जाता है। एक विशेष मात्रा तक पहुँचने पर परिवर्तन मानों सहसा छलांग लगा के होता है।

मार्क्सवाद इतिहास की भौतिक वादी व्याख्या करते हुए कहता है कि सामाजिक संरचना का सम्पूर्ण भवन किसी समूह के द्वारा विकसित जीवन के लिए आवश्यक भौतिक साधनों की उत्पादन-प्रणाली और उसके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास के स्तरों पर खड़ा होता है। मानव इतिहास को उत्पादन-प्रक्रिया से उत्पन्न सम्बन्धों के तनाव और वर्ग-संघर्ष द्वारा ही समझा जा सकता है। प्रत्येक युग में शासक वर्ग के विचार ही नियन्त्रक विचार रहते आये हैं। परिस्थितियाँ मनुष्य को उतना ही बनाती हैं जितना मनुष्य परिस्थिति को।

मार्क्स ने मानव इतिहास को पाँच भागों में विभक्त किया है—(1) आदिम साम्यवादी युग (2) दासयुग (3) सामन्त युग (4) पूँजीवादी युग और (5) सर्वहारा अधिनायकत्व का युग। अन्तिम युग में पूँजीपति वर्ग के विलकुल लुप्त हो जाने पर राज्य की भी आवश्यकता नहीं रहेगी और वह स्वयमेव लुप्त हो जायेगा। एजिल्स के शब्दों में जब राज्य समूचे वर्ग का प्रतिनिधि बन जाता है तो स्वयं को फालतू बना लेता है उस समय समाज के किसी अंश को पराधीन बनाकर रखने वाला कोई वर्ग नहीं होता। अतः इस समय दमन करने योग्य कोई तत्व न होने से राज्य की दमनात्मक शक्ति की



आवश्यकता नहीं होती। इसलिए राज्य का अन्त नहीं किया जाता, अपितु इसकी व्यवस्था स्वयमेव म्लान होकर समाप्त हो जाती है।

मार्क्स ने जिस विशिष्ट कार्य-पद्धति का आविर्भाव किया उसमें पहली बात है श्रमजीवियों का संघटन, दूसरी बात है छात्रों की तरुणाई, जोश और आदर्शवाद का लाभ उठाने के लिए उनमें विचारधारा का निरन्तर प्रचार, तीसरी बात निम्न वर्गों की असुविधाओं को लेकर जनता की सहानुभूति अर्जित करने के लिए सरकारों के विरुद्ध सतत आन्दोलन और अन्तिम बात है विभिन्न देशों की परिस्थिति के अनुसार साम्यवादी कार्यक्रम का निर्धारण जिसके अनुसार यदि देश परगन्त है तो स्वाधीनता संघर्ष में भाग लेना और यदि स्वाधीन है तो सत्ता पाने की चेष्टा करना और असफल रहने पर विरोधी दल के निर्माण के माध्यम से मजदूरों और किसानों की शिकायतों को दूर करना।

मार्क्स का मन्तव्य है कि पूँजीवाद का चरम विकास होने पर ही क्रान्ति द्वारा पूँजीवादी देशों में साम्यवादी शासन की स्थापना होती है किन्तु न तो रूस, पोलैण्ड, हंगरी आदि देशों में साम्यवाद आने से पूर्व पूँजीवाद की पराकाष्ठा थी और न ही इंग्लैण्ड, अमरीका आदि पूँजीवादी देशों में पूँजीवाद के चरम विकास के बावजूद साम्यवादी क्रान्ति का आगमन हुआ। सत्ता-परिवर्तन अनेक बार वैधानिक पद्धति और शान्तिपूर्ण रीति से भी होता देखा गया है। भयंकर मन्दी और भीषण आर्थिक संकट से राजनैतिक क्रान्ति का अवश्यम्भागी सम्बन्ध नहीं, 1930 की मन्दी में भी साम्यवादी क्रान्ति घटित नहीं हुई। मार्क्स के समय राज्य के पास वैसे भीषण मारक शस्त्रास्त्र नहीं थे। अतः जनता क्रान्ति कर सकती थी किन्तु नवीन शस्त्रों के आविष्कार के साथ परिस्थितियों में परिवर्तन आया है। मार्क्स श्रमिक-अधिनायकवाद को संक्रमणकालीन अवस्था मानते थे जो 20-25 वर्ष तक रहती है किन्तु रूस में दो पीढ़ी की अवधि व्यतीत हो जाने पर भी राज्य का अस्तित्व विलीन होने की अपेक्षा प्रचण्डतर होता जा रहा है।

हैलोवेल ने लिखा है—“मार्क्स ने भगवान् के स्थान पर ऐतिहासिक विकास की अनिवार्यता के कारण घटित होने वाली साम्यवादी विजय को स्थापित किया है, भगवान् के प्रियपुत्र सर्वहारा वर्ग के व्यक्ति हैं और साम्यवादी राज्य इस भूतल पर अवतीर्ण होने वाला स्वर्ग है।”

त्रिन दिनों 'दास कैपिटल' का द्वितीय भाग लिखा जा रहा था उन दिनों मार्क्स की आर्थिक दशा कुछ अच्छी हो चली थी। 1869 में पारिवारिक व्यवसाय से निवृत्त होकर एंजिल्स ने मार्क्स को 350 पौण्ड वार्षिक देने आरम्भ कर दिये। परिवार के उत्तराधिकार सूत्र में भी 800 पौण्ड इसी समय मिले। किन्तु मार्क्स का भग्न स्वास्थ्य होकर शय्या पर पड़े थे। स्वास्थ्य में कुछ प्रगति हुई किन्तु वह अधिक दिनों तक न चल सके। 14 मार्च, 1883 ई० को इस महान् अर्थशास्त्री ने सदैव के लिए आँखें मूंद लीं। संघर्ष की अग्नि-गाथा समाप्त हो गई। मार्क्स की समाधि पर श्रद्धा-सुमन अर्पित करते समय एंजिल्स ने भविष्यवाणी की—“मार्क्स का नाम और उनकी कृतियाँ शताब्दियों तक अमर रहेंगी।”





## मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन

नरेन्द्र सिंह

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन से पूरी तरह से परिचित होने के लिए प्रथमतः हमें यह जानना परम आवश्यक है कि आखिर मार्क्सवाद है क्या ? मोटे तौर पर मार्क्सवाद (Marxism) वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जिसने दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) और ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) नामक दो प्रमुख विचार धाराएँ प्रस्तुत कीं। मार्क्सवादी दर्शन पूर्णतः भौतिकवादी दर्शन (Total Materialistic philosophy) है जो परम्परागत भाववादी दर्शन (Idealistic philosophy) की अमूर्त एवं आध्यात्मिक स्थापनाओं के विरोध में पैदा हुआ और प्राकृतिक विज्ञानों की नवीनतम खोजों को आधार बनाते हुए सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति (Hegel's Dialectical method) को भौतिकवादी चिन्तन के सन्दर्भ में ग्रहण करके सर्वहारा वर्ग के दर्शन के रूप में विकसित हुआ। इसके जनक 5 मई 1818 को जर्मनी के 'ट्रायर' शहर में जन्में सर्वहारा वर्ग के महान् चिंतक कार्ल मार्क्स और उनके अभिन्न मित्र एवं मार्क्स के सिद्धान्तों को व्याख्यायित करने वाले फ्रेडरिक एंगेल्स थे।

मार्क्सवादी दर्शन भौतिकवादी चिन्तन की सर्वाधिक समर्थ वैज्ञानिक उपलब्धि है। मार्क्सवाद के व्याख्याताओं ने अपने दर्शन को प्रगतिशील और वैज्ञानिक दर्शन की संज्ञा दी है। जिनके अनुसार मार्क्सवादी दर्शन के माध्यम से संसार को उसके वस्तुगत रूप में स्वीकारा गया है। मार्क्सवादी दर्शन शाश्वत सत्य जैसी रहस्यमय बातों के उद्घाटन में न जाकर इस जीवन द्वारा उपस्थित किये गये प्रश्नों के प्रति एक निश्चित और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह करता है।

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन के जन्म से पूर्व पाश्चात्य साहित्य चिन्तन की क्या परम्परा रही है और विभिन्न काल खण्डों में कौन-कौन से साहित्यिक विचारक हुए, उनकी निष्पत्तियों में क्या नव्य पहलू थे मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन की पृष्ठभूमि में हम इन्हीं पर दृष्टिपात करेंगे।

पाश्चात्य साहित्य चिन्तन बहुत ही समृद्ध रहा है और उसने समय के उतार चढ़ाव में कई मंजिलें तय की हैं। पश्चिमी साहित्य चिन्तन का प्रारम्भ हम प्राचीन यूनानी काव्य चिन्तकों से शुरू मान सकते हैं। इन चिंतकों में प्लेटो, अरस्तू तथा लौजाइनस का नाम विशेष उल्लेखनीय है। प्लेटो को तो यूनानी साहित्य चिन्तन का आदि पुरुष कहा गया है। वैसे प्लेटो से पूर्व भी यूनान में साहित्य चिन्तन की धारणाएँ अपना आकार प्राप्त कर रही थीं और यह मान्यता प्रसिद्ध थी कि काव्य की रचना ईश्वरीय प्रेरणा से सम्पन्न



होती है। प्लेटो ने भी अपने काव्य चिन्तन में इस मान्यता की पुष्टि की कि 'कवि दैवि प्रेरणा से काव्य की रचना करता है।' इसके अलावा प्लेटो का यह भी मानना था कि काव्य दृश्य जगत की अनुकृति होता है। प्लेटो काव्य-रचना को बौद्धिक व्यापार न मान कर भावात्मक व्यापार मानता था। प्लेटो की काव्य-व्याख्याएँ उसके ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में संकलित हैं अरस्तू प्लेटो का शिष्य एवं अपने समय का प्रमुख काव्यशास्त्री था। अरस्तू का काव्य चिन्तन प्लेटो का विरोध करता है लेकिन ये विरोध काव्य रचना सम्बन्धी अपनी नई मान्यताओं के बल पर था सीधे-सीधे नहीं। लॉजाइनस यूनान का प्रसिद्ध समीक्षक था। इसके साहित्य चिन्तन में शास्त्रवाद ( Classicism ) के साथ ही स्वच्छन्दतावाद ( Romanticism ) का भी प्रभाव देखा जा सकता है। प्लेटो, अरस्तू एवं लॉजाइनस जैसे यूनानी काव्य चिंतकों के कारण सहज ही पश्चिमी काव्य-चिन्तन को एक सुदृढ़ आधार प्राप्त हो गया जिस पर कालान्तर में काव्य-चिन्तन की एक मजबूत इमारत खड़ी हो सकी।

प्राचीन यूनानी काव्य चिंतन के इस युग के पश्चात् पाश्चात्य साहित्य चिंतन के क्षेत्र में लगभग एक हजार वर्षों तक एक दम सन्नाटा सा छाया रहा जैसे इस समयान्तर में छिट पुट साहित्य चितक हुए जरूर। इस काल-खण्ड को समीक्षकों ने 'मध्ययुग या अलंकार युग' की संज्ञा दी। इस युग में चतुर्दिक इसाियत का बोल वाला रहा, फलतः पादरी-पुरोहितों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। धार्मिक साहित्य के नाम पर पादरी, पुरोहितों की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होती रही। इन सबसे साहित्य को मुक्ति दिलाया इस युग के अन्त में आविर्भूत 'डिवाइन कामेडी' (Divine Comedia) के लेखक 'दांते' ने। इस महाकाव्य ने संकीर्ण इसाियत के प्रति क्षोभ व्यक्त किया। दांते द्वारा यह प्रतिपादित किया गया कि विषय का महान् और गम्भीर होना परमावश्यक है।

मध्ययुगीन कुहाच्छन्न पाश्चात्य साहित्य चिंतन का अगला कदम संक्रमणकाल था इसे पुनर्जागरण काल कहा जाता है। इस युग में 'फिलिप सिडनी' ने अपने निबन्ध 'कविता की वकालत' ( An apology for Poetry ) में प्रथम बार कुछ नए विचारों को सामने रखा और प्लेटो और अरस्तू के काव्य सिद्धान्तों की नई व्याख्या की।

इसके बाद पाश्चात्य साहित्य चिंतन में नव्य शास्त्रवाद (Neo-Classical Age) का उदय होता है। सौ वर्षों तक चलने वाले इस काल के पश्चात् आधुनिक काल का प्रारम्भ हुआ जिसमें 'जान ड्राइडन' जैसे साहित्य-चिन्तक अस्तित्व में आये। 'ड्राइडन' ने अपने साहित्य चिन्तन में कल्पना को अत्यधिक महत्व दिया है। इसी क्रम में एडीसन ने कल्पना को 'इन्द्रिय गोचर सुखात्मक संवेदना' माना। इस युग में एडीसन तथा पोप का भी नाम उल्लेखनीय है।

आधुनिक युग के जर्मन स्वच्छन्दतावादी साहित्य-चिन्तकों में लेसिंग, शिलर तथा गेटे प्रसिद्ध हैं। जर्मनी का स्वच्छन्दतावाद इंग्लैण्ड के स्वच्छन्दतावाद से भिन्न है। लेसिंग



ने साहित्य चिन्तकों के इस भ्रम का निराकरण करने का प्रयास किया कि अनुकृति मूलक होने के कारण सारी कलाएँ विभिन्न माध्यमों से एक ही वास्तविकता का अंकन करती हैं फलतः उनमें कोई अन्तर नहीं है। इसके अलावा उसने इस प्राचीन मान्यता का भी खण्डन किया कि 'चित्र मूक कविता है और कविता मुखरचित्र'। अपने साहित्य चिन्तन में लेनिन ने साहित्य की दूसरी विधाओं में कविता को मुख्य स्थान दिया था। स्वच्छन्दतावादी अंग्रेजी साहित्य चिन्तकों में विलियम वर्ड्सवर्थ और कालरिज का प्रमुख स्थान ही नहीं है बल्कि वे अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी साहित्य चिन्तन के पुरस्कर्ता भी माने जाते हैं। वर्ड्सवर्थ भी काव्य में अनुभूति की केन्द्रीयता को स्वीकार करता था। काव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ की यह धारणा थी कि 'काव्य शक्तिशाली भावोद्भेगों की अकृत्रिम या स्वतः स्फूर्त अभिव्यंजना है।' वर्ड्सवर्थ के काव्य संबन्धी विचार उसकी सुप्रसिद्ध कृति लिरिकल बॉलेड्स ( Lyrical Ballads ) में देखे जा सकते हैं। कालरिज का साहित्य चिन्तन 'बायाग्रफिया लिटररिया' में संगृहीत है। कालरिज के अनुसार 'सौंदर्य ही कविता का प्राणतत्त्व है।' पर्सि ब्राउन शैली वस्तुतः एक विचारक था 'कविता की वकालत' शीर्षक अपने निबन्ध में उसके काव्य-चिन्तक विचार स्पष्ट हैं। उसने काव्य में कल्पना शक्ति को प्रधान तत्त्व माना।

स्वच्छन्दतावादी काव्य चिन्तकों ने पाश्चात्य साहित्य को निःसंदेह एक नया आयाम प्रदान किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में औद्योगीकरण की प्रक्रिया में नये सामाजिक सम्बन्ध उपज रहे थे। पूँजीवादी व्यवस्था का एक नया ढाँचा खड़ा हो रहा था। समाज का बौद्धिक ढाँचा भी तेजी से बदल रहा था। जगत को देखने एवं समझने के दृष्टिकोण में भी बदलाव आया। भावोच्छ्वास पूर्ण तथा काल्पनिक युक्तियों का स्थान बौद्धिक चिन्तन ने ग्रहण किया तथा साहित्य में यथार्थपरक दृष्टिकोण का जन्म हुआ, आधुनिक युग का प्रवेश हुआ। डार्विन के विकासवादी सिद्धांत ने लोगों की आँखों के सामने से आदर्शवादी रोशनीयत का पर्दा जैसे एकाएक खींचकर रख दिया। फलतः फ्रेंच विचारक सेंट व्यूव जैसे लोग आये। सेंट व्यूव ने जीव विज्ञान की नवीनतम खोजों से प्रभावित होकर साहित्य की परीक्षा इस तरह से कर डाली कि 'जैसा वृक्ष होगा वैसा ही फल होगा'। लेकिन यथार्थवादी साहित्य चिन्तन में मैथ्यू आरनाल्ड, जान रस्किन तथा लियो तोल्सतोय जैसे विचारक भी उभरे जिन्होंने यथार्थवादी साहित्य चिन्तन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

मैथ्यू आरनाल्ड एक आलोचक ही नहीं एक कवि के रूप में भी प्रसिद्ध था। उसने 'काव्य को जीवन की व्याख्या माना है।' जान रस्किन अपनी उपयोगितावादी दृष्टिकोण के कारण यथार्थवादी कला चिन्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। रूसी कथाकार लियो तोल्सतोय के साहित्य संबन्धी विचार हम उनकी कृति 'कला क्या है' ( What Is Art ) के माध्यम से प्राप्त है टाल्सटाय के उदार और मानवतावादी धर्मबोध ने उनका संबन्ध विश्व मानवता के साथ स्थापित किया है। इसी का परिणाम है कि उन्होंने जो



कुछ भी लिखा वह वर्ग विशेष के लिए न होकर समूची मानवता के लिए है। टाल्सटाय ने अपने समय की कला को जनसामान्य की कला न कह कर उच्च वर्ग की कला कहा जो कला मात्र अनैतिकता तथा विकृति को प्रश्रय प्रदान करती है। धनी लोगों के लिए रची जाने वाली कला को टाल्सटाय वैश्यावृत्ति की संज्ञा देते थे। टाल्सटाय की यह मान्यता थी कि साहित्य की सार्थकता उसकी मानवतावादी आकृति में ही है। जो साहित्य सम्पूर्ण मानवता के मंगलार्थ हो वही साहित्य वास्तव में साहित्य है। इन साहित्यिक अर्थों में वस्तुतः टाल्सटाय सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के पक्षधर थे।

जिस समय कार्लमार्क्स दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में बौद्धिक जन-मानस को मंथित कर रहे थे पश्चिम में अनेक साहित्यिकवादों की उपज हो रही थी हम यह तो मान सकते हैं कि ये साहित्यिक धाराएँ मार्क्सवादी साहित्यचिंतन की प्रतिक्रियाएँ नहीं थीं लेकिन इन्हें मार्क्सवादी साहित्य चिंतन की विरोधी धाराएँ अवश्य कहा जा सकता है। इनमें कलावादी चिंतन प्रमुख था।

‘कला कला के लिए’ सिद्धांत को क्रोचे के ‘अभिव्यंजनावाद’ से काफी बल मिला। यों तो इस सिद्धांत को मानने वालों में एलन पो, आस्कर वाइल्ड, ब्रेडले जैसे साहित्य चिंतक भी थे लेकिन इस सिद्धांत को पुष्टाकार किया इटली के साहित्य चिंतक वेनीवेटे क्रोचे ने। क्रोचे ने अभिव्यंजनावाद (Expressionism) को साहित्य से अभिन्न माना। क्रोचे का साहित्य चिंतन मूलतः आत्मवादी, भाववादी कला-चिंतन है।

वैज्ञानिक मूल्यवाद के संदर्भ में साहित्य चिंतक आई० ए० रिचर्ड्स का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। आई० ए० रिचर्ड्स ने बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक युग के संदर्भ में अपनी साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत किया। वे मानव जीवन में साहित्य की उपयोगिता को महत्व देते थे। वे साहित्य में मानवीय अनुभूतियों को रूपायित करने का हामी था। रिचर्ड्स के साहित्य में व्यक्त मनोवैज्ञानिक चिंतन उन मनोवैज्ञानिक चिंतकों के फलस्वरूप परिलक्षित होता है जिन्होंने साहित्य के क्षेत्र में अपना जबरदस्त प्रभाव डाला इनमें सबसे प्रभावशाली भूमिका निभायी फ्रायड, एडलर और युंग ने। फ्रायड ने मनुष्य के व्यक्तित्व सम्बन्धी क्रिया कलाओं की पुरानी धारणाओं को बुरी तरह से ध्वस्त किया और अपने मतों द्वारा मनोवैज्ञानिक चिंतन के क्षेत्र में क्रांति मचा दी।

फ्रायड के अनुसार कला सृजन में कलाकार की दमित एवं कुण्ठित इच्छाएँ आकार प्राप्त करती हैं। दमित इच्छाएँ हमेशा अपने निकास का मार्ग खोजती रहती हैं जो साहित्य को भी मार्ग बना कर प्रकट होती हैं। फ्रायड ने स्वप्न सिद्धांत का प्रतिपादन कर स्वप्न का साहित्य से सम्बन्ध दिखाया मनुष्य के अवचेतन में दबी काम-वासनाएँ स्वप्न के माध्यम से प्रकट होती हैं। फ्रायड के अनुसार जैसे स्वप्न में दमित काम-वासनाएँ वेश बदल कर दिखाई पड़ती हैं उसी प्रकार साहित्य में साहित्यकार की दमित-वासनाएँ भी अपना चोला बदल कर व्यक्त होती हैं। साहित्यकार अपनी कल्पना शक्ति के जोर पर अपनी ऐसी वासनाओं को वह जामा पहनाता है जो समाज में ग्राह्य हो। इसी कारण



साहित्य लोगों को आनन्द प्रदान करता है। इसीलिये फ्रायड ने साहित्य या कला की सर्जना को आत्मोपचार माना है क्योंकि दमित-वासनाएँ साहित्य द्वारा व्यक्त हो जाने पर एक तरफ जहाँ रचयिता को हल्कापन प्रदान करती हैं वहीं इसके पाठक भी वासनाओं की अभिव्यक्ति को देखकर संतोष और हल्कापन महसूस करते हैं।

फ्रायड के मनोसिद्धांतों का पाश्चात्य साहित्य चिंतन के क्षेत्र में कितना जबरदस्त प्रभाव पड़ा इसका पता इसी से लग जाता है कि इसको चरितार्थ करने की प्रक्रिया में 'अतियथार्थवाद' (Surrealism) नामक एक नए साहित्यिक आन्दोलन का जन्म हुआ। आन्द्रे ब्रेतो तथा पाल एल्वर इस आन्दोलन के जनक थे। अतियथार्थवादी साहित्य चिंतकों के अनुसार साहित्य का अर्थ है अचेतन में डूबे हुए को प्रकट करना।

प्रतीकवाद (Symbolism) का जन्म प्रकृतिवाद (Naturalism) के विरुद्ध रोमान्टिक (Romantic) प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। प्रतीकवाद के तत्व यों तो अंग्रेजी कविता में पहले से मौजूद थे परन्तु इसका शुद्ध रूप आन्दोलन के पश्चात् फ्रांसीसी साहित्य में स्पष्ट हुआ। मेलांमें और वर्ले तथा रिम्बो फ्रांसीसी प्रतीकवाद के आधार स्तम्भ हैं। प्रतीकवादियों ने एक ऐसे सौंदर्य-लोक की रचना की जो रहस्यवादी आवरण से ढँक कर एक विचित्र सत्ता के रूप में प्रकट हुआ।

उपरोक्त सभी विचारधाराओं में से सर्वाधिक प्रभावी एवं लोकप्रिय विचारधारा युद्ध की विभीषिका के कारण उत्पन्न असुरक्षा की भावना से जन्मा अस्तित्ववादी दर्शन था। युद्धोत्तर फ्रांसीसी लेखक ज्यां पाल सार्त्र ने अपने साहित्य के माध्यम से इस विचारधारा को काफी लोकप्रिय बनाया। अस्तित्ववादी विचारधारा का मूल तत्व मनुष्य का अस्तित्व है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण की व्याख्या सार्त्र ने अपनी पुस्तक (Existentialism and Humanism) में की है। सार्त्र के अनुसार अस्तित्ववाद निराशा का दर्शन नहीं है।

कार्लमार्क्स ने साहित्य के बारे में भी सोचा है और बहुत गहराई के साथ सोचा है। मार्क्स को अपने समकालीन साहित्य के अलावा अतीत के साहित्य का भी बृहद् ज्ञान था। मार्क्स के बाद के भी सभी मार्क्सवादी चिंतकों ने अपने चिंतन में साहित्य को प्रमुख आधार दिया है। इन सभी मार्क्सवादियों द्वारा साहित्य के प्रश्न पर दिये गये विचार एवं मान्यताएँ मार्क्सवादी साहित्य चिंतन के अन्तर्गत आती हैं।

मार्क्सवादी साहित्य चिंतन के अन्तर्गत कला और साहित्य को सामाजिक जीवन से अलग नहीं माना गया है। मार्क्सवादी रचनाकार साहित्य मूल्यों और जीवन मूल्यों को परस्पर विरोधी या एक दूसरे से अलग न मानकर उन्हें एक ही बृहद् प्रक्रिया का अंग स्वीकार करता है। मार्क्सवादी चिंतकों या साहित्यकारों के चिंतन या रचनाएँ कला और जीवन की भूमिकाएँ एवं उपकरण उनमें मिल जुल कर अभिव्यक्ति पाते हैं।



यही कारण है कि साहित्य एवं कला सम्बन्धी बुनियादी प्रश्नों पर विचार करते हुए मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों एवं रचनाकारों ने ऐसे साहित्येतर बुनियादी जीवन मूल्यों पर भी विचार किया है जो किसी न किसी स्तर पर अथवा किसी न किसी कोण से साहित्य एवं कला सृजन पर अपना प्रभाव डालते हैं।

मानव समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है। दासों और अभिजात वर्ग अर्थात् पीड़ित और पीड़क वर्गों में हमेशा से संघर्ष होता आया है। वे कभी छिपे और कभी प्रकट रूप में हमेशा से लड़ते आये हैं। हालांकि आज तक यह लड़ाई चल रही है। लेकिन जहाँ-जहाँ और जब-जब भी इस लड़ाई का परिणाम निकला है या तो समाज का सम्पूर्ण ढाँचा ही बदल गया है या फिर दोनों ही वर्ग थक कर पुनः शक्ति परीक्षण के इन्तजार में चुप बैठ गये हैं।

सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी हुआ करते हैं। अर्थात् जो वर्ग समाज की सत्ताधारी शक्ति होता है वह साथ ही उसकी सत्ताधारी बौद्धिक शक्ति भी होता है जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं, उसका बौद्धिक उत्पादन पर भी नियंत्रण होता है साफ है कि इस व्यवस्था में साधारणतः जिन लोगों के पास बौद्धिक उत्पादन के साधनों का अभाव होता है उन लोगों के विचार सत्तापक्ष के पास गिरवी रहते हैं। जिन लोगों को लेकर सत्तारूढ़ दल बनता है उनके पास चेतना होती है परिणामतः वे सोचते हैं तथा अपने युग का विस्तार तथा परिधि निर्धारण करते हैं।

हर नया वर्ग जो अपने से पहले शासन करने वाले वर्ग के स्थान पर अपने को प्रतिष्ठापित करता है अपनी लक्ष्य सिद्धि की खातिर ही अपने हित को समाज के तमाम सदस्यों के समान हित के रूप में प्रस्तुत करने के लिए बाध्य होता है अर्थात् उसे अपने विचारों को सार्वजनिकता का रूप देना पड़ता है और उन्हें युक्ति-युक्त वैध विचार रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है। सर्वहारा वर्ग अपने स्वभाव के कारण एवं वर्ग रूप में नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज के प्रतिनिधि के रूप में प्रकट होता है यही वर्ग समाज में क्रांति करने वाला होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि इस वर्ग के हित और तमाम गैर सत्ताधारी वर्ग के हित समान होते हैं।

कार्ल मार्क्स के अनुसार सामाजिक जीवन की उत्पादन - प्रक्रिया में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धों की स्थापना कर लेते हैं जो निहायत जरूरी है। इन्हीं सम्बन्धों की पूर्णता से ही समाज के वार्षिक आधार का निर्माण होता है। इसी आधार पर एक न्यायपूर्ण राजनीतिक बाह्य संरचना आकार प्राप्त करती है और इसी में सामाजिक चेतना अपने सुनिश्चित रूप में आपस में सामंजस्य स्थापित करती है। मार्क्स के अनुसार सामान्यतः भौतिक जीवन की उत्पादन विधि ही हमारे सामाजिक राजनीतिक एवं बौद्धिक जीवन प्रक्रिया को व्यवस्थित करती है। 'मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण करने में समर्थ नहीं होती बल्कि मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व मनुष्य की चेतना का निर्धारण करता है'।



विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुँचकर समाज की भौतिक उत्पादन शक्तियाँ तत्कालीन उत्पादन सम्बन्धों से या उन सम्पत्ति सम्बन्धों से टकराती हैं जिनके अन्तर्गत वे उस समय तक काम कर रही होती हैं लेकिन ये सम्बन्ध उनके लिए बन्धन का रूप धारण कर लेते हैं और सामाजिक क्रांति का युग शुरू हो जाता है। इस प्रक्रिया में आर्थिक बुनियाद के साथ-साथ समाज का ऊपरी ढांचा भी तेजी से बदलता है।<sup>2</sup>

चेतन विचारों की रचना प्रारम्भ में लोगों की भौतिक क्रियाएँ तथा भौतिक संसर्ग वास्तविक जीवन की भाषा से प्रत्यक्ष जुड़ी होती हैं। लोगों के भौतिक आचरण के प्रत्यक्ष परिणाम रूप परिकल्पनाएँ और चिंतन आते हैं। यही बात मानसिक सर्जना पर भी लागू होती है अर्थात् चेतना सचेत अस्तित्व के अलावे कुछ हो ही नहीं सकती।

साहित्य का विकास आर्थिक विकास पर आश्रित होता है लेकिन ये आर्थिक विकास को भी प्रभावित करती हैं। इसका अर्थ यह कदापि न समझना चाहिए कि एक मात्र सक्रिय तत्व आर्थिक परिस्थिति ही है। इस विषय को और स्पष्ट करने के लिए हमें 'जो० ब्लोख' को लिखी गई एंगल्स की चिट्ठी पर गौर करवा चाहिए 'इस में अंशतः स्वयं माक्स का और मेरा दोष है कि हमारे नौजवान लोग कभी-कभी आर्थिक पहलू पर ज़रूरत से ज्यादा जोर देते हैं। हम लोगों को सिद्धान्त पर जोर देना पड़ा था क्योंकि हमें उन विरोधियों का सामना करना पड़ता था जो उसका खण्डन करते थे।'

सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी हुआ करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हर युग में सत्ता पक्ष के पास बौद्धिक शक्ति भी निहित होती है। अर्थात् भौतिक उत्पादन के साधन से सम्पन्न वर्ग बौद्धिक उत्पादन पर भी नियंत्रण रखता है। सत्ताधारी विचार-विचार रूप में ग्रहण योग्य प्रभुत्वशाली भौतिक सम्बन्धों की बौद्धिक अभिव्यक्ति है। हर युग के प्रभुत्वशील विचार सदा उसके शासक वर्ग के ही विचार रहे हैं।

अब सवाल यह पैदा होता है कि क्या साहित्य विचार द्वारा मात्र है? माक्स की इस निष्पत्ति को लेकर अनेक प्रकार के विवाद उठ खड़े हुए हैं। दरअसल विचार धारा शब्द को ठीक से न समझ पाने के कारण ही माक्स के बाद के माक्सवादी विचारकों ने साहित्य सम्बन्धी माक्स के मूल विचारों को बिना ठीक ठीक समझे वर्ग-संघर्ष और साम्यवादी व्यवस्था के निर्माण में साहित्य को हथियार मात्र समझ लिया। जब कि एंगल्स का कहना है कि 'मैं सोचता हूँ कि प्रयोजन को स्वयं परिस्थिति तथा कार्य-कलाप में अपने को व्यक्त करना चाहिए विशेष रूप से लक्षित किए बिना और लेखक अपने द्वारा वर्णित सामाजिक टकरावों का भावी ऐतिहासिक समाधान पाठक के सामने तैयार शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने के लिए कर्तव्यबद्ध नहीं है'। 'सामाजिक प्रयोजन मूलक उपन्यास मेरी दृष्टि में उस समय अपने ध्येय की पूर्णतः पूर्ति करता है जब वह वास्तविक सम्बन्धों का सच्चा चित्रण कर इन सम्बन्धों के स्वरूप के बारे में हवावी रहने वाले प्रचलित धर्मों को मिटा देता है। बुजुर्ग दुनियाँ के आशावाद को झकझोर देता है अस्तित्वमान के आधार की शाश्वतता के बारे में शंका का समावेश करता है। भले ही लेखक ने इसके



बारे में कोई निश्चित समाधान प्रस्तुत न किया हो।' मार्क्सवाद के इसी नियम के अनुसार सच्चा मार्क्सवादी हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी मुखौटा ओढ़े यशपाल के उपन्यासों की अपेक्षा जयशंकर प्रसाद के नाटकों को अधिक प्रगतिशील तथा ध्येय की पूर्ति में सक्षम मानता है।

‘यथार्थवाद ( Realism ) का अर्थ तफसील की सच्चाई का, आम परिस्थितियों में आम चरित्रों का सच्चाई भरा पुनर्सृजन है’। साहित्य में यथार्थ चित्रण के प्रश्न पर मार्क्सवादी साहित्य चिंतक भ्रम मुक्त हैं। मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में चित्रण की मूल वस्तु बाह्य संसार और उसके नानारूप ही हैं जो निरन्तर सक्रिय तत्व हैं और जो निरन्तर परिवर्तनशील हैं। इसके अलावा मुख्य प्रश्न यह है कि बाह्य जगत की विविधता को ज्यों का त्यों साहित्य में चित्रित करें या साहित्य अपनी विशिष्ट प्रकृति के अनुसार उसे ग्रहण करें। अर्थात् प्रश्न वस्तुगत यथार्थ और साहित्य में चित्रित यथार्थ का है। मा० हाकेनेस को एंगेल्स द्वारा लिखी गई चिट्ठी में एंगेल्स लिखते हैं ‘लेखक के विचार जितने छुपे रहें कला की कृति उतनी ही अच्छी होती है। मैं जिस यथार्थवाद की बात कर रहा हूँ वह लेखक के दृष्टिकोण के बावजूद उभर सकता है।’

अर्थात् मार्क्सवादी साहित्य चिंतन साहित्य में फोटोग्राफिकल यथार्थ चित्रण को ही एक मात्र तत्व नहीं मानता। बल्कि वह प्राकृत रूप में चित्रित वस्तु को यथार्थ मानता है। साहित्य एक दर्पण मात्र ही नहीं है जो निष्क्रिय रूप से बाह्य यथार्थ का बिम्ब मात्र प्रस्तुत करके रह जाय। रचनाकार को मात्र ‘कैमरा मैन’ हो के न रह जाना चाहिए।

साहित्य में यथार्थ को उसके बाह्य उपलब्ध रूप में न देखकर, उसे अतीत और आगत से जोड़कर उसकी समग्रता में ग्रहण करना और दर्शाना ही मार्क्सवादी साहित्य चिंतन का आवश्यक पक्ष है। प्रतिनिधि परिस्थितियों में प्रतिनिधि पात्रों के चित्रण को ही सच्चे यथार्थ की संज्ञा दी जा सकती है। मार्क्स तथा एंगेल्स ने जो फ्रांसीसी साहित्यकार बाल्जाक और अंग्रेजी साहित्यकार शेक्सपियर की भूरि-भूरि प्रशंसा की तो इसका कारण इन रचनाकारों की सत्य के प्रति निष्ठा रही है जिसके चलते इन रचनाकारों ने अपने चहेते वर्ग के प्रति मोह के बावजूद इस वर्ग की असलियत को भी उतनी ही निर्ममता से उद्घाटित किया। मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों ने एक स्वर साहित्य का मूल चरित्र यथार्थ धर्मिता माना है। ‘लूकाच’ ने तो यथार्थ को साहित्य का प्राणतत्व माना है। इनके अनुसार यथार्थ कोई टुकड़ों में बंटी वस्तु न हो कर ऐसी इयत्तता है जिसमें जीवन समाग्र तथा मनुष्य अपनी समग्रता में अभिव्यक्त होते हैं।

एक तो साहित्य यथार्थ का दर्पण नहीं है दूसरे साहित्य में चित्रित यथार्थ मात्र तात्कालिक संदर्भों से युक्त न हो कर अतीत और आगत की सम्भावनाओं से युक्त होता है। संक्षेप में मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों की यथार्थवाद के प्रति यही धारणा है।



मार्क्सवादी साहित्य चिंतन समाजवादी यथार्थवाद को साहित्य के क्षेत्र में एक कलात्मक प्रतिमान के रूप में स्वीकार करता है। साहित्य में इसको प्रतिष्ठापित करने का श्रेय मैक्सिम गोर्की एवं जार्ज लूकाच को है।

स्टालिन युग में समाजवादी यथार्थवाद का प्रयोग साम्यवादी युद्ध के एक साधन के रूप में किया गया। जिसके अन्तर्गत राजनीतिक दृष्टिकोण की प्रखरता का आग्रह था। साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद को साम्यवादी नीतियों का पोषक माना गया और यह अपेक्षा की गयी कि इसका उपयोग पार्टी नीतियों की पक्षधरता के रूप में हो।

जहाँ जार्ज लूकाच तथा अन्य मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों ने समाजवादी यथार्थवाद को समाजवादी वास्तविकता (Socialist Reality) का चित्रण करने वाले रूप में स्वीकार किया वहीं चीनी साहित्यकार चाउ-न्यांग के अनुसार सामाजिक यथार्थवाद वास्तविकता का समाजवादी दृष्टि से किया जाने वाला चित्रण है।

वस्तुतः समाजवादी यथार्थवाद का तात्पर्य वस्तुगत यथार्थ में समाजवादी समझ की अनुकूलता है। समाजवादी यथार्थ-यथार्थ की वह समग्र दृष्टि है जो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में वस्तुगत यथार्थ को पूरी समग्रता में देखता है ये इस अर्थ में हवाई यूटोपिया से भिन्न है कि इसकी जड़ें वस्तुगत यथार्थ में गहराई के साथ पेवस्त हैं।

मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में सौंदर्य और उसका वस्तुगत आधार प्रकृति तथा मानव जीवन का सौंदर्य है। सौंदर्य को अलग विषय न मानकर जीवन के अन्य बुनियादी प्रश्नों के साथ बहस का मुद्दा बनाया गया है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में सौंदर्य वस्तुगत है। मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार सुन्दरता वस्तु का गुण है और गुण को वस्तु से पृथक नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि सुन्दर वस्तु सभी को सुन्दर लगती है।

काइवेल के अनुसार मनुष्य की सौंदर्य सम्बन्धी धारणा युग-विकास-क्रम के अनुसार परिवर्तित होती रहती है यह एक विकासशील धारणा है। कोई भी युग अपने पूर्वजों द्वारा निर्मित सुन्दर वस्तुओं से संतुष्ट नहीं होता इसीलिये ऐसी वस्तुओं के निर्माण की प्रक्रिया चलती रहती है जो पूर्ववर्ती वस्तुओं से भिन्न, सुन्दर और विशिष्ट होती हैं।

सौंदर्य अपने में कोई दिव्य वस्तु न होकर मानव जीवन के संदर्भ में ही विकसित होने वाली एक ऐसी धारणा है जिसे बाह्य जगत के साथ अपने सम्पर्क के फलस्वरूप मनुष्य ने प्राप्त और विकसित किया है।

समाज के गुणात्मक एवं परिणात्मक परिवर्तन साहित्य में अन्तर्वस्तु और आकृति के रूप में व्यक्त होते हैं। वस्तु का अर्थ होता है प्रतिपाद्य का दृश्य, दृष्टिकोण या विश्व-दृष्टिकोण या समग्र रचना प्रक्रिया का संगठनात्मक बोध और आकृति का मतलब होता है प्रतिपाद्य को वहन करने वाला माध्यम या उसका रूप विन्यास।



गैर मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों ने मार्क्सवादी साहित्य चिंतन पर यह आरोप लगाया है कि 'मार्क्सवादी साहित्य चिंतन' 'वस्तुतत्त्व' को न केवल प्रमुखता प्रदान करता है बल्कि 'रूप तत्व' की उपेक्षा करने के कारण एक समग्र और संतुलित साहित्य चिंतन कहे जाने का अधिकारी नहीं है'। गैर मार्क्सवादियों द्वारा लगाया गया यह आरोप एंगेल्स के इस पत्र द्वारा निर्मूल सिद्ध हो जाता है जो उन्होंने 'फ्रांज मेहरिंग' को लिखा है। इस पत्र में एंगेल्स लिखते हैं "विषय वस्तु की खातिर आरम्भ में रूप की सदा उपेक्षा की जाती है। मैंने भी यही किया है और भूल का बोध सदा बाद में ही जाकर हुआ है"। अर्थात् मार्क्सवादी साहित्य चिंतन में आरम्भ में रूप तत्व को लेकर जो भ्रम था वह समाप्त किया जा चुका था। सैद्धान्तिक तौर पर मार्क्सवादी विचारक प्रथम तो वस्तु तथा रूप को अलग-अलग वर्गों में विभाजित करने के ही विरोधी हैं। दूसरे वस्तु तथा रूप की समष्टि को ही वे साहित्य की वास्तविक इयत्ता मानते हैं। प्रायः सभी मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों ने वस्तु और रूप तत्व की अभिन्नता को ही सच्ची कला भाषा है। इनमें प्लाखानोव, हावर्ड फास्ट, लूकाच, काडवेल, ट्राटस्की आदि मुख्य साहित्य चिंतक हैं। वस्तु और रूप परस्पर अभिन्न हैं। इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता यह दूसरी बात है कि व्यावहारिक रूप में मार्क्सवादी साहित्य चिंतक इनमें से किसे प्राथमिक महत्व देते हैं और किसे द्वितीयक। जहाँ तक इस प्रश्न की बात है तो यह एकदम साफ है कि मार्क्सवादी विचारक वस्तु तत्व को प्रथम और प्रमुख तत्व मानते हैं। प्रसिद्ध मार्क्सवादी साहित्य चिंतक लूनाचरस्की वस्तु तत्व को साहित्य का निर्णायक तत्व मानते हैं। बावजूद इसके मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों की यह भी मान्यता है कि 'रूप तत्व' न केवल 'वस्तु तत्व' को प्रभावित करता है वरन कभी-कभी उसका रूपान्तरण भी कर देता है।

साहित्य का मूल्यांकन और खास कर अतीत के साहित्य का मूल्यांकन कैसे हो, किसी साहित्यिक कृति के मूल्यांकन का क्या आधार हो, मूल्यांकन के सही प्रतिमान क्या हों? जो रचनाकार के साथ-साथ मार्क्सवादी विचारधारा के साथ भी पूरा-पूरा न्याय कर सकें। मार्क्सवादी साहित्य चिंतन के अन्तर्गत साहित्य के मूल्यांकन पर भी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है।

आधार तथा बाह्य संरचना ( Basis and Super structure ) सम्बन्धी विवेचना के अन्तर्गत कार्ल मार्क्स ने साहित्य का बुनियादी आधार आर्थिक-भौतिक-जीवन को माना है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों ने सर्वाधिक बल साहित्य के मूल्यांकन की सही दृष्टि पर दिया है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों के अनुसार साहित्य के मूल्यांकन का दृष्टिकोण 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के परिप्रेक्ष्य में है। काडवेल, प्लाखानोव आदि मार्क्सवादी साहित्य चिंतक साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी ऐतिहासिक भौतिकवाद ही मानते हैं। इसके अनुसार यह कतई आवश्यक नहीं है कि सामन्तकालीन साहित्य से पूँजीवादी साहित्य उत्तम ही हो।



कालिदास के साहित्य का भारत भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल था। कालिदास के साहित्य में भारत का ऐश्वर्यमय रूप पूरी निष्ठा के साथ परिलक्षित होता है। कालिदास अपने युग की सामन्तीय सभ्यता का खुला चित्रण करते हैं। कोई ऐतिहासिक भौतिकवाद के विरुद्ध जा कर कालिदास के साहित्य पर ऐहिकता और अश्लीलता का आरोप लगाए तो लगाता रहे। क्या तुलसीदास की रामचरित मानस, सामन्ती युग की रचना होते हुए भी अपनी प्रगतिशीलता में नव्य पूँजीवादी काल की किसी साहित्यिक कृति से कम करके आँकी जा सकती है ?

फ्रेडरिक एंगेल्स कहते हैं:—‘ इतिहास की हमारी धारणा सबोंपर अध्ययन का एक विवेक है। हेगेलीय ढंग से रचना करने का उत्सुक नहीं।’ अर्थात् मार्क्सवाद कोई नपना गिलास नहीं है कि जो उसमें फिट हो गया वह मार्क्सवादी और नहीं तो बुरा। कार्लमार्क्स का कहना है कि “कला के कतिपय रूपों उदाहरण के लिए महाकाव्यों का उनके विश्व इतिहास में युग निर्माणकारी कलासिकीय रूप में उसके बाद फिर कभी ध्वन नहीं हो सकता। जब कलात्मक सृजन आरम्भ हो चुका होता है। दूसरे शब्दों में स्वयं कला के क्षेत्र में उसके कुछ एक महत्वपूर्ण रूप विकास की केवल निचली मंजिल में ही सम्भव है।” उदाहरण के लिये कार्लमार्क्स के चहेते साहित्यकार द्वय फ्रांस के बाल्जाक और इंग्लैण्ड के शेक्सपियर को ही लें तो बाल्जाक और शेक्सपियर के साहित्य में अपने युग का सत्य अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ व्यक्त होता है। मार्क्स कहते हैं कि बालिग फिर से बच्चा नहीं बन सकता वरना उसमें बचपना आ जाता है परन्तु क्या बच्चे का भोलापन आवन्द वहीं प्रदान करता ? क्या प्रत्येक युग में बच्चे के स्वभाव में उस युग का स्वरूप अपनी नैसर्गिक सत्य परकता में पुनः सजीव नहीं होता ? फिर मानव जाति का ऐतिहासिक बाल्यकाल जहाँ उसने अपना सबसे सुन्दर रूप प्राप्त किया हमें क्यों व शाश्वत लालित्य प्रदान करे कि उस मंजिल की फिर कभी पुनरावृत्ति नहीं होगी।

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन को स्थापित करने में जिन विचारकों का प्रमुख स्थान है उन्हें हम दो-बगों में रख सकते हैं प्रथम वे जो मूलतः राजनीतिक विचारक रहे हैं लेकिन मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन को भी नई दिशा दी है दूसरे वे जो मूलतः साहित्य चिन्तक रहे हैं।

मार्क्स और एंगेल्स मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन के पुरोधा थे। मार्क्स को सच-कालीन साहित्यिक, कृतियों के अलावा पूर्ववर्ती साहित्य का भी अच्छा ज्ञान था। सच-कालीन लेखकों से मार्क्स का जो पत्र व्यवहार था उसमें हम मार्क्स के साहित्यिक विचार को स्पष्ट देख सकते हैं। बाल्जाक और शेक्सपियर मार्क्स के प्रिय साहित्य-कार थे।

लेनिन ने मार्क्सवादी दर्शन को व्यावहारिक रूप प्रदान किया था। मूलतः राजनीतिक चिन्तक होते हुए भी लेनिन साहित्य एवं कला के मर्म से भली-भाँति परिचित थे। मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवादी स्वरूप के कारण उन्होंने महावक्ता लेखक तोल्स्तोय की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। लेनिन के साधने प्रमुख समस्या



क्रान्ति पश्चात् रूस को सही दिशा निर्देश करने की थी और इस उद्देश्य की पूर्ति में वे साहित्य की भी एक भूमिका मानते थे। लेनिन साहित्य को महान् समाजवादी क्रान्ति के आदर्शों के अनुरूप विकसित करने के आकांक्षी थे।

लेनिन के पश्चात् सत्ता-संघर्ष में स्तालिन के प्रमुख प्रतिद्वंद्वी लियो ट्राट्स्की ने साहित्य पर गम्भीरता से विचार किया है। कला के सामान्य चरित्र के बारे में ट्राट्स्की का कहना है—“वस्तुविष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया के दृष्टिकोण से विचार करने पर साहित्य न केवल एक सामाजिक अनुचर वरन् ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगितावादी है।”

माओत्से-तुंग का साहित्य-चिंतन हमें 1942 में येनान प्रान्त में सम्पन्न हुई एक परिचर्चा के माध्यम से प्राप्त होता है। माओ द्वारा येनान गोष्ठी में दिए गए साहित्य सम्बन्धी भाषण में व्यक्त किए गए विचार साहित्य सिद्धांत रूप में चीन में आज भी मान्य हैं। साहित्य के लक्ष्य के विषय में माओत्से-तुंग का कहना है कि “साहित्य का मुख्य लक्ष्य जनता है और यह जनता के प्रति ही समर्पित है। जनता के अन्तर्गत माओ ने प्रथम मजदूरों दूसरे किसानों तीसरे सैनिकों तथा चौथे नम्बर पर टुटपुंजिया बुर्जुआ तथा बुद्धिजीवियों को रखा है। माओ ने साहित्य का स्त्रोत जन जीवन माना है।”

मैक्सिम गोर्की मार्क्सवादी साहित्य चिंतन के सर्वोच्च प्रतिमान समाजवादी यथार्थवाद के प्रवर्तक थे। उन्होंने सर्वप्रथम समाजवादी यथार्थवाद की विवेचना की। मैक्सिम गोर्की के अनुसार साहित्य सर्जना की कला जिसका सम्बन्ध सामान्य तथा प्रतिनिधि चरित्रों के निर्माण से है, कल्पना तथा अविष्कार की अपेक्षा रखती है। लेखक बचने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए गोर्की ने अपने साहित्य के इतिहास से भली भाँति परिचित होना आवश्यक माना है।<sup>3</sup> कल्पना (Imagination) को गोर्की विम्बों में चिंतन करने की क्रिया मानते हैं।<sup>4</sup> यथार्थवाद उनके अनुसार ‘लोगों तथा उनकी जीवनस्थितियों का सत्य तथा यथा तथ्य प्रस्तुतीकरण है।’<sup>5</sup>

‘व्यक्तित्व का विघटन’ (The disintegration of personality) शीर्षक निबन्ध में गोर्की ने व्यक्तिवाद की घोर निन्दा की है। गोर्की कहते हैं कि “साहित्य का दायित्व है कि वह मानव श्रम के उस संसार को जो अब क्रान्ति के द्वार पर आ पहुँचा है, सहायता प्रदान करे। जितनी जल्दी ये सहायता उसे मिलेगी, विद्रोह में उठा हुआ व्यक्ति शक्ति प्राप्त करेगा तथा लड़खड़ाता हुआ व्यक्ति सदा के लिए घराबारी हो जायेगा।”<sup>6</sup>

क्रिस्टोफर काडवेल ने अपनी कृति ‘भ्रम और वास्तविकता’ (Illusion and Reality) में कविता के स्रोतों का उल्लेख किया है। कविता के उद्भव की विवेचना करते हुए काडवेल ने उसे ‘साधारण वाणी का सुधरा हुआ रूप (Heightened form of ordinary speech)’ कहा है।

पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य और मनुष्य के बीच उस प्रकार के प्रत्यक्ष दबावजन्य सम्बन्धों का अभाव होता है। जिस प्रकार के सम्बन्ध दास और



उनके स्वामी, स्वामी तथा बड़े स्वामी के बीच सामन्तवादी व्यवस्था में अनिवार्यतः होते हैं। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र बाजार के लिए स्वतंत्र उत्पादन करता है तथा स्वतंत्र बाजार से अपने लिए सामग्री भी स्वतंत्र रूप से खरीदता है। फलतः व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपनी उत्पादित वस्तुएँ तथा शक्ति अधिक से अधिक दाम पर बेचते हैं। एक खुले बाजार में बिना किसी बाधा के पहुँच सकने की सुविधा ही पूँजीवादी व्यवस्था की तथाकथित 'स्वतंत्रता' है। काडवेल के अनुसार "इसकी असलियत स्वतंत्र व्यापार एवं अधिक से अधिक मुनाफाखोरी है। पूँजीवादी व्यवस्था में जो नियति बुर्जुआ वर्ग की है वही नियति एक कवि की भी है। दुःख से दयनीय और और अनन्तः अनैतिक हो उठना ही उसका एक मात्र सत्य है।"<sup>7</sup>

राल्फ फाक्स के अध्ययन, चिन्तन की मुख्य विधा उपन्यास रही है। उनके अनुसार 'उपन्यास हमारी सभ्यता की महान लोक कला है।'<sup>8</sup> सत्ता चेतना का निर्धारण करती है' ( Being determines the Conscousness )

माक्सवाद के इस सिद्धान्त को मद्देनजर रखते हुए राल्फ-फाक्स चाहते हैं कि अनिवार्यतः यह उपपत्ति रचनाकार के कलात्मक सृजन का आधार बने, कारण की सम्पूर्ण कल्पनाशील सृजन उस वस्तु मात्र का ही प्रतिबिम्ब है जिसमें की रचनाकार निवास करता है। यह काल्पनिक सृष्टि और कुछ नहीं वस्तु जगत के साथ उसके सम्पर्क तथा ससार की वस्तुओं के प्रति उसके प्रेम या घृणा का ही परिणाम है।<sup>9</sup> राल्फ फाक्स के अनुसार सृजन प्रक्रिया का सार और कुछ नहीं, वाह्य यथार्थ और सृष्टिकर्ता के बीच चलने वाला संघर्ष ही है। राल्फ-फाक्स के अनुसार 'उपन्यासकार व्यक्ति के भाग्य से सार्वभौमिक अपनी कहानी तब तक नहीं लिख सकता जब तक की वह एक समय और सुस्थिर दृष्टिकोण न रखता हो। उसे इस तथ्य की अनिवार्यतः जानकारी होनी चाहिए कि किस प्रकार उसके अपने चरित्रों के व्यक्तिगत द्वन्द के उसका अन्तिम निष्कर्ष सामने आता है।

प्रसिद्ध माक्सवादी साहित्य चिन्तक हावर्ड फास्ट ने अपने साहित्य चिन्तन में साहित्यिक कृतियों में प्रतिबिम्बित और चित्रित किये जाने वाले यथार्थ के अध्ययन और विश्लेषण को काफी महत्व प्रदान दिया है। यथार्थता उनके विचार से सत्य की, ऐतिहासिक दृष्टि से सापेक्ष समझ है। लेखन में सत्य परकता को कला समीक्षा का सर्वोच्च प्रतिमान मानते हुए उन्होंने उसे सदैव यथार्थ के प्रति रचनाकार के सम्बन्धों पर निर्भर होना स्वीकार किया है जो उसे सामाजिक शक्तियों की गहरी छान-बीन के लिए उत्प्रेरित करती है, उसके अन्तर्गत वह धीरे-धीरे एक असन्तोष को जन्म देती है जो किसी भी समय में एक ज्वाला के रूप में भड़क सकता है। यथार्थ के प्रति निष्ठा और उसे पहचानने तथा पकड़ पाने की ललक रचनाकार को पक्षधर भी बनाती है, उसे इस ओर और और उस ओर विवशतः जुड़ना ही पड़ता है। समग्रतः यथार्थ के प्रति जिज्ञासु रचनाकार के पथ को हावर्ड फास्ट खतरनाक पथ मानते हैं। परन्तु यदि रचनाकार



साहित्य के प्रति पूरी निष्ठा से समर्पित है तो उसे यह रास्ता अपनाना ही पड़ता है। इसका कारण यह है कि जीवन से अलगाव साहित्य को भ्रष्ट कर देता है। साहित्य की सम्पन्नता रचनाकार के सच्चाई को पहचानने की क्षमता की सूक्ष्मता से है।

हावर्ड फास्ट के अनुसार साहित्य की चरितार्थता उसकी संप्रेषणीयता में है। यथार्थवाद साहित्य के अन्तर्गत वस्तु तत्व तथा रूपतत्व की सापेक्षिक स्थिति की चर्चा करते हुए हावर्ड फास्ट ने वस्तु तत्व की प्रमुखता का प्रतिपादन किया है। उनका विचार है कि वस्तु तत्व के खोखलेपन को शिल्प के सजाव द्वारा ढँकने का परिणाम अन्ततः साहित्य के रूप की क्षति में ही स्पष्ट होता है। हावर्ड फास्ट ने यथार्थवादी साहित्य की सार्थकता उसके उच्च नैतिक आधार में भी देखी है। सामान्यतः हावर्ड फास्ट के साहित्य चिन्तन का सारा जोर साहित्य और जीवन, साहित्य और यथार्थ तथा साहित्य और जन सामान्य के बीच घनिष्ट सम्बन्धों का प्रतिपादन है।

### संदर्भ

1. Karl Marx and F. Engels ( Literature and Art ). It is not consciousness of men that determines their being but on the Contrary, Their social being that determines their Consciousness
2. कार्ल मार्क्स—“राजनीतिक अर्थ शास्त्र की आलोचना”
3. Maxim Gorky—“On Literature”
4. Imagination is in its essence, also a mode of thinking about the world, but thinking in terms of images—Ibid, page 30.
5. Ibid page 32.
6. Ibid, Page No. 17.
7. But both capitalist and poet become darker figures first tragic, then pitiful and finally vicious—Ibid, page No. 59.
8. The Novel and poet.
9. Ibid page 69.



# मुक्तिबोध की सृजन प्रक्रिया पर मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव

मोहन

समाज में व्याप्त विसंगतियों पर बेरहमी की चोट करवा और जीवन की ज्वलन्त समस्याओं से जूझना लेखक की महत्वपूर्ण भूमिका उद्भासित करता है। व्यक्ति और समाज की जड़ तक पहुँचने वाले रचनात्मक विचार और सामाजिक अनुभव ही संस्कृति का निर्माण करते हैं। इस बुनियादी जमीन को तजरन्दाज करके जो कुछ भी लिखा जायेगा वह निरर्थक आवेश मात्र होगा। सक्रिय साझेदारी ही लेखक को आत्ममोह, आत्म-निर्वासन और अहंपूजा से बचा सकती है। समाज का रूपान्तरण सर्वहारा वर्ग के उत्थान और उसकी विचारधारा से सम्पृक्त है। हमारी सामाजिक चेतना मूलतः इतिहासबोध और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बीच से उभरे विवेक और अनुभव से प्रादुर्भूत होती है। रचना का स्तम्भ वस्तु जगत है। रचनाकार अपने सृजन-विवेक से यथार्थ के सभी स्तरों और पहलुओं पर युग-सापेक्ष दृष्टि डालता है और विविध अन्त-विरोधों और अन्तर्सम्बन्धों को खोजता है; यथार्थ चेतना में गहरे उतरता है, यह केवल आरोपित नहीं होता। जब वह गहराई में उतरता है तब कहीं रचना सही जमीन का स्पर्श करती है।

रचना का केन्द्रीय तत्व-मनुष्य होता है। रचनाकार की संवेदनाएँ यथो मुद्राओं से बचकर विकासशील शक्तियों से पूरी तरह अवगत होते हुए बदलते जीवन-मूल्य और संवन्धों को सारी सम्भावनाओं के साथ उजागर करती हैं। रचनाकार में महज प्रचारात्मक राजनीतिक प्रतिबद्धता न हो बल्कि सार्वभौम साक्षात्कार की संलग्नता हो। उसकी पक्षधरता संकीर्णता या जड़ता का पर्याय नहीं है क्योंकि वह पर्याप्त पीड़ित मानवता की पक्षधरता है। दलित और शोषित के प्रति उसकी प्रतिबद्धता एक व्याकुलता या छटपटाहट का परिणाम होती है जो ललकार के साथ संघर्ष की भाषा देती है। जनवादी रचनाकार मानवीय यातनाओं और पूँजीवादी षडयन्त्रों का जवाब देता है। अतः पीड़ा और विषमता से उत्पन्न लेखन का जुझारू होना स्वाभाविक है। जनवादी रचनाकार के विचार हथियार बन जाते हैं और तेजी से राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन के लिए कविता पोस्टर बन जाती है। जब रचनाकार जनसामान्य को हीनता, बोनेपन और गूँगेपन से मुक्ति दिलाने के लिए अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाता है तभी कविता की निर्मिति सही जमीन पर ठहरती है। 'अभिव्यक्ति' शब्द और कर्म दोनों की होती है। कवि की दृष्टि हमें सोचने-समझने, वर्ग चेतन होकर कर्मरत होने की प्रेरणा देता है। दरअसल मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया और सर्जनात्मकता को समझने के लिए इसी पृष्ठभूमि की जरूरत है।



मुक्तिबोध का रचना-संसार व्यक्ति और परिवेश के बीच का दुहरा तनाव लेकर प्रस्तुत हुआ है। वह मानव विरोधी हरकतों को समझता हुआ सामाजिक चेष्टा की सहानुभूति तलाशता है और जय, सन्देह, उत्पीड़न तथा आशंकाओं के बीच जीते हुए समकालीन मनुष्य के विविध पक्षों का सूक्ष्म विश्लेषण करता है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि वर्तमान जीवन में मानव नियति राजनीति से बंधी हुई है अतः यथार्थ का साक्षात्कार राजनीति से कटकर सम्भव नहीं है। मुक्तिबोध ने मार्क्सिय जीवन पद्धति को अपनाते हुए मानवीय जटिलताओं, अन्तर्विरोधों और वस्तु जगत के मूल सम्बन्धों को समझने की पूरी चेष्टा की तथा व्यक्ति के विरुद्ध साम्राज्यवादी, पूँजीवादी साजिशों को गहराई से पकड़कर पीड़ितों की पक्षधरता स्वीकार की। 'मुक्तिबोध की काव्यदृष्टि धरती के विकासी द्वन्द्वक्रम में एक निश्चित पक्ष होती है और वृहत्तर जीवन-सन्दर्भों को आत्मसात करती है- ताकि वे तात्कालिक वास्तविकता का अतिक्रमण करने वाली कालातीत वास्तविकता का विराट केनवास पर अंकित कर सके।' <sup>1</sup> यह सच्चाई है कि मुक्तिबोध तात्कालिकता को मानवीयता के चरम विकास की पृष्ठभूमि में देखते और स्वीकारते हैं। इसके साथ ही उनमें भीतर की बेचैनी, तनाव और पीड़ा निहित है। इसलिए वे सामाजिक वास्तविकताओं की दहशत भरी तस्वीर खींचने के साथ भीतरी बेचैनी का खतरा उठाते रहे हैं। यदि उनमें आत्मसंघर्ष और तनाव न होता तो उनकी कविता मात्र प्रचार हो जाती और यदि बाहरी जीवन की प्रामाणिक भयावहता न होती तो उनकी कला रूपवादी होकर रह जाती।

'मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जो अपने समय में अपने पूरे दिल और दिमाग के साथ अपनी पूरी मनुष्यता के साथ रहते हैं। वे अपनी एक निजी प्रतीक-व्यवस्था विकसित करते हैं जिसके माध्यम से सार्वजनिक घटनाओं की दुनियाँ और कवि की निजी दुनियाँ एक सार्थक और अटूट संयोग में प्रकट हो सके। राजनीतिक दृश्य से गहरा लगाव और मार्क्सवादी विचारधारा से प्रतिबद्ध होने के बावजूद, मुक्तिबोध कभी भी प्रचारवादी नहीं बने। एक तो वे राजनीतिक दुनिया से अपने लगाव को मानवीय आस्था और अन्दर में उतने ही गहरे लगाव के साथ जोड़ते-चलते हैं, और दूसरे एक सच्चे कवि की तरह वे सरलीकरणों से इनकार करते हैं।' <sup>2</sup> यही कारण है कि मुक्तिबोध जनता की भीड़ का सरलीकरण मानकर अपने दायित्व से नहीं कतराये। मुक्तिबोध रचनात्मक स्तर पर फतवेवाजी से बचते हुए राजनीतिक विचारों को अनुभवजन्य तीव्रता के साथ जनजीवन की कठोर वास्तविकताओं के लिए खड़ा कर देते हैं। वे बाहरी भीतरी दरबारों की जड़ों तक जाते हैं। उनके काव्य की यह बहुत बड़ी महानता है कि जीवन की भयावहता और कटुता उन्हें मानवीय विश्वास नहीं खोने देती।

मुक्तिबोध की सृजन प्रक्रिया मूलतः मार्क्सवादी आधार लेकर आगे बढ़ी है, यही उनका सौन्दर्य शास्त्र है। उन्होंने वगं विषमता, संघर्ष और दबाव तथा सांस्कृतिक ह्रास को तीव्रता से महसूस किया और अपने रचनात्मक विचार द्वारा जीवन-निर्माण के



उद्देश्य को व्यंजित किया। उन्होंने मूल्यों के टकराव को संयोजक समाजवादी व्यवस्था को लक्ष्य में मानवीय हितों को स्थापित करने के लिए समस्याओं का परीक्षण और विश्लेषण किया। यही कारण है कि वे अनन्तता के पक्षधर और संघर्ष के हिस्सेदार बने। उनमें प्रस्तर यथार्थ बोध के साथ दायित्व निर्वाह की साहसिकता है। एक प्रबुद्ध चिन्तक के नाते उनकी समीक्षा-दृष्टि का धरातल वैचारिकता लिए हुए है। उनका सौन्दर्यशास्त्र सामाजिक चेतना मानवीय क्रिया-व्यापार और वस्तुजगत से सम्बद्ध है। संवेदना ज्ञान से और ज्ञान संवेदना से जुड़ है। कविता स्वयं सृजन-प्रक्रिया से सम्बद्ध और एकरूप है।

भाववादी दर्शन आत्मा की आमूर्त स्थापनाओं को स्वीकार करता है और भौतिकवादी चिन्तन मूल प्रकृति को लेकर चलता है। एक जीवन-दर्शन भावना और आध्यात्मिक चेतना पर आधारित है तो दूसरा पदार्थ या वस्तुजगत पर आधारित है और धार्मिक तथा रहस्यवादी पचड़ों से एकदम अलग है। प्रकृति निरन्तर विकासशील है, परिवर्तनशील है। हर वस्तु के अपने परस्पर सम्बन्ध होते हैं। हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति ने सचमुच एक विशिष्ट दृष्टि को जन्म दिया। पक्ष प्रतिपक्ष का विरोध और संश्लेष या समन्वय का क्रम चलता रहता है और इस तरह परिणामक और संक्रमण के नियम की पूर्ति होती है। हीगेल का चिन्तन अन्त में विश्वात्मा की प्राप्ति के रहस्यात्मक आवरण में ढँक जाता है जबकि मार्क्स और एंगेल्स ने इसे स्वीकार करके भी 'परम प्रत्यय' या रहस्यात्मक भाववादी भूमि से पूर्णतः मुक्त रखा है। वे उसे वैज्ञानिक सन्दर्भों से जोड़कर भौतिकवादी चिन्तन पद्धति बना देते हैं। उन्होंने समाज के विकास के आयामों को समग्रता में समझा। परिवर्तन तथा विकास क्रम, परिवर्तन तथा गति-शीलता परस्पर सापेक्ष माने गये हैं। विकास अथवा नया रूप मूलतः अन्तर्विरोधों पर कायम होता है। यही विपरीतों का संघर्ष है और यह गतिशीलता एक निश्चित दिशा में उर्ध्वमुखी होती है। 'यथार्थ' के विकासक्रम से उद्भूत नयी स्थितियाँ ही प्रगतिशीलता का पर्याय हैं और वर्षों के बीच होने वाले 'दैमनस्यपूर्ण अन्तर्विरोध' ही सामाजिक क्रान्ति के जिम्मेदार होते हैं।

भौतिक उत्पादन और श्रम मार्क्सवादी चिन्तन का आधार है जो समग्र और राजनीतिक भूमिकाएँ निश्चित करता है और वर्ग संघर्ष की पृष्ठभूमि बन जाता है। ऐतिहासिक भौतिकवादी मार्क्सवादी चिन्तक मानवसमाज के इतिहास का विश्लेषण करते हैं, इसे 'मार्क्सवादी समाज दर्शन' भी कहा गया है। द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद सामाजिक क्षेत्र में ऐतिहासिक भौतिकवाद को जन्म देता है। यह पद्धति हमें इतिहास के बड़े-बड़े परिवर्तन और उथल-पुथल की तह में मानव-समाज की उस भूमिका स्पष्ट करती है कि जन-सामान्य का सामाजिक अस्तित्व और उसकी चेतना से क्या सम्बन्ध रहा; सामाजिक विकास में वर्ग संघर्ष और उत्पादन पद्धति का कहीं तक हाथ रहा है तथा क्रान्तियों के तह में कौन से कारण निहित रहे हैं आदि। वास्तव में सामाजिक जीवन के विकास का क्रम किसी परोक्ष सत्ता या रहस्यात्मक नियन्त्रा द्वारा अनुशासित नहीं है बल्कि वस्तुगत व्यापार है और ठोस नियमों पर केन्द्रित है। सामाजिक चेतना



को रूप देने वाला निर्णायक तत्त्व सामाजिक अस्तित्व है। 'सामाजिक चेतना, राजनीति और विधि सम्बन्धी सिद्धान्तों, धार्मिक दार्शनिक तथा नैतिक विचारों का जो किसी समाज में प्रचलित होते हैं कुल जोड़ है। इनके अलावा उसके अन्तर्गत सामाजिक विज्ञान कला तथा सामाजिक मनोविज्ञान जैसी बातें भी आती हैं। इसके विपरीत सामाजिक अस्तित्व के अन्तर्गत अपनी, सारी जटिलताओं तथा अन्तर्विरोधों के साथ समाज का भौतिक जीवन मूर्त होता है।<sup>3</sup> समाज की आर्थिक स्थिति उत्पादन सम्बन्धों पर निर्भर करती है और यही सम्बन्ध विभिन्न मान्यताओं तथा संगठनों, संस्थाओं को जन्म देते हैं। अतः मार्क्सवादी चिन्तन मूलतः 'सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की छानबीन है'।<sup>4</sup>

समाज का क्रमिक विकास ऐतिहासिक भौतिकवादी धारणाओं के अनुसार पाँच अवस्थाओं का विश्लेषण करता है। उत्पादन के स्तर ही सारी सामाजिक जीवन व्यवस्था को अनुशासित करते हैं। पहले आदिम सामुदायिक संरचना थी जिसमें कबीले प्रधान थे। उसमें एक विशेष नियंत्रण, नियम, श्रम-विभाजन, वितरण और संघर्ष शक्ति होती थी। आदिम साम्य समाज का विकास दास प्रथा के समाज के रूप में हुआ। शोषक और शोषित में बँटता हुआ यह समाज अन्तर्विरोधी रूपों से सामंती समाज बना। सामंती स्वामित्व के कारण शोषण, उत्पीड़न भयावह हो गया। किसान-मजदूर राजनीतिक अधिकारों से वंचित वर्गीय ढाँचे का शिकार हुआ। सर्वहारा का निरन्तर संघर्ष बढ़ने लगा। इतिहास की लम्बी यात्रा के बाद सामाजिक क्रांति द्वारा समाजवादी समाज या अर्थ-व्यवस्था का विकास होता है और सर्वहारा के अधिवायकत्व द्वारा नियोजित विकास, उत्पीड़न की समाप्ति, श्रमजीवियों की अन्तर्राष्ट्रीय एकता आदि को प्रश्रय मिलती हैं। इसे 'शोषण मुक्त सामाजिक स्वामित्व' कह सकते हैं। मार्क्सवादी चिंतक यह स्वीकार करता है कि संघर्ष के लिए सर्वहारा के पास एकतावद्ध संगठन ही सबसे बड़ा हथियार है। शोषित वर्ग की जनवादी संस्कृति और पूँजीवादी संस्कृति की लड़ाई हमेशा चलती रहती है। अतः समाजवाद द्वारा जिस चीज की संभावना उत्पन्न होती है वह व्यक्ति का दमन नहीं व्यक्ति की उपेक्षा नहीं, व्यक्ति की अधीनता नहीं, बल्कि व्यक्ति और समाज का सामंजस्य है।<sup>5</sup> मुक्तिबोध इसी समाजवादी व्यवस्था के लिए लड़ते रहे हैं।

मुक्तिबोध के 'ज्ञानात्मक आधार' की वैचारिक पृष्ठभूमि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही है। ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान से मुक्तिबोध 'आभ्यन्तरिकृत जीवन दृष्टि' की बात करते हैं। रचनाकार को वस्तुजगत् से या बाह्य जीवन के अनुरोधों, आग्रहों, क्रिया-व्यापारों आदि से ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान आभ्यन्तरिकृत होकर संवेदनाएँ उभारता है। ये संवेदनाएँ व्यवस्थित, समन्वित और समृद्ध होकर किन्हीं खास निर्णयों या निष्कर्षों तक पहुँचती हैं जिससे कलाकार अपनी धारणाएँ और मान्यताएँ बनाता है। ये मान्यताएँ ही कवि का ज्ञान या चिन्तन बन जाती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पहले सामाजिक व्यवहार और वस्तु यथार्थ से प्राप्त बाह्य ज्ञान के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रिया और बाद में आभ्यन्तर संवेदना का ज्ञान या चिन्तन के रूप में प्रकटीकरण। मुक्तिबोध का स्पष्ट मत है कि साहित्य के मूख बीच जीवन के विविध अनुभवों से प्राप्त



ज्ञान-संवेदन और संवेदन ज्ञान में ही है। साहित्यकार की वर्गीय चेतना और वैयक्तिक चेतना में निकटता होनी चाहिए। वर्ग चेतन होकर ही मध्यम वर्गीय कलाकार सर्वहारा से जुड़ता है और सामाजिक क्रांति में शामिल होकर मानवीय लक्ष्य तक पहुँचता है। साहित्य मूलतः पूरी सजगता के साथ सामाजिक वास्तविकता से सम्बद्ध होता है। यही कारण है कि मुक्तिबोध समाज को उत्पीड़ित करने वाली ह्रासशील शक्तियों से मोर्चा लेते हैं और सर्वहारा के मुक्तिसंग्राम में सक्रिय साझेदारी निभाते हैं।

यद्यपि मुक्तिबोध यह स्वीकारते हैं कि रचना-प्रक्रिया विभिन्न युगों में, विभिन्न व्यक्तियों और विभिन्न साहित्य प्रकारों में अलग-अलग होती है फिर भी वे कला के तीन क्षणों का उल्लेख और विश्लेषण बड़ी विश्वसनीयता के साथ-साथ करते हैं। 'कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-डुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैंटेसी अपनी आंखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्ण-वस्था तक की गतिमानता।' <sup>6</sup> दरअसल रचना की जड़ है अनुभव का क्षण जिसके बिना आवेग, गति और मानसिक प्रक्रिया अभिव्यक्ति की ओर जा ही नहीं सकती। मुक्तिबोध ने गंभीर और सूक्ष्म विवरण देते हुए स्पष्ट किया है कि फैंटेसी अनुभव से उत्पन्न किन्तु उससे स्वतंत्र है। 'वह फैंटेसी यथार्थ में भोगे गये वास्तविक अनुभव की प्रतिकृति नहीं हो सकती। वैयक्तिक से निर्वैयक्तिक होने के दौरान ही उस फैंटेसी ने कुछ ऐसा नवीन ग्रहण कर लिया कि जिससे वह स्वयं भी वास्तविक अनुभव से स्वतंत्र बन बैठी। फैंटेसी अनुभव की कन्या है उस कन्या का अपना स्वतंत्र विकासभाव व्यक्तित्व है।' <sup>7</sup> इस दूसरे क्षण के पश्चात् फैंटेसी शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह लेकर विकसित परिवर्तित होती हुई नवीन रूप धारण करती है। कवि का व्यक्तित्व और उसकी समस्त चेतना उस 'फैंटेसी के बहते रंगों के साथ' बहकर मूल रूप से स्वतंत्र और पृथक रूप में कला के तीसरे क्षण की सम्पन्नता प्राप्त करता है। फैंटेसी में संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन कलाकार को सार्वजनीनता प्रदान करते हैं। फैंटेसी एक संवेदनात्मक उद्देश्य और दिशा के साथ गतिशील होती है, और चित्रों की सुसंगत पाँत सँजोती हुयी अपने अनुरूप जीवनानुभवों को समेटती हुई गतिमात्र होती है। 'वई कविता' का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध पुस्तक में मुक्तिबोध ने इस क्षणों की बारीक व्याख्या की है और फैंटेसी के जटिल रूप को प्रकाशित किया है। कला का तीसरा क्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें फैंटेसी का मूल मर्म शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में नया बन जाता है यानि मूल फैंटेसी का 'सिकुड़ा हुआ एक दर्द फैलकर एक पर्सपेक्टिव का रूप' धारणकर लेता है। यही कलात्मक अभिव्यक्ति है। जो रचनाकार 'भाषा की चमक और सफाई' पर जोर देते हैं उन्हें भावतत्त्व की उपेक्षा करनी पड़ती है और जब भावों को शब्दों के चौखटे में फँसाया जाता है तब 'शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में फैंटेसी की ही काट-छांट' होने लगती है।



भाषा के सम्बन्ध में मुक्तिबोध की यह धारणा बहुत स्पष्ट है 'भाषा एक जीवित परम्परा है। शब्दों में एक स्पन्दन है। शब्दों में जो अर्थस्पन्दन है वह फैंटेसी द्वारा उद्बुद्ध होकर नयी भावधाराएँ वहा देता है। ये भावधाराएँ फैंटेसी की समीपवर्ती भावधाराएँ हैं ... भाषा सामाजिक निधि है। शब्द के पीछे एक अर्थ परम्परा है। ये अर्थ जीवनानुभवों से जुड़े हुए हैं। फैंटेसी अपने अनुकूल शब्दों में स्थित अर्थस्पन्दन को उद्बुद्ध करती है।'<sup>8</sup> यह बात ध्यान देने योग्य है कि भाषा 'फैंटेसी को काटती छाँटती है और फैंटेसी भाषा को सम्पन्न और समृद्ध' करती है। इसीलिए कवि ही भाषा की सर्जना करता है। मतलब यह कि इस तीसरे क्षण में भाव और भाषा का महत्वपूर्ण द्वन्द्व होता है और संवेदनात्मक उद्देश्य अपना कार्य पूर्ण करता है। इन तीनों क्षणों में कहीं शिथिलता नहीं आनी चाहिए। भाव और भाषा के द्वन्द्व में मुक्तिबोध कलाकार की उस स्थिति का संकेत करते हैं जहाँ उसे यह महसूस होता रहता है कि जो उसे कहना था वह पूर्ण रूप से नहीं कह सका और ऐसा बहुत कुछ कह गया जो शुरू में उसे मालूम नहीं था कि कह जायेगा।'<sup>9</sup> शायद इसीलिए मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं को 'अधूरी कविताएँ' स्वीकार किया है।

मुक्तिबोध ने यद्यार्थ के तत्त्वों को गतिशील माना है। सही कलाकार वही है जिसमें 'हलचल मचाने वाली पीड़ा' हो जो अमानवीयता को नजरन्दाज न करे, शोषणवादी व्यवस्था से अपने निजी स्वार्थों के लिए समझौता न करे। वह जनता को संगठित कर सक्रिय चेतना और उद्देश्य की दिशा दे। मुक्तिबोध ने काव्य कला को एक सामाजिक - सांस्कृतिक प्रक्रिया माना है तथा विकासमान सामाजिक वस्तु के रूप में स्वीकार किया है। 'काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन है।'<sup>10</sup> मुक्तिबोध ने 'न्यायपूर्ण संशोधन' के लिए शोषणवादी परिस्थितियों का घोर विरोध किया है और इसे ही 'काव्य-सत्य का नैतिक दायित्व' तथा 'पीड़ा भरी विवेक दृष्टि' स्वीकारा है। मुक्तिबोध ने मनुष्य के विकास में जीवन्त आस्था को स्वीकार किया है और सृजन-प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

मुक्तिबोध पूरी समकालीन कविता को अपने में समेटे हुए है। वे 'बीसवीं सदी के गवाह' हैं, जो अपने समय का आँखों देखा हाल 'दहकते इस्पाती दस्तावेज' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अशोक वाजपेयी का विचार है कि 'आज की महत्वपूर्ण युवा कविता मुक्तिबोध की तरह खुरदरी, विचलित करने वाली कविता है, चमकीली और प्रीतिकर कविता नहीं, और मुक्तिबोध की कविता युवा कविता के लिये लगभग उद्गम काव्य हो गयी है।'<sup>11</sup> मुक्तिबोध ने आम आदमी के पीड़ित वाणी को सुना है। इसीलिए उन्होंने शोषणवादी गढ़ों को तोड़ने के लिए जनसंघर्षों की भूमिका तैयार की। उन्होंने महान सम्भावनाओं की उजली किरणों को साक्षात् देखा अतः इतिहास बोध और द्वन्द्वात्मक पद्धति को स्वीकार कर मृत जनवादी भूमिका को बार-बार याद कराया—'कभी अकेले



में मुक्ति न मिलती, यदि वह है तो सबके ही साथ है।' यह परिणाम जनवादी धारा से प्रतिबद्ध ईमानदार और सघात जनकवि ही दे सकता है।

### संदर्भ

1. मुक्तिबोध का रचना संसार—सं० गंगा प्रसाद विमल, पृष्ठ 64-65
2. फिलहाल—अशोक वाजपेयी, पृष्ठ-115
3. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन—डॉ० शिवकुमार मिश्र, पृष्ठ-69
4. वही—पृष्ठ 69
5. ऐतिहासिक भौतिकवाद : समाज के मार्क्सवादी सिद्धान्त की रूपरेखा व० कैल्ले और म० कोवालजोन, पृष्ठ-338
6. एक साहित्यिक की डायरी—मुक्तिबोध, पृष्ठ-16
7. वही, पृष्ठ-17
8. वही, पृष्ठ-23
9. वही, पृष्ठ-25
10. नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध—मुक्तिबोध, पृष्ठ-19
11. फिलहाल—अशोक वाजपेयी, पृष्ठ-125





...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...

...



## मार्क्स और स्वामी करपात्री जी

कौशल किशोर मिश्र

भारतीय परम्परा में खादि शंकराचार्य के बाद स्वामी करपात्री जी ऐसे विचारक हुए जिन्होंने भारतीय व्यक्तित्व को २०वीं शताब्दी में स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मार्क्सवाद की प्रचण्ड आंधी ने जब आधी दुनियाँ की चिन्तनधारा को झकझोर दिया, स्वामी जी 1982 तक भारतीय व्यक्तित्व को स्थापित करने का प्रयत्न करते रहे। मार्क्स की विचारधारा से प्रेरणा लेकर विश्व के अनेक विकासशील अर्धविकसित एवं अविकसित देशों ने अपने आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था का विकास किया है, लेकिन भारत की स्थिति थोड़ी भिन्न रही। यद्यपि मार्क्सवाद के हवा से भारतीय परिवेश अच्छता नहीं रहा, लेकिन यहाँ के मिट्टी की विशेषता यह रही है कि कोई भी बाद यहाँ की शार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्परा की सीमाओं को लाँघकर पनप नहीं सका। स्वामीजी ने वैदिक व्यवस्था के विश्लेषण में इस बात को सिद्ध किया। उन्होंने भारतीय सामग्री के आधार पर मार्क्सवाद की घज्जियाँ उड़ा कर यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय व्यक्तित्व की कीमत पर यहाँ किसी आंधी का टिकना अस्म्भव है।

स्वामी करपात्रीजी की सम्पूर्ण विचारधारा चिन्तन एवं व्यावहारिकता का योग-फल रहा है। स्वामीजी पश्चिमी विचारधारा पर अपनी प्रतिक्रिया विश्व सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं। इसके दो रूप हैं, आन्तरिक एवं बाह्य। भारतीय चिन्तन का अंग बनने के कारण बाह्य और आन्तरिक रूपों में कोई बहुत अधिक दूरी नहीं रह पाती। स्वामीजी भारतीय व्यवस्था के विश्लेषण में मार्क्स, गाँधी, नेहरू, जयप्रकाश और डाँगे के विचारों को भारतीय व्यक्तित्व के बहुत अधिक अनुकूल नहीं समझते। वे उनके सिद्धान्तों एवं व्यवहारों को व्यापक सन्दर्भ में अपेक्षाकृत सिकुड़ा हुआ मानते हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवादी परिवेश में दयानन्द, विवेकानन्द एवं तिलक ने वैदिक मान्यताओं के आधार पर भारतीय राजनीति का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। स्वामी जी को उनकी विचारधाराओं में कुछ अधूरापन नजर आता है। वे उस कमी की जीवनपर्यन्त पूर्ति में लगे रहे। आधुनिक प्रमुख विचारधाराओं, पूँजीवाद, समाजवाद एवं मार्क्सवाद में वे सबसे तीखा प्रहार मार्क्सवाद पर करते हैं। उनकी दृष्टि में मार्क्सवाद भारतीय व्यक्तित्व और वैदिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए सबसे अधिक घातक है। स्वामी जी भविष्य में वास्तविक संघर्ष मार्क्सवाद एवं वैदिक व्यवस्था में ही मानते हैं। इस प्रकार स्वामी जी वैदिक व्यवस्था के प्रमुख भाष्यकार के रूप में मार्क्सवाद का भारतीय भूमि पर विरोध करते हैं।



मार्क्स और स्वामी जी दोनों ने पूँजीवाद को मानव जाति का घोर शत्रु बताया।<sup>1</sup> पं० जवाहरलाल नेहरू और गान्धी ने भी पूँजीवाद पर आक्रमण किया। लेकिन सभी विचारकों के आक्रमण के तरीकों में असमानता है। गाँधी और स्वामी जी धर्म और राजनीति को एक करते हुए समान रूप से अपना उद्देश्य राश्वराज्य मानते हैं। गाँधी का राश्वराज्य नैतिक अराजकता के जाल में फँसकर ट्रस्टीशिप, हृदय परिगर्तन नैतिक व्यक्ति आदि के दिवास्वप्न में खो जाता है और अन्ततः पूँजीवाद की ओर मुड़ जाता है। स्वामी जी अतिरिक्त के वितरण, पूँजी एवम् उसकी व्यवस्था पर राज्य का सीधा समाज सापेक्ष नियंत्रण मानते हैं और साथ में उक्त की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में स्वामी जी राश्वराज्य की व्याख्या वैदिक संहिताओं, धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, शुक्रनीति एवं महकाव्यों के आधार पर करते हैं।<sup>2</sup>

स्वामी जी का स्पष्ट मत रहा कि भौतिक पूँजीवादी प्रवृत्ति के कारण ही समाज अमीर और गरीब दो वर्गों में पूर्णतः विभक्त हो गया। पूँजीवादी व्यवस्था से मशीनी संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ और लाखों करोड़ों लोगों की रोजी रोटी का साधन पूर्णतया छिन गया। यही पूँजीवाद के विनाश की भी पृष्ठभूमि है।<sup>3</sup> पूँजीवादी प्रवृत्ति बढ़ने से राष्ट्रों की श्रम शक्ति क्षीण होती है। इसी में उपनिवेशवाद का विकास होता है। क्योंकि पूँजीवादी राष्ट्र अपने मालों की खपत अपने उपनिवेशों में करने लगता है। लेकिन अन्तर्विरोध के कारण भौतिकवाद पूँजीवाद के गर्भ से उसको नष्ट करने वाला ताकत उत्पन्न होता है, और अन्ततः भौतिक समाजवाद का जन्म होता है। पूँजीवाद का खण्डन करते समय स्वामी जी इतने अधिक सन्न हो जाते हैं कि वे लोकतन्त्रात्मक सरकारों को पूँजीवादी सरकार की संज्ञा दे डालते हैं।

स्वामी जी का मानना है कि राश्वराज्य में वैयक्तिक सम्पत्ति तो मान्य है, किन्तु उसका सन्तुलन किया जाता है।<sup>4</sup> व्यक्तिगत सम्पत्ति की उत्पत्ति स्वत्व द्वारा होती है। स्वत्व सात प्रकार का होता है—दाय, लाभ, विजय, अर्जन, पुरस्कार, निधि और सूद। इसी से उत्तराधिकार का जन्म होता है। पूँजीवादी व्यवस्था में ये बातें नहीं हैं। वहाँ सन्तुलन का प्रयास नहीं किया जाता। फलतः उसकी सारी अच्छाइयाँ, बुराइयों में परिणत हो जाती है। किन्तु राश्वराज्य में आर्थिक सन्तुलन स्थापित करने के लिए धर्म तथा राजशक्ति द्वारा प्रयास किया जाता है। जहाँ पर धर्म और राजशक्ति दोनों की अवहेलना होती है उसे 'अराजकत्व' कहा जाता है।

मार्क्स और स्वामी जी दोनों ने ही पूँजीवादी प्रवृत्ति को मानव प्रवृत्ति के लिए घातक बताया। लेकिन जहाँ मार्क्स ने पूँजीवाद के विकल्प में वैज्ञानिक समाजवाद का नारा दिया वहीं स्वामी जी ने समाजवाद को भी घृणित माना। समाजवाद एवं पूँजीवाद में यद्यपि पूँजीवाद ही अधिक घृणित है लेकिन भारतीय मान्यता से जोड़ने पर स्वामी जी को समाजवाद से भी परहेज है।<sup>5</sup> रजनीश जैसे स्वयम्भू भगवान जब भारतीय मान्यता पर चोट करने का प्रयास कर उसे सतही सैद्धान्तिक धरातल पर लाने का प्रयास करते हैं तो भारतीय मान्यता के साथ भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। स्वामी जी ने इन भ्रान्तियों के



विचारण में मार्क्स से उग्र होकर पूंजीवादी व्यवस्था का खण्डन किया। वे समाजवाद और पूंजीवाद दोनों ही को भारतीय धरातल के लिए अनुपयुक्त मानते हैं। इन दोनों के विकल्प में वे रामराज्य को भारत के लिए अधिक उपयुक्त मानते हैं।

मार्क्स के ठीक विपरीत स्वामी जी समाजवाद और साम्यवाद का भविष्य गर्भ में मानते हैं। दोनों का वर्तमान तो अत्यन्त विवादास्पद है। साम्यवाद अपने व्यवहार में असफल सिद्ध हुआ है। उसका स्वरूप इतना विकृत हो चुका है कि न तो उसमें संशोधन की कोई गुंजाइश है न ही उसमें पैबन्द लगाकर किसी तरह चाक-चौबन्द किया जा सकता है। विश्व के जिस किसी भी देश में साम्यवाद का प्रयोग हुआ उसका उद्देश्य पूरा न हो सका। हर साम्यवादी देश में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मुक्त समाज की स्थापना के स्थान पर स्थायी अधिनायकवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। बफ़ानिस्तान, पोलैण्ड, हंगरी में साम्यवादियों ने जो नंगा नाच किया, उसके आधार पर उनमें और साम्राज्यवादियों में फर्क करना जटिलतर होता जा रहा है। साम्यवाद का भविष्य देखने पर लगता है कि उसकी प्रत्येक प्रतिक्रिया व्यक्ति को व्यक्तित्वहीन बनाने पर तुली हुई है। स्वामी जी ने साम्यवाद और समाजवाद पर सैद्धान्तिक हमला किया। उन्होंने भारतीय राजनीतिक प्रयोग को विश्व संदर्भ में प्रस्तुत कर विश्व के समस्याओं के समाधान में उसे वैकल्पिक व्यवस्था माना। स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से शोषित किया की विश्व की समस्याओं के समाधान में मार्क्सवादी व्यवस्था चुक गयी है।<sup>6</sup>

स्वामी जी ने मार्क्स के शोषक एवं शोषित विहीन समाज की परिकल्पना को व्यवहार में असम्भव माना। 'अमृतस्य पुत्राः के आधार पर उन्होंने माना मार्क्स आत्मा की स्वतंत्र सत्ता न मान कर आत्म चेतना को भी जड़ भूतों का ही विकास मानता है। इसलिए उसकी दृष्टि में समानता, स्वतंत्रता कुछ भी सम्भव नहीं है। मार्क्स मानता है कि मानव का इतिहास आरम्भ से अन्त तक शोषक एवं शोषित वर्ग का रहा है। इसके विपरीत भारत में वैदिक इतिहासों तथा रामायण, महाभारत आदि आर्य इतिहासों में सर्वत्र एक ओर ईश्वरीय देवी सद्भावना, परमेश्वर्य तथा आर्य भाव है तो दूसरी ओर दानवी, राक्षसी शक्तियों की सत्ता भी प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि मानव इतिहास में सामरस्य की खोज करना व्यर्थ है। मार्क्स मानव इतिहास में सामरस्य स्थापित करने को बात करता है, जो बौद्धिक दिवालिएपन का द्योतक है।

मार्क्स ऐसे शोषण मुक्त समाज के रचना की कल्पना करता है जिसमें मनुष्य अपनी असमर्थता की सीमा से ऊपर उठ सके और सामाजिक विकास का नियंत्रण कर सके।<sup>7</sup> स्वामी जी का मत है कि प्राचीन भारतीय मार्क्स की कल्पना से कहीं अधिक उत्कृष्ट समाज पद्धति का निर्माण तथा अनुभव कर चुके हैं। आत्मसंयम, इन्द्रिय निग्रह त्याग, वैराग्य, आत्मविष्ठा की उत्कृष्ट भावना के बिना असमर्थता के ऊपर उठना असम्भव है। स्वामी जी के अनुसार मार्क्स इसकी कल्पना भी नहीं कर सका। कोई भी समाज जितना अधिक संयमी एवं नियंत्रित होगा, उतना ही स्वतंत्र होगा। कोई व्यक्ति समष्टिहित की उपेक्षा करके, समष्टिहित की हानि करके समष्टि-नियंत्रण को



ठुकराकर व्यक्ति हित का प्रयत्न करे वह सफल नहीं हो सकता। राष्ट्र भी यदि विश्व की हानि करके मनमाने ढंग से आत्मोन्नति चाहता है, तो वह राष्ट्रवाद भी व्यक्तिवाद एवं तथाकथित सम्प्रदायवाद से खतरनाक होता है। मार्क्सवादी शासन पद्धति में व्यक्ति जड़ शासन यंत्र का नगण्य कलपुर्जा बनकर रहता है वहाँ व्यक्तित्व के विकास का अवकाश ही नहीं है।<sup>१</sup>

स्वामी जी ने मार्क्स के इस धारणा का खण्डन करते हैं कि मार्क्सवाद दासता, विषमता, असहिष्णुता को समाप्त कर स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व की स्थापना करता है। स्वामी जी का मत है कि भारतीय व्यवस्था में यह आदर्श स्वयंसिद्ध है। रूसी राज्य क्रान्ति के बाद भी वहाँ विषमता दूर नहीं हुई। वहाँ आज समाज राज्य के स्थान पर व्यक्ति और दल का राज्य है। साम्राज्यवाद में भी यही स्थिति है। आधुनिक मार्क्सवाद और साम्राज्यवाद में विशेष अन्तर नहीं है। स्वामी जी का मत है कि मार्क्सवाद विश्व प्रयोगशाला में पूर्णतः असफल हो चुका है।

स्वामी जी ने मार्क्स के विपरीत धर्मनिरपेक्ष राजतन्त्रवाद को साम्यक शासन पद्धति माना। इसी को वे रामराज्य के नाम से पुकारते हैं। रामराज्य में लोकमत और समता दोनों हैं। स्वामी जी को आधुनिक समाजवादी व्यवस्था में लोकमत और समता का अभाव झलकता है। रामराज्य ही भारतीय राजनीति का आदर्श है। भारत का राजनीतिक आदर्श रहा है कि यहाँ शासक राज्य सम्पत्ति से असम्पृक्त होकर जनकल्याण के लिए कर संग्रह करता है। जनकल्याण के विपरीत कर संग्रह की कल्पना रामराज्य में नहीं की जा सकती। 'सुरक्षा नहीं तो कर नहीं' का सिद्धान्त उस युग में प्रचलित था। क्या आधुनिक समाजवादी राज्यों में यह आदर्श खोजे मिलेगा? मार्क्सवादी राज्यों में शक्ति सम्पत्ति का उचित विवरण नहीं मिलता। रामराज्य में व्यक्ति की पूर्णता उसकी नैतिकता तथा धार्मिक अनुशासन में है। ऐसा पूर्ण व्यक्ति ही सारी व्यवस्था का केन्द्र हो सकता है। रामराज्य में शिक्षा, सम्पत्ति एवं धर्म की स्वतंत्रताएँ व्यवहारगत होती हैं। स्वामी जी साम्राज्यवाद, साम्यवाद, लोकतन्त्रवाद और अधिनायकवाद में रामराज्य को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हैं।

मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद की वैज्ञानिक व्याख्या पर अपने विचारों का प्रसाद खड़ा किया।<sup>२</sup> हीगल ने माना कि इतिहास ईश्वर की आत्मकथा है। वह मनुष्यों को अपनी रचि के अनुसार कार्य करने देता है। उसका फल वही होता है जो ईश्वर चाहता है। डिल्टन मेर ने माना कि संसार अज्ञात रूप से, पर बड़े कष्टपूर्वक ईश्वर की ओर बढ़ रहा है—मेरे लिए इतिहास का यही अर्थ है। स्वामी जी पश्चिमी इतिहासकारों के इतिहास सन्बन्धी धारणाओं को अधूरा मानते हैं। स्वामी जी का मत है कि मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद में वस्तुगत एवं विषयगत कारकों का प्रयोग होता है। उन्होंने इनसे निरपेक्ष होकर इतिहास का भारतीय रूप प्रस्तुत किया। वे ज्ञान का स्रोत समाधिजन्य श्रुतम्भरा प्रज्ञा को मानते हैं। साथ ही इतिहास को वेदार्थ ज्ञान में साधन स्वीकार करते हैं। रामायण, महाभारत, आदि आर्थ



इतिहास के लेखक बाल्मीकि, व्यास आदि ऋषि ऋतम्भरा प्रजा के अनुसार घटनाओं को पूर्वतया जानकर ही इतिहास लिखने को संलग्न हुए। वैदिकों के वेदार्थ को जानने के लिए इतिहास पुराण का अत्यन्त उपयोग है—“इतिहास पुराणाभ्यांवेदं समुपवृंहयेत्, पुराणमिति वृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्म-शास्त्रमर्थशास्त्रश्चेतीतिहासः” (को० 1।5।14। ब्रह्मविपुराण, रामायण, महाभारतादि इतिहास वृहत्कथादि आख्यायिका, मीमांसादि उदाहरण, मनु याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्र औशनस बार्हस्पत्यादि अर्थशास्त्र ये सभी कौटिल्य के अनुसार इतिहास हैं। शुक्र के अनुसार किसी राजचरित्र वर्णन के व्याज से प्राचीन घटनाओं का वर्णन ही इतिहास है—

“प्राग्वृत्तकथनं चैकराजकृत्यमिषादितः। यस्मिन् स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तः स एव हि।” (शुक्र 4।293)। इस प्रकार स्वामी जी कौटिल्य और शुक्र की परिभाषाएं देकर भारतीय इतिहास की व्याख्या का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया। मार्क्स के ऐतिहासिक व्याख्या में आर्थिक निश्चयवाद उसके सर्वांग विश्लेषण का ऐकान्तिक साधन है। स्वामी जी की व्याख्या में आर्थिक निश्चयवाद ऐकान्तिक साधन न होकर एक अंग मात्र है। स्वामी जी ने इतिहास के भारतीय व्याख्या में धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र दोनों का समावेश किया। स्वामी जी ने भारतीय व्याख्या से यह सिद्ध किया कि मार्क्स की ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या सीमित, एकांगी और विषयगत मान्यताओं से ग्रस्त है।

मार्क्स मानता है कि विश्व में अब तक जितनी भी सामाजिक एवं राजनीतिक क्रान्तियां हुई हैं उसका आधार आर्थिक रहा है। मार्क्स ने स्पष्ट रूप से घोषित कि धर्म एवं अर्थ में किसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। स्वामी जी ने इतिहास का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि विश्व इतिहास में धर्म के मूल से जुड़े त्यागी महात्माओं एवं उनसे प्रभावित समाज ने राजनीतिक एवं आर्थिक क्रान्ति में सर्वाधिक बलिदान किया है। भारत सहित सभी पश्चिमी देशों में आंदोलनों का नेतृत्व, धार्मिक नेताओं, साधुओं एवं सन्यासियों ने किया। आधुनिक भारत का पुनर्जागरण वेदान्त से आता है। विवेकानन्द, तिलक, अरविन्द की वेदान्त तथा गीता की दार्शनिकता ने आधुनिक भारत में सैनिक राष्ट्रवाद एवं उग्रवादी क्रान्ति को जन्म दिया। स्वामी जी स्वयं पश्चिमीकरण बनाम भारतीयकरण की लड़ाई लड़ते रहे। 1975 में जयप्रकाश नारायण के आंदोलन को सफलता धार्मिक पृष्ठ भूमि में ही मिल पाई। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में यदि आध्यात्मवाद का समावेश न हुआ होता तो उनकी सफलता सन्दिग्ध थी। गांधी जी ने स्वयं अध्यात्म की प्रेरणा से राष्ट्रीय आंदोलनों का नेतृत्व किया। इन्होंने व्यापक आध्यात्मिक, धार्मिक सन्दर्भ को मार्क्स नकारता है। बौद्ध, जैन, शंकराचार्य, ईसा मसीह, हजरत मोहम्मद की व्यापक क्रान्तियों को मात्र आर्थिक कसौटी पर कसने से उसकी व्यापकता संकीर्ण हो जाती है। स्वामी जी भारतीय सन्दर्भ में धर्म एवं अर्थ में मार्क्स के विपरीत तादात्म्य स्थापित करते हैं।

स्वामी जी धर्म एवं अर्थ के समन्वय में मार्क्सवाद पर गहरा प्रहार करते हैं। उनका मत है कि मार्क्सवादी एवं ईश्वरवादी दोनों में समन्वय नहीं हो सकता। जो



आध्यात्मवादी हैं उन्हें मार्क्सवाद छोड़ना होगा। मार्क्स की अर्थ नीति ईश्वर एवं धर्म के रहते चल ही नहीं सकती। आध्यात्मवादी मार्क्सवादी बनकर या तो मार्क्सवादियों को धोखा देते हैं या स्वयं को। पश्चिमी विचारक भारतीय सन्दर्भ को समझे बिना जब भारतीय परम्परा के सन्दर्भ में अपने विचार प्रगट करते हैं तो उनके विचार संकीर्ण हो जाते हैं स्वामी जी धर्म एवं अर्थ के सम्बन्ध में मार्क्स का प्रतिवाद प्रस्तुत कर भारतीय व्यवस्था की विशद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

समाजवाद, साम्यवाद एवं मार्क्सवाद के खण्डन में स्वामी जी ने 'रामराज्य एवं मार्क्सवाद' नामक विशाल ग्रन्थ लिखा। स्वामी जी मानते हैं कि साम्यवाद का प्रभाव विश्व के लगभग सभी देशों में है। पूँजीवादी देशों में भी साम्यवाद का आतंक है। मार्क्स फ्रांस के समानता, भ्रातृत्व एवं स्वतंत्रता के उद्घोष से प्रभावित था। लेकिन उसके विचारों में समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व का कोई अर्थ नहीं है। पहले वह समाजवाद का प्रचारक था बाद में उसने समाजवाद का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। समाजवाद के विरोध में उसने वर्ग संघर्ष का सूत्रपात किया। उसने उस समाजवाद को पूँजीवाद का पर्याय माना जिसमें राष्ट्र के उत्पादन साधनों पर व्यक्ति का अधिकार होता है। स्वामी जी मार्क्स के विचारों के परिवर्तन को उसकी अज्ञानता का द्योतक मानते हैं। उनका मत है कि धर्मनिरपेक्ष भौतिक पूँजीवाद और भौतिक समाजवाद अपूर्ण और सदोष हैं। उत्पादन साधनों का वैयक्तिक होना पूँजीवाद है, सामाजिक होना समाजवाद है। समाजवाद में आध्यात्मिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। उसमें धर्म, ईश्वर, आत्मा नहीं है। दया, दान आदि को कोई महत्व नहीं है। न व्यक्तिगत भूमि, न व्यक्तिगत सम्पत्ति न व्यक्तिगत खेत खलिहान, न व्यक्तिगत उद्योग-धन्धे, न व्यक्तिगत औरत और बच्चे ही हो सकते हैं।

साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्था में समाज के कर्णधार का रूप अधिनायक जैसा होता है। उन्हीं के हाथ समाज या राष्ट्र की बागडोर होती है। सत्ता संघर्ष में एक अधिनायक दूसरे अधिनायक का पेट फाड़ कर निकलता है। शासनतंत्र उन्हीं के हाथ का खिलौना है। जनता अधिनायकवादी शासनतंत्र का नगण्य कल पुर्जा है। मार्क्सवादी व्यवस्था में लेखन एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं होती। इस आधार पर स्वामी जी मार्क्सवादी राजनीतिक व्यवस्था का घोर विरोध करते हैं। स्वामी जी राष्ट्र के उत्थान एवं व्यक्ति के विकास की दृष्टि से तीन स्वतंत्रताएँ अपेक्षित मानते हैं—शिक्षा की स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता एवं धन की स्वतंत्रता। उनके अनुसार मार्क्सवादी व्यवस्था में इन स्वतंत्रताओं का कोई अस्तित्व नहीं है।<sup>10</sup>

स्वामी जी भारत के लिए न तो साम्यवादी व्यवस्था उपयुक्त मानते हैं न ही जनतांत्रिक व्यवस्था। वे उसके विकल्प में धर्मसापेक्ष पक्षपात विहीन राज्य यानि रामराज्य करते हैं। उनका मत है कि अन्तिम व्यवस्था जो शोषण मुक्त नैतिकता पर स्थिर सहज भ्रातृत्व के प्रतिपालन में होगी वह रामराज्य है। रामराज्य की स्थापना के बिना भारत



कभी भी अपने अतीत के गौरव को प्राप्त नहीं कर सकता। स्वामी जी जीवनपर्यन्त भारत में रामराज्य की स्थापना के प्रति आशावादी रहे और जीवन के अन्तिम क्षणों तक उन्होंने इसके लिए प्रयास भी किया।

### संदर्भ

1. स्वामी करपात्री जी, मार्क्सवाद एवं रामराज्य, पृ० 315-354, गीताप्रेस, गोरखपुर।  
Adelman Irma, 'Karl Marx,' Theories of Economic Growth and Development pp. 60-93. Abbo John A." Modern Times : Marx political Thought, Men and Ideas. 320-35.
2. स्वामी करपात्री जी, वही, पृ० 354-360.
3. स्वामी करपात्री जी, पूँजीवाद, समाजवाद एवं रामराज्य, प्रकाशक सन्मार्ग, वाराणसी।
4. सिद्धान्त, वर्ष 13, पुरुषार्थ विशेषांक में स्वामी जी का लेख, वैयक्तिक सम्पत्ति और आर्थिक सन्तुलन, पृ० 190।
5. स्वामी करपात्री जी, पूँजीवाद, समाजवाद एवं रामराज्य।
6. सिद्धान्त, वर्ष 2, वर्ष 7, अंक 26, वर्ष 2, वर्ष 13, अंक 42, वर्ष 8, अंक 2, अंक 10, वर्ष 12, वर्ष 6, अंक 30 आदि।
7. Levi, Albert William, Humanism and Politics, Studies in the Relationship of power and Value in the western Tradition. p. 66-120, 1969.  
Levine, Herbert M. Communism and Democracy : Principles and Practice, An Introductory Study, p. 88-90, 1969,
8. स्वामी करपात्री जी, शान्ति, एवं संघर्ष प्रकाशक, सन्मार्ग, वाराणसी।
9. See Lichtheim. George, From Marx to Hegel, New York, Herder and Herder 1971.
10. डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी, सन्मार्ग, 'करपात्र चिन्तन' विशेषांक, पृ० 16-25, 34-35, 36-37, 79-83; 93-97, 109-113 आदि।





THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE

THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE

THE JOURNAL OF THE

THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE

THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE

THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE

THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE

THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE  
THE JOURNAL OF THE



# राजशेखर द्वारा वर्णित समाज में वर्ग-संघर्ष

## प्रवेश भारद्वाज

यद्यपि वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को कार्ल मार्क्स ने वैज्ञानिक रीति से प्रतिपादित किया है तथापि यह विचारधारा प्रायः हर देश के हर काल में विद्यमान रही है। भारत के प्राचीन इतिहास में आर्य-अनार्य संघर्ष, ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष और हिन्दू-यवन संघर्ष के ज्वलन्त उदाहरण प्राप्त होते हैं। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में जैन इतिहासकार राजशेखर सूरि ने अपनी कृति “प्रबन्धकोश” में जिस समाज का चित्रण किया है उसमें भी वर्ग-संघर्ष के अनेक स्पष्ट वर्णन मिलते हैं।<sup>1</sup>

यदि कल्हण की “राजतरंगिणी” कश्मीर में और मेरुतुंग सूरि की “प्रबन्धचिन्ता-मणि” गुजरात में रची गयी तो राजशेखर का “प्रबन्धकोश” दिल्ली में लिखा गया जिस समय तुगलक-वंश का शासन चल रहा था। इतिहासलेखन के प्रति राजशेखर का दृष्टिकोण उपर्युक्त प्रथम दोनों इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न था। राजशेखर सम्भवतः पहला भारतीय इतिहासकार था जिसने इतिहास को राजदरबारों की परिधि से बाहर निकाल कर जनसामान्य की ओर उन्मुख किया। उसके चौबीस प्रबन्धों में से केवल सात राजाओं के विषय में हैं और शेष सूरियों अथवा सामान्य जनो के हैं। अतः प्रतीत होता है कि राजशेखर द्वारा वर्णित समाज में राज-वर्ग की प्रसिद्धि घटती जा रही थी और जन-सामान्य वर्ग की लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी।

यद्यपि राजशेखर ने न तो कोटिल्य या सोमदेव सूरि की तरह किसी राज-दर्शन का प्रणयन किया और न मार्क्स की भाँति “दुनियाँ के मजदूरों एक होओ” जैसा कोई नारा दिया तथापि उसने “प्रबन्धकोश” में जिस समाज का चित्रण किया है उसमें पार-स्परिक संघर्ष, असंतोष, वर्ग-संघर्ष आदि के वर्णन मुख्यतया नौ प्रबन्धों में आते हैं।<sup>2</sup> जैन होते हुए भी वर्ग-संघर्ष, सामूहिक हत्याकाण्ड, युद्ध, हिंसा आदि का वर्णन राजशेखर की इतिहासप्रियता का द्योतक है। वस्तुतः मध्यकालीन वातावरण का प्रभाव उसके इतिहास लेखन पर पड़े बिना न रहा।

मध्ययुगीन भारत में जैसा समाज था वैसे वर्ग समाज के भौतिक आधार और संस्थागत ढाँचे का अध्ययन आवश्यक रूप से कई विभिन्न पहलुओं में किया जाना चाहिए।<sup>3</sup> भूमि सम्बन्ध, कृषक-भूमिपति सम्बन्ध, शासक वर्ग का संगठन, मध्ययुगीन शहर का आर्थिक आधार, इन सबका निरन्तर ध्यान रखा जाना जरूरी है। राजशेखर द्वारा वर्णित समाज में वर्ग-संघर्ष की प्रकृति आध्यात्मिक अधिक थी। भारत, चीन और यूनान के मध्यकाल की अर्थनीति पर धार्मिक विश्वास, परम्परा और मतवादों का गम्भीर प्रभाव परिलक्षित होता है।<sup>4</sup> आर्थिक तत्वों के साथ-साथ आध्यात्मिक तत्वों का योगदान कम नहीं रहा है। बुद्धि, अनुभूति, आचार, विधि-निषेध (Taboos), धर्म और



अध्यात्म के विस्लेषण बिना उत्पादन और वितरण विधि को समझना असम्भव है।<sup>४</sup> इसलिए मानव-इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या भी आवश्यक है। राजशेखर की तरह हीगेल ने आध्यात्मिक विचारों में वर्ग-संघर्ष की धारणा खोजी थी। कालान्तर में मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की और आर्थिक तत्वों को अधिक महत्व दिया।

आज तक के सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।<sup>५</sup> मार्क्स ने मानव-इतिहास को चार विभागों में वर्गीकृत किया है:— (1) एशियाई (2) प्राचीन यूरोपीय (3) सामन्तशाही और (4) पूँजीवादी (बुर्जुवा)।<sup>७</sup> चूँकि सामन्तशाही युग में छोटी मात्रा में कृषि और छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे होते थे, दासों के स्थान पर कर्मकर<sup>८</sup> काम करने लगे। कर्मकरों को भूमिपतियों को लगान देना पड़ता था और साथ में उनकी बेगार भी करनी पड़ती थी।<sup>९</sup> मध्यकालीन भारतीय समाज में कर्मकर होते थे। नगरों में श्रेणियाँ होती थीं। कारीगर इनके अधीन होते थे। राजशेखर लिखता है अर्बुदपर्वत, प्रतिष्ठानपुर आदि में श्रेणियाँ, कर्मकर और कर्मकरी होते थे। उसी प्रकार जैसे वेनिस और जेनेवा में व्यापारी अपने निगम और संस्थान बनाने लगे।

### आर्थिक आधार पर वर्ग-संघर्ष

प्राचीन भारत में स्वतन्त्र उजरती मजदूरों का व्यापक उपयोग किया जाता था। ये मजदूर कर्मकर उत्पादन के हर क्षेत्र में मौजूद थे—कृषि, शिल्प, कर्मशाला और व्यापार में भी। जोताई, बोवाई या फसल कटने पर कर्मकरों की सख्या बहुत बढ़ जाती थी। कर्मकरों की स्थिति अत्यन्त दुःसह थी। कर्मकरों को उपज का दसवाँ भाग दिया जाता था। इन्हें जो खाना दिया जाता था वह दासों को दिए जाने वाले खाने से बहुत भिन्न नहीं होता था। वर्ण व्यवस्था में कर्मकरों की स्थिति सामान्यतः शूद्रों जैसी थी। अर्थशास्त्र दासों और कर्मकरों के स्तर को एक ही समूह के भीतर रखता है। दास-प्रथा और कर्मकर विषय पर सोवियत भारतविद् ग० फ० इरूयीन का अनुसन्धान कार्य बहुत मूल्यवान है।<sup>१०</sup>

राजशेखर उद्घोष करता है कि यह शरीर भाड़े का कर्मकर (श्रमिक) है। इसलिए शरीर से अधिक प्रेम नहीं करना चाहिए बल्कि कर्म के लिए छोड़ देना चाहिए। कल दिन वेतन की उचित मात्रा मिल जाने पर भी कर्मकर अधिक की कामना करता है।<sup>११</sup> यद्यपि कर्मकरों और भूमिपतियों में यही वर्ग-संघर्ष प्रारम्भ होता, तथापि राजशेखर ने इस वर्ग-संघर्ष को आर्थिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया है। “गुप्तकाल का अन्त होते-होते दास और कर्मकर की स्थिति में रहने वाले अधिकांशतः शूद्र कृषक बन गये। चूँकि शूद्र श्रमिक वर्ग के थे अतः इनकी माली हालत और उच्च वर्ग के साथ आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध संघर्ष मय थे।<sup>१२</sup> राजशेखर कहता है कि वस्तुपाल के चैत्य और प्रासाद का निर्माण शिल्पी शोभन के अधीनस्थ कर्मकरों (किराये के मजदूरों) ने किया था जो द्रव्य-लोलुप होते थे।<sup>१३</sup> अतः इन कारणों से कर्मकरों और भूमिपतियों या उच्च वर्ग के बीच संघर्ष के संकेत मिलते हैं।



CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri



श्वेताम्बरों के बीच एक बार शास्त्रार्थ कराया जाय। उस संघर्ष में श्वेताम्बर संघ की विजय हुई। जब बौद्धों के अपमान को बौद्धाचार्यों ने सुना तब भृगुकक्ष में बौद्ध आचार्यों और महात्ताकिक बृद्धकर राजा से बोले—श्वेताम्बरों के साथ मेरा वाद कराइये। वह बृद्धकर वाद में अजित होने पर भी भुवन के द्वारा जीत लिया गया।<sup>20</sup> अपमान संतप्त बृद्धकर जब मृत हुआ तो यह यक्ष रूप में उत्पन्न हुआ और प्राचीन वैर से जैनों को परेशान करने लगा। अन्ततः आर्यखपटाचार्य ने उस यक्ष पर विजय प्राप्त की और यक्ष ने सहोदर की भाँति संघ की रक्षा करने का वचन दिया।<sup>21</sup>

श्वेताम्बरों और बौद्धों के बीच वर्ग-संघर्ष का दूसरा संकेत प्रबन्धकोशान्तर्गत मल्लवादि प्रबन्ध में मिलता है। सुराष्ट्र प्रदेश के राजा शीलादित्य ने भृगुकक्ष के राजा से अपनी बहन का विवाह किया जिससे तेजवान एवं लक्षणयुक्त पुत्र उत्पन्न हुआ। उस शीलादित्य के दरबार में तर्क से उन्मत्त बौद्धजन आये। वाद-विवाद में दैवयोग से बौद्धजनों ने श्वेताम्बरों को जीत लिया। शर्त के अनुसार श्वेताम्बरों को अपना राज्य छोड़कर परदेश का आश्रय लेना पड़ा।<sup>22</sup>

इधर शीलादित्य का भांजा व्रताचारी बालक शनैः शनैः बुद्धिमान होने लगा और श्वेताम्बरों की पराजय का हाल अपनी माता से सुनकर बौद्धों के प्रति वह कुपित हो गया और गम्भीर गर्जना करते हुए श्वेताम्बरों के उन्मूलन की प्रतिज्ञा की। मल्ल नामक पर्वत पर जाकर उसने कठिनतर तपस्या की और शासन देवी ने प्रसन्न होकर तथचक्र की तर्क पुस्तक प्रदान की। बालक मल्लवादि राजाशीलादित्य के पास पहुँचा। उसने पुनः बौद्धाचार्यों से तर्क के लिए सभा का आयोजन कराया। बौद्ध राजा शीलादित्य और बौद्धाचार्य छः माह के बाद उस मल्लवादि से पराजित हुए और शर्त के अनुसार प्रतिष्ठाभ्युत बौद्ध लोगों को धिक्कारते हुए निकाल दिया।<sup>23</sup>

राजशेखर ने हरि भद्रसूरि प्रबन्ध में इन्हीं दो वर्गों के बीच 21 बार संघर्ष का वर्णन किया है। हरिभद्रसूरि द्वारा मना करने पर भी तर्क के इच्छुक और जिज्ञासु श्वेताम्बर लोग बौद्धों के समीप गये। गुरु ने कहा था—यदि तुम्हारा मन बदल जाये तो मेरे द्वारा प्रदत्त वेशभूषा को यहाँ आकर मुझे दे देना।<sup>24</sup> उसका मन दृढ़ कुतर्कों द्वारा परिवर्तित हो गया। हरिभद्र को पुरानी वेश-भूषा वाग्स करने आये। किन्तु हरिभद्र उनके द्वारा अन्य गच्छ सम्प्रदाय को अपनाने का निषेध करते हुए वाद विवाद जीत गये। वाद हारने पर बौद्धाचार्यों के बौद्धवेष को लौटाने चले गये। उन्होंने पुनः प्रतिबोधित किया। पुनः हरिभद्र के समीप आये। फिर वाद-विवाद में वे जीत गये। इस प्रकार 21 बार वेश आदान-प्रदान करना पड़ा।<sup>25</sup> बाइसवीं बार गुरु हरिभद्र ने विचार किया कि इस (वेश आदान-प्रदान) से व्यर्थ ही वराक की आयु क्षीण हो रही है। अतः दीर्घ-कालीन कष्टकारी भ्रमण समाप्त करने के लिए “ललित विस्तर” नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया जिसको पढ़ने से उसका सम्यक् बोध हुआ।

राजशेखर ने प्रबन्धकोशान्तर्गत वप्पभट्टिसूरि प्रबन्ध में श्वेताम्बरों और बौद्धों के बीच तीसरे संघर्ष का वर्णन किया है। एक बार गौड़ देश के धर्म राजा ने आम राजा



के समीप दूत भेजकर कहलवाया कि उनके राज्य में वर्द्धनकुञ्जर नामक महाबादि बौद्ध धार्मिक विदेश से आये हैं।<sup>26</sup> वह वादों को निगल जाने वाला है।<sup>27</sup> यदि राज्य में कोई बादि हो तो उसे प्रभु के पास ले आये।

वाद-विवाद की शर्त यह थी कि जीतने वाला विरोधी राज्य को ग्रहण कर लेगा। शर्त पर वाक्-युद्ध होना चाहिए।<sup>28</sup> आम राजा सप्ताङ्ग राज्य तक समर्पित करने के लिए तैयार हो गया। आम राजा अपने वादि बप्पभट्टि को तथा धर्म राजा अपने वादियों में सर्वश्रेष्ठ वर्द्धन कुञ्जर को लेकर वहाँ पहुँच गये। दोनों में से न कोई हारता या बोर न जीतता था।<sup>29</sup> सूरि ने चतुर्दश कार्यों से (देवी की) दिव्य-स्तुति की। देवी उपस्थित हुई। सूरि ने कहा-हम लोग छः महीने से वाद-विवाद में संलग्न है।<sup>30</sup> तब देवी ने उन्हें जय का उपाय बतलाया कि विरोधी को मेरे द्वारा दी गयी गुटिका से विहीन कर दो। वर्द्धनकुञ्जर (बौद्ध) की गुटिका (ताबीज) सूरिन्द्र (जैन) ने हस्तगत कर ली। बौद्ध निरुत्तर हो गए। इस पर बप्पभट्टि ने 'वादिकुञ्जरकेसरी' का विद्वधारण किया।<sup>31</sup> शर्त के अनुसार धर्म राजा ने सप्ताङ्ग राज्य आम राजा को प्रदान किया।

### सामरिक आधार पर वर्ग-संघर्ष

राजशेखर ने वर्ग-संघर्ष का उल्लेख करते हुए आध्यात्मिक व अहिंसात्मक दृष्टि-कोणों के अलावा कुछ सामरिक दृष्टिकोण का भी परिचय दिया है। उसने युद्ध, हत्या, सामूहिक हत्याकाण्ड आदि को भी आधार मानकर वर्ग-संघर्ष की विवेचना करने का प्रयास किया है। आगे चलकर कार्ल मार्क्स ने इतिहास के भौतिक पक्ष पर बल दिया। वस्तुतः भौतिकवाद को सर्वोन्नत रूप देने का श्रेय कार्ल मार्क्स को है। उसके द्वन्द्ववाद में वाद, प्रतिवाद और समवाद की प्रक्रिया भौतिक जगत् की गति को व्यक्त करती है।<sup>32</sup> वर्ग-संघर्ष, राजनीतिक क्रान्तियाँ और युद्ध सामाजिक परिवर्तन लाते हैं।

### सामूहिक हत्याकाण्ड

राजशेखर ने प्रबन्धकोशान्तर्गत हेमसूरि प्रबन्ध में एक सामूहिक हत्याकाण्ड का वर्णन किया है।<sup>33</sup> पर्वत श्रेणियों में स्थित मेदपाट परिसर में जयताक नामक परमार वंशीय पत्नीश<sup>34</sup> राज्य करता था। एक बार उसने धन और स्वर्ण से लदे बैलों के समूह को पकड़ लिया और सब छीन लिया। बैलों के समूह का स्वामी माछव-देश जाकर राजा से मिला और सेना लेकर उसके गाँव को घेर लिया। सामूहिक हत्याकाण्ड किया। उस वाणिज्यारक<sup>35</sup> ने नगर को जलाया, जयताक को नष्ट किया, उसकी सभ्या पत्नी चटिता को मार डाला। मदन कीर्ति प्रबन्ध में भी भीषण हत्याओं का सिलसिला जारी रहता है।<sup>36</sup>

राजशेखर प्रबन्धकोशान्तर्गत वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध में सूचित करता है कि जावालिपुर के चाहमान वंशीय मारवाड़ के सामन्तपाल, अनन्तपाल और त्रिलोकसिंह नामक तीन वीरों को स्वामी वीरधवल ने ग्रहण नहीं किया फलतः वे शत्रु-सेना में जाकर



मिल गये।<sup>37</sup> उन तीनों ने श्री भीमसिंह द्वारपाल से वीरधवल के कृपण-व्यवहार को शिकायत भी की। पञ्चप्रास में दोनों पक्षों में युद्ध हुआ। संग्राम के बाद मंत्री वस्तुपाल-तेजपाल ने स्वामी को समझाया पर विफल।

उन तीनों वीरों ने पुनः युद्ध प्रारम्भ करने की सूचना वीरधवल को पहुँचा दी। कहलवाया—“प्रातःकाल हम लोग कुमारी-आरेणी<sup>38</sup> के लिए सबसे पहले आपको ही खोजेंगे।”<sup>39</sup> रथभेरी बजी। शस्त्रों की आंधी उठी। इसी बीच मारवाड़ के तीन योद्धा आ पहुँचे। किन्तु वे श्री वीरधवल के तटस्थ (आकस्मिक) प्रहारों द्वारा गिरा दिए गए। राणक श्री वीरधवल ऊपरवट अश्व द्वारा गिरा दिए गए। भीमसिंह सन्तुष्ट हुए। प्रातः वीरधवल घाव से जर्जर होने पर भी चतुर द्यूतधारों के खेल से प्रवृत्त हुए। धीरे-धीरे परमप्राण प्राप्त करते हुए भीमसिंह के अपराधों का मूलोच्छेद करके पृथ्वी को एक वीर वाली कर दिया। इस प्रकार धवलक में राज्य किया।<sup>40</sup>

इसके बाद श्री वस्तुपाल स्तम्भतीर्थ गए। वहाँ पर सदीक नामक धनाढ्य नौवित्तिक विवास करता था। किसी कारणवश मंत्री वस्तुपाल उससे रुष्ट हो गए। नौवित्तिक ने विशाल सेनाओं के स्वामी “साहणसमुद्र”<sup>41</sup> नाम से विख्यात शंख को उठाया। शंख ने वस्तुपाल से कहा—ऐ मंत्री! मेरे एक नौवित्तिक को नहीं सह सकते। क्रुद्ध वस्तुपाल विशाल सेना के साथ धवलक पहुँचा। रणक्षेत्र में दोनों भिड़े।<sup>42</sup> शंख द्वारा निर्देशित मन्त्री-सेना एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर भाग गयी।

### हिन्दू-यवन संघर्ष

राजशेखर ने हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का भी उल्लेख किया है। वीरधवल के शासन-काल में मन्त्री वस्तुपाल को दिल्ली से आए गुप्तचरों से सूचना प्राप्त हुई कि मोजदीन सुल्तान (गोरी) की सेना पश्चिम की ओर चल कर गुज्जरघरा में प्रविष्ट हो गयी है।<sup>43</sup> एक लाख अस्वारोहियों के साथ मन्त्री चल पड़े। यवन-सेना को अर्बुद के बीच से जाने दिया और उस घाटी को घेर लिया। यवन मारे गए। लगभग लाखों के सिर काटे गए। वस्तुपाल की प्रशंसा हुई।<sup>44</sup>

इसी प्रकार किसी अन्य दिन सुल्तान मोजदीन की बुढ़ा माता जो हजयात्रा के लिए उत्सुक थी स्तम्भपुर आ गयी। जब वे आतिथ्य के लिए नौवित्तिक के घर में रुकी; मन्त्री ने विजी कोलिको<sup>45</sup> को भेजकर उसके कोटीम्ब<sup>46</sup> में रखी वस्तुओं को अपहृत कर लिया। वस्तुतः सुल्तान मोजदीन की माता का जहाज खम्भात बन्दरगाह में कोलिको द्वारा लूट लिया गया था। दक्षिण गुजरात के कोली पटेल सामुद्रिक क्रिया-कलापों के लिए बड़े प्रसिद्ध है।<sup>47</sup> कालान्तर में जब मंत्री वस्तुपाल को विदित हुआ कि वह बुढ़ा सुल्तान मोजदीन की माता है तब ससम्मान उनकी वस्तुएँ लौटा दी गयी। वस्तुपाल ने आवरपूर्वक उन्हें दिल्ली तक पहुँचाया। दिल्ली में वस्तुपाल और सुल्तान के बीच सौहार्दपूर्ण वातचीत भी हुई।<sup>48</sup> मन्त्री ने दिल्ली और गुज्जरघरा के बीच जीवन-पर्यन्त सन्धि का प्रस्ताव रखा।



सामंजस्य

मार्क्स के विचारों का विर्माण करने वाले अनेक स्रोत हैं। उसने अपनी ईंटों को बहुत स्थानों से एकत्र किया था।<sup>49</sup> उसके दर्शन का सारा ढांचा उसके द्वन्द्ववादी भौतिकवाद की विचारधारा पर आधारित है।<sup>50</sup> उसके अनुसार प्रत्येक युग में दो बाह्य शक्तियों में परस्पर विरोध रहा है। धर्म दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब मात्र है, यह अफीम के नशे के समान है। वह भूल जाता है कि मानव में उच्चतम आध्यात्मिक मूल्यों के विकास के लिए धर्म ही एकमात्र आधार है। अनेक आकस्मिक कारण भी इतिहास की व्याख्या करते हैं। द्रौपदी के एक छोटे से व्यंग ने महाभारत युद्ध की आधारशिला रख दी थी। कतिपय दृश्यों ने शाक्यमुनि का जीवध प्रवाह बदल दिया था।

अतः समाज का विकास वर्ग-संघर्ष से नहीं अपितु सामाजिक सामंजस्य की भावना से भी होता है। सहयोग; सहानुभूति, त्याग आदि की भावना भी बलवती होती है। और समाज को केवल दो वर्गों में विभाजित करना मार्क्स की मनमानी इच्छा है। राजशेखर द्वारा वर्णित समाज में वर्ग-संघर्ष के जो दर्शन होते हैं वे भौतिकवादी कम हैं और आध्यात्मिक अधिक। फिर भी ऐसे युग में जहाँ अधिकांश भारत गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हो, तुगलक-साम्राज्य के हृदय-प्रदेश दिल्ली में रहते हुए राजशेखर ने जिन-जिन वर्ग-संघर्षों का वर्णन किया है वे उसके सत्यानुराग और इतिहास-प्रियता के प्रतीक हैं।

### संदर्भ

1. राजशेखरसूरि : प्रबन्धकोश, ( संपा० ) जिनबिजयमुनि, सिजैग्र, पृ० 1
2. जीवदेवसूरि प्रबन्ध, आर्यखण्डाचार्य प्रबन्ध, मल्लवादि प्रबन्ध, हरिभद्रसूरि प्रबन्ध, वप्पभट्टिसूरि प्रबन्ध, हेमसूरि प्रबन्ध, मदनकीर्ति प्रबन्ध; रत्नश्रावक प्रबन्ध और भरतुपाल प्रबन्ध।
3. हर्षव, इरफान ( संपा० ) : मध्यकालीन भारत, अंक एक, मैकमिलन इण्डिया लि०, दिल्ली, 1981 पृ० 15
4. वालिस, डब्ल्यू० डी० : एन इन्ट्रोडक्शन टू एन्थ्रोपोलॉजी, न्यूयार्क, 1926
5. वही।
6. कम्प्यूनिस्ट मेनिफेस्टो। दे० लास्की : कमेण्टरी आन कम्प्यूनिस्ट मेनिफेस्टो।
7. दे० वेबर एम०एम० : कार्ल मार्क्ससँ इण्टरप्रेटेशन आफ हिस्टरी, पृ० 46-63।
8. प्रको पृ० 103 व 124। राजशेखर ने किराये के मजदूर के लिए 'कर्मकर' शब्द प्रयुक्त किया है और मजदूरनी के लिए 'कर्मकरी'। दे० वही, पृ० 6 भी।
9. बुद्धप्रकाश : इतिहास-दर्शन, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1968 पृ० 271
10. दे अन्तोनोवा, बोंगर्द-लेविन, कोतोवस्की: भारत का इतिहास, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981, पृ० 124-25
11. कायः कर्मकरा यं तन्नात्र कार्याऽतिशालना। श्रुतिमान्नोचितो ह्येष प्रपुष्टो विचिकीर्षति। प्रको, पृ० 103



12. शर्मा, राम शरण : शूद्रों का प्राचीन इतिहास, मैकमिलन इण्डिया लि०, दिल्ली, 1979, पृ 5 । 13 स तु कर्मकर एव । द्रव्यलोलुपः । प्रको, पृ० 124
14. सुवर्णकीर्तिमातृवचसा प्रबुद्धः श्वेताम्बरदीक्षामाददे । वही, पृ० 7 ।
15. एतदभजनसमकालमेव विप्राणां मस्तकास्त्रुटित्वा ताडफलवद्भूमी पेतुः । वही, पृ० 11
16. बुद्धप्रकाशः इतिहास-दर्शन, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० 261
17. अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद्वसुधाधिपः ।  
जघन्यामाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिपः । । महाभारत, शान्तिपर्व ।
18. अशोक का तेरहवां शिलालेख ( शाहवाजगढ़ी की प्रतिलिपि ) गौरीशंकर हीराचन्द बोझा, 'अशोक की धर्मलिपियाँ' भाग 1, तथा राजबली पाण्डेय, प्राचीन भारत वाराणसी, 1968 पृ० 175 19. "हरिजन", 11-8-1940, पृ० 245
20. वादे जित एव सोऽपि भुवनेव जितः । प्रको, पृ० 10
21. तव सङ्घं बान्धववद्रक्षिताऽस्मि । वही 22. देवयोगाज्जितं बौद्धैः सर्वे श्वेताम्बराः पुनः विदेशमाशिश्रियिरे पुनः कालवलाधिनः । प्रको, पृ० 22
23. बौद्धान्प्रावासयद्धेशादिक प्रतिष्ठाच्युतं नरम् । वही, पृ० 23
24. तत्र गतः परावर्त्य से चेत् तदा अस्मच्छत्रं वेषमन्नागत्याग्मभ्यं ददीथाः । प्रको, पृ० 25
25. वेषद्वयप्रदानेन एहिरेयाहिराः 21 कृताः । वही, पृ० 26 ।
26. अस्मद्राज्ये वर्द्धनकुञ्जरो नाम महावादी बौद्धदार्शनिकों विदेशावागतोऽस्ति वही, पृ० 35
27. स वादं त्रिघृशुः । वही 28 अयं पणः । वाग्युद्धमेवास्तु । प्रको, पृ० 35 ।
29. द्वयोः कोऽपि न हारयति न जयति च । वही 30. षणमासा वादे लग्नाः वही, पृ० 36 ।
31. तदा श्रीबप्पभट्टेर्निर्वादां वादिकुञ्जरकेसरीति विरुद्धं स्वैः परैश्च दत्तम् । वही
32. कलं मावसं : ए काण्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक आफ् पोलिटिकल इकौनामी, पृ० 11-13 ।
33. प्रको, पृ० 53 ।
34. पल्ली का स्वामी । पल्ली शासन की इकाई को कहते थे जैसे- व्याघ्रपल्ली ।
35. धात्री-व्यापारी जो कारवां में माल लेकर चलते थे । 36. प्रको, पृ० 79 व आगे ।
37. त्रयो मारवाः सुभटास्त्वया न सङ्गृहीतास्ते परवले मिलिताः । प्रको पृ० 105 ।
38. मुहावरेदार प्रयोग । कुमारी-आरेणी का अर्थ हुआ युद्ध आरम्भ होते ही ।
39. प्रातः कुमार्यामारेण्या त्वामेव प्रथमतममेष्याम् : वही, पृ० 106 ।
40. ( एवं ) घवलकके राज्यं कुर्वतस्तस्था । वही
41. लाट ( गुजरात ) के राजा शंख का विरुद्ध जिसका शाब्दिक अर्थ हुआ सेनाओं का समुद्र । शंख के पास विशाल सेना थी । 43. रणक्षेत्रेऽड्डिडती द्वौ । प्रको, पृ० 108
43. दिल्लीतः श्रीभोजदीनसुरत्राणस्य सैन्यं पश्चिमां दिशमुद्दिश्य चालितम् । ... .. मन्थे अर्बुददिशा गूर्जरेधरां प्रवेष्टा । प्रको, पृ० 117 ।
44. हन्यन्ते यवनाः । .. तान् हत्वा तच्छीपलक्षैः ... .. इलाधितश्च तेवायम् । वही
45. युद्दालु जनजाति । 46. जलयात्र । 47. साण्डेमराः लेक्सिकोग्राफिकल स्टडीज, पृ० 55 ।
48. आलापितश्च राजा ... गूर्जरेधरया सह देवस्य यावज्जीवं सन्धिः स्तात् । प्रको, पृ० 120
49. अलेक्जेंडर ग्रे : द सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० 299 ।
50. केरिय हण्ट : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ कम्यूनिज्म, पृ० 28 ।



## लोहिया और दीनदयाल की दृष्टि में मार्क्सवाद

बैरिस्टर सिंह

जिस प्रकार आदमी शून्य में जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार शून्य में चिन्तन भी करना असंभव है। शून्यता से नये विचारों का प्रतिपादन संभव नहीं है। आइन्सटीन ने भी कहा था कि प्रत्येक वस्तु या घटना किसी न किसी के सापेक्ष निश्चित तौर पर होती है। उसी प्रकार प्रत्येक विचारक या चिन्तक पिछले चिन्तकों एवं विचारकों से कुछ न कुछ जरूर ग्रहण करता है। इसका अर्थ नहीं कि इसे विचारों का उधार लेना कहा जाये। किसी विचारक के विचार एवं उपलब्ध ज्ञान को ग्रहण कर उसके आधार पर अपनी नयी अनुभूति जन्य कल्पना, व्याख्या एवं अभिव्यक्ति के माध्यम से नये निष्कर्ष नये आविष्कार तथा नयी दृष्टि तथा दिशा की स्थापना प्रत्येक विचारक ने अभी तक की है। स्वयं मार्क्स ने भी रेडवर्ल्ड्स; मारेट, वालंकी, वावेफ, कालें-शैपर, सेन्ट साइमन, सिसमोडे आदि लोगों के विचारों को आत्मसात कर अपनी अभिव्यक्ति, कल्पना शक्ति और चिन्तन के माध्यम से शोषित पीड़ित मानवता को सुखी बनाने के लिए नये विचारों का सृजन किया।

मार्क्स की तरह ही भारत में भी २०वीं शताब्दी में कई विचारक पैदा हुए। उनमें लोहिया और दीनदयाल ने मार्क्स से काफी प्रभावित होकर अलग-अलग दो नये विचारों का आविष्कार किया। दोनों विभूतियाँ मार्क्स से तो प्रभावित थीं लेकिन उनके मार्क्सवाद से नहीं। डा० लोहिया समाजवादी धारा के उग्र प्रवक्ता थे। वे संघर्षों से निकले सन्त थे। लोहिया को भी मार्क्स की तरह इतिहास की अन्तर्धारा सभ्यताओं की उथल पुथल को समझने में गहरी दिलचस्पी थी। लेकिन मानव इतिहास को किसी खास नियम या विचार मंच में जकड़कर देहने की उनकी इच्छा नहीं थी। इसी कारण डा० लोहिया अनेक नये विचारों के प्रतिपादक एवं व्याख्याता बनें। वे स्वतंत्रता एवं समता पर आधारित ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जो समाज मानवीय एवं सामाजिक जीवन के कुछ मूल्यों पर आधारित हो। डा० लोहिया की तरह दीनदयाल उपाध्याय ने भी डार्विन का मातृस्यवाद, फ्रांसीसी क्रान्ति की स्वतंत्रता, समता, बन्धुत्व, मार्क्स के सिद्धान्त तथा अन्य विचारधाराओं को ग्रहण कर अपनी शोध-शक्ति और अभिव्यक्ति तथा चिन्तन के माध्यम से "एकात्म मानववाद" का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनके चिन्तन का केन्द्र बिन्दु मानव ही रहा है। जीवन के प्रत्येक अनुष्ठान का केन्द्र बिन्दु साधारण मनुष्य है। इसलिए साधारण मनुष्य का जीवन स्तर विकसित हो, मानव सुख समृद्धि की ओर बढ़ता रहे, यही दीनदयाल जी की कामना थी। यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व रूपी विभिन्न पहलू संघटित नहीं हैं या व्यक्ति संघटित नहीं हैं वहाँ समाज संघटित कैसे हो सकता है? इसी संघटित आधार पर ही अपने यहाँ व्यक्ति से परिवार, समाज, राष्ट्र, मानवता और



चराचर सृष्टि का-विचार किया गया है। उनके अनुसार मार्क्स के विचारों में मानव का जो विचार हुआ है वह एकात्म नहीं है। वे सब मानव के समग्र विकास के लिए अपूर्ण हैं। इसी लिये पण्डित जी ने भारतीय संस्कृति के आदर्शों का पूरा चिन्तन करके एकात्म मानववाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। दुनिया भर के मजदूरों, किसानों, बुद्धिजीवियों और मानव मात्र को एकता, शान्ति और सेवा का संदेश दीनदयाल उपाध्याय ने अपने विचारों के माध्यम से दिया। डा० लोहिया और दीनदयाल उपाध्याय को अपने विचारों को और विशद तथा व्यापक स्वरूप देने का समय जब आया तो दोनों सपूत स्वर्ग पहुँच गये। एक की दिल के दौरे से मृत्यु हुई तो दूसरे की ठीक एक साल के अन्तराल पर मुगलसराय में हत्या कर दी गयी। दोनों सपूत दिवंगत होने से पहले देश को ऐसे विचार देकर गये जिनमें काफी सामंजस्य है। दोनों मार्क्स की महानता से प्रेरित तथा प्रभावित होते हुये भी उनके मार्क्सवादी से सहमत नहीं थे। दोनों चिन्तकों के दृष्टिकोण मार्क्स के विचारों के बारे में काफी भिन्न हैं। भिन्नता होने के बावजूद भी लोहिया और दीनदयाल के दृष्टिकोण कई विषयों पर मार्क्स के बारे में एक हैं।

मानवता के शोषण के खिलाफ बहादुराना और वैज्ञानिक संघर्ष को अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दास कैपिटल' के प्रथम भाग में मार्क्स ने चित्रित किया है। उन्होंने शोषण के मूल पर ही प्रहार किया। परिवार और व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा राज्य को शोषण का दुर्ग मानते हुए उसे ही ध्वस्त करने की व्यवस्था पर मार्क्स ने विचार किया। दीनदयाल उपाध्याय का कहना था कि व्यक्ति में समाज हित की भावना बनी रहे, इसीलिये हमारे यहाँ सम्मिलित परिवार की एक व्यावहारिक इकाई रखी गयी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति कमाने का अधिकारी है तथा सम्पत्ति का उपयोग परिवार के हित में होता है, मनमाने ढंग से नहीं। दीनदयाल जी को भी सम्पत्ति संरक्षण का सिद्धान्त मान्य था लेकिन डा० लोहिया को पूरी तरह मान्य नहीं था। फिर भी डा० लोहिया दीनदयाल के समान परिवार की वितरण प्रणाली को आदर्श समाज के लिए आवश्यक मानते थे। डा० लोहिया निजी सम्पत्ति को शासकीय तौर से परिसीमित करना चाहते थे। वे निजी सम्पत्ति की मर्यादा को मानते हुए उस सम्पत्ति को बिकेन्द्रीकरण के द्वारा पूँजी उपयोग के बाद उसके बचत को भी आवश्यक मानते थे। वे पूँजी की खपत और बचत के द्वारा पूँजी निर्माण को आवश्यक समझते थे तथा उससे भावी उत्पादन को बढ़ावा देने पर बल देते थे। उनका कहना था कि उपयोग में समय के बिना पूँजी नहीं बन सकती। लोहिया जी उपयोग पर नियंत्रण शासकीय कानून द्वारा चाहते थे लेकिन दीन दयाल जी उपभोग पर नियंत्रण संयम और त्याग की भावना द्वारा चाहते थे। इसके ठीक विपरीत मार्क्स ने व्यक्तिगत सम्पत्ति पर तो जरूर चोट की लेकिन उसे राज्य के हाथों में देकर राज्य को और भी अधिक शक्तिशाली बना दिया। इससे राज्य की तानाशाही को बढ़ावा मिला। इस प्रकार मार्क्स ने राज्य को शोषण का दुर्ग मानते हुए भी उसे अधिक शक्तिशाली बना दिया। लोहिया और दीनदयाल जी ने राज्य को समाज का केन्द्र बिन्दु नहीं माना। दोनों ने समाज संचालन के लिये अनेक शक्ति केन्द्रों पर बल दिया। उन लोगों ने बताया कि समाज व्यक्ति, कुटुम्ब, कुल, जाति, राज्य आदि अनेक रूपों में अपने आपकी



अभिव्यक्त करता है तथा अनेक माध्यम से अपने उद्देश्य पूरा करता है। डा० लोहिया व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था के प्रबल विरोधी होते हुये भी समाजवादी समाज बनाने के लिये व्यक्तिगत सम्पत्ति के दायरे को लगातार सीमित करने के पक्षधर थे। इस तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति के सवाल पर मार्क्स के ठीक विपरीत लोहिया और दीनदयाल के दृष्टिकोण में कुछ सीमा तक सामंजस्य रहा।

मार्क्स ने राज्य के विलय का सिद्धान्त दिया लेकिन सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण कर राज्य को एक तानाशाह का ताना-बाना पहना दिया। वहीं डा० लोहिया गांव और जिला स्तर पर निर्वाचित सरकारों पर सुनिश्चित अधिकार देने की बात करते हैं। उनके अनुसार राज्य के पास राज्य की पूरी सम्पत्ति केन्द्रित न करके नीचे की निर्वाचित संस्थाओं, गांवों, ग्राम पंचायतों जिला समितियों आदि को भी राज्य की सम्पत्ति का सह-भागी बनाकर उसके वाजिब खर्च का वाजिब अधिकार होना चाहिए। इसको लोहिया ने "चौखम्भा राज्य शासन व्यवस्था" का नाम दिया। दीनदयाल उपाध्याय ने बताया कि सम्पत्ति का विकेंद्रीकरण कर स्वदेशीय आधार पर भारतीय संस्कृति के अनुसार ऐसी आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न समाज व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें व्यक्ति का मानवीकरण हो और उसका समन्वित विकास हो। इस तरह मार्क्स सम्पत्ति को राज्य के अधीन केन्द्रीयकरण के समर्थक हैं तो डा० लोहिया और दीनदयाल दोनों चिन्तकों ने सम्पत्ति को राज्य के अधीन न करके उसके विकेंद्रीकरण करने की बात कही।

मार्क्स के वर्ग संघर्ष सिद्धान्त में लोहिया और दीनदयाल दोनों का विश्वास नहीं था। दीनदयाल जी जगत को संघर्षात्मक नहीं, सृजनात्मक और सहयोगात्मक मानते थे। वे कहते थे कि बीज वृक्ष के रूप में कष्ट के लिए नहीं अपितु दूसरों की भूख मिटाकर उसे सुख और शान्ति हेतु है। उसी तरह मानव को वर्ग बनाकर संघर्ष की बात न सोचकर उसे सहनशील, सहयोगी, सृजनशील और स्वविवेकी होना चाहिए। डा० लोहिया ने वर्ग संघर्ष न कह कर सिविल नाफरमानी की बात कही। अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करने की बात लोहिया जी ने बतायी। वे जन संगठनों और जन आन्दोलनों पर जोर देते थे तथा राज्य के आदेश को न मानने में भी लोकतांत्रिक तरीका अपनाने की बात करते थे। विद्रोह लोहिया के व्यक्तित्व का गुण था। इस तरह इन दोनों महापुरुषों का मार्क्स के वर्ग संघर्ष सिद्धान्त से दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा।

डा० लोहिया ने गांधीवाद और मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को मिलाकर भारतीय समाजवाद का निर्माण करना चाहा। उनके अनुसार विकेंद्रीकरण, स्वदेशी, स्वावलम्बन और सत्पात्र यह भारतीय समाजवाद के आधार पर बन सकते हैं। उपाध्याय जी के अनुसार भारतीय संस्कृति में कर्म यानि श्रम को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। वेदों से लेकर उपनिषदों तथा गीता तक में इसकी महत्ता सर्वोपरि है। श्रम करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। प्रत्येक को श्रम करने का अवसर देना शासन का भी कर्तव्य है। प्रत्येक को काम का सिद्धान्त यदि स्वीकार कर लिया जाय तो श्रम वितरण



की दिशा निश्चित हो सकती है और हम विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ सकते हैं। औद्योगिकरण को उद्देश्य मानकर चलना गलत है। यह उद्देश्य अपने आप में स्पष्ट नहीं है। आर्थिक क्षेत्र की तीन वस्तुएँ हैं मनुष्य, श्रम और मशीन। इन तीनों का समन्वय ही अर्थ व्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिए। जिस अर्थ व्यवस्था में यह समन्वय नहीं है, उसमें विषमताएँ तथा शोषक और शोषित वर्ग उत्पन्न होते हैं। मार्क्स के सिद्धान्त में इन तीनों में समन्वय नहीं है। इस लिए चीन और रूस के श्रमिक परस्पर शत्रु हैं, रूस और चेकोस्लोवाकिया के श्रमिक भी एक दूसरे को सहन नहीं कर सकते। इस तरह मार्क्सवाद के द्वारा मानव मात्र की एकता और शान्ति का आवाहन असम्भव सा हो गया है।

मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार उनके समाजवाद में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता अनुसार काम मिलेगा और प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार काम लिया जायेगा। यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र नहीं है। अर्थशास्त्र में पूरी आर्थिक रूपरेखा होनी चाहिए। समाज में उत्पादन कैसा होगा, वितरण कैसे होगा, उत्पादन के माध्यम क्या होंगे, उनके वितरण कैसे होंगे, विनिमय प्रणाली कौन सी होगी, उत्पादन और वितरण के बीच कैसा सम्बन्ध होगा आदि बातें अर्थशास्त्र से सम्बन्धित हैं। मार्क्स ने इन सभी बातों को अपने आर्थिक सिद्धान्त के अन्तर्गत ब्लू प्रिन्ट के रूप में नहीं दिया। स्वयं उनके शिष्य लेनिन ने भी कहा था कि मार्क्स ने समाजवाद की अर्थरचना नहीं दी।

मार्क्स माववता को शोषण से मुक्त करने के लिये इतने बेचैन थे कि परिवार जैसी पवित्र संस्था भी उनका कोप भाजन बन गयी। परिवार की व्यवस्था को वे बुर्जुआ व्यवस्था मानते थे। उनके अनुसार परिवार नाम की कोई चीज नहीं रहनी चाहिए। कोई किसी का पति नहीं, कोई किसी की पत्नी नहीं, बच्चा नहीं, पिता नहीं, माता नहीं, सम्पूर्ण समाज एक है, सब लोग समूह में रहेगे। इसका मतलब, जिस तरह जानवर बाड़ा में रहते हैं और सब एक दूसरे के साथ सहायगम करते हैं और उनसे सन्तानोत्पत्ति होती है वैसे ही संतानोत्पत्ति किसी के मातृत्व या पितृत्व की बोधक नहीं होगी। जानवर के समान ही मार्क्स मानव को भी रखना चाहते थे। मार्क्स के अनुसार जैसे ही बच्चा पैदा होगा राज्य का हो जायेगा। पैदा होने तक माता-पिता से सम्बन्ध रहेगा, उसके बाद उसका सीधा सम्बन्ध राज्य से होगा। यह प्रयोग भी रूस में सफल साबित नहीं हुआ। बच्चों की सेवा और उनका विकास इस व्यवस्था में नहीं हो पाता था। बाद में वहाँ भी (रूस में) स्त्री-पुरुष साथ रहने लगे और उन्हें भी वैधानिक मान्यता मिल गई। इस तरह मार्क्स के विचार परिवार रूपी संस्था के बारे में रूस में ही असफल साबित हुए। आज रूस में सारे मकान राज्य के अधिकार में होते हुए भी जिन्हें एलाट किया गया है उन्हें सीमित निजी अधिकार दिए गये हैं। मृत्यु तक मकान जिसे दिया गया है उसी के पास रहेगा। यदि मृत्यु के बाद कोई वारिस है तो उसे दे दिया जायेगा। मृत्यु के बाद यदि कोई वारिस नहीं है तो उसे सरकार ले लेगी। इस तरह रूस में भी अब वैयक्तिक अधिकार भी कुछ सीमा तक दिये जाने लगे हैं। वहाँ भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और



व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिये रज्जान लोगों में शुरू हो गयी है। चीन की नकल के लिये वहाँ भी लोग आतुर हैं। भविष्य में वहाँ भी काफी फेर बदल की उम्मीद है।

मार्क्स अंध भौतिकवादी थे। लेकिन बाद में उनके समर्थक 1842 में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मुद्रण स्वातंत्र्य के बारे में मार्क्स द्वारा लिखे कुछ लेख और 1844 में लिखे *The Philosophical and Economic Manuscript of 1844* का हवाला देते हुए बताने का प्रयास करते हैं कि मार्क्स सब कुछ पदार्थ को ही नहीं मानते थे। उनके अनुसार मन और मस्तिष्क को भी वे मानते थे। अब कम्युनिस्ट पदार्थ की प्रमुखता को मानते हुए मन एवं मस्तिष्क के अस्तित्व को भी इनकार नहीं करते हैं। मार्क्स ने कहा था—“Mind has autonomous existence.”

इसका मतलब की पदार्थ ही सब कुछ है मन मस्तिष्क कुछ नहीं। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ ही सब कुछ हैं, धर्म, संस्कृति, नीति नाम की कोई वस्तु नहीं है। लेकिन दीनदयाल उपाध्याय ने बताया था कि जैसे—मन-मस्तिष्क पदार्थ की अधिरचना है उसी तरह मजहब, संस्कृति और नीति आदि आर्थिक सामाजिक स्थितियों की अधिरचना हैं। “Culture, ethics and religion are super Structure on socio-economic conditions” मार्क्स ने कहा था कि मजहब अफीम है लेकिन उनके ही समर्थक कम्युनिस्ट नेताओं ने मजहब के केन्द्र बिन्दु पोप के साथ समझौता किया। इस तरह धर्म के बारे में भी मार्क्स की सोच को खुद कुछ कम्युनिस्ट लोग ही विचारकर उसमें संशोधन और सुधार करने को सोच रहे हैं। भारतीय कम्युनिस्ट तो सार्वजनिक रूप से धर्म के बारे में उल्टी-सीधी बातें करते हैं। लेकिन वे अपने व्यक्तिगत जीवन में तो राष्ट्रवादियों या समाजवादियों से भी एक पग आगे बढ़कर धार्मिक अनुष्ठान और मनोवृत्ति के हो गये हैं।

इस प्रकार डा० लोहिया और दीनदयाल दोनों महापुरुषों ने मार्क्स की महानता को देखा और परखा तथा साथ ही दोनों ने देखा कि उनके झण्डे के तले ही उनके प्रयोग विफल हुये। इन्हीं दोनों लोगों के अनुसार चिन्तन गतिमान होता है। जब उसे जीवन्त रूप दिया जाता है तो वह विचार बन जाता है और जब जड़ रूप दिया जाता है तो वाद बन जाता है। यदि मार्क्स का चिन्तन वैज्ञानिक है तो वह विफल नहीं हो सकता, किन्तु उस अवस्था में मार्क्स के अनुयायियों को उसमें समय-समय पर परिवर्तन आने देना होगा और समय के प्रवाह में विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों की नवीनतम एवं प्राचीन उपलब्धियों को दृष्टि में रखते हुए उसकी काया-पलट भी करनी होगी। न्यूटन के अनेक स्थापित तथ्यों को आइन्स्टीन के सिद्धान्तों ने उलट कर रख दिया है और निरन्तर प्रगतिशील विज्ञान के क्षेत्र में आइन्स्टीन के कथन को भी ब्रह्म वाक्य नहीं माना जा सकता। लोहिया और दीनदयाल के अनुसार यदि मार्क्सवाद वाद है तो यह विफल हो चुका है क्योंकि कोई भी कम्युनिस्ट देश मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों को भी यथावत कार्यरूप नहीं दे सका। भारत के कम्युनिस्टों ने भी मार्क्स के चिन्तन को “वाद” मान लिया है इसीलिए उनकी ही दृष्टि में उनका “मार्क्सवाद” शत प्रतिशत विफल हो गया है।



1. मार्क्स, गांधी, सोशलिज्म (अंग्रेजी)—डा० लोहिया ।
2. एकात्म मानववाद—पं० दीनदयाल उपाध्याय ।
3. एकात्म मानववाद — दत्तोपन्त ठेंगड़ी ।
4. राष्ट्रचिन्तव — पं० दीनदयाल उपाध्याय ।
5. भारतीय अर्थशास्त्र : विकास की एक दिशा—पं० दीनदयाल उपाध्याय ।
6. सच, कर्म, प्रतिकार एवं चरित्र निर्माण—डा० लोहिया ।
7. समाजवाद की अर्थनीति—डा० लोहिया ।
8. रविवार—24-30, मार्च - 1985
9. समाजवादी आन्दोलन का इतिहास - डा० लोहिया ।
10. दिनमान — 30 सितम्बर --6 अक्टूबर, 1984 ।
11. पाञ्चजन्य --9 सितम्बर 1984 और 23 सितम्बर 1984 ।
12. इंडियन एक्सप्रेस-- 1 मई 1983 ।
13. सप्तक्रम - दत्तोपन्त ठेंगड़ी ।
14. गांधी, लोहिया और दीनदयाल—प्रो० मधु दण्डवते ।
15. चिरन्तर राष्ट्र जीवन--दत्तोपन्त ठेंगड़ी ।
16. अर्थशास्त्र: मार्क्स के आगे--लोहिया ।
17. कम्युनिज्म-अपनी ही कसौटी पर—दत्तोपन्त ठेंगड़ी ।



## माक्सवादी सौन्दर्यशास्त्र

### जनार्दन उपाध्याय

सामान्यतया यह बद्धमूल विश्वास है कि माक्सवादी साहित्य में सौन्दर्यशास्त्रीय तत्वों का अभाव है। क्योंकि यह साहित्य प्रथमतः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से सम्बन्धित है और द्वितीय अवस्था में यह प्रचारात्मक अधिक है। साहित्य कला में प्रचारात्मकता के कारण सौन्दर्यतत्वों का अभाव होना सहज है। परन्तु गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि माक्सवादी साहित्य में भी सौन्दर्यशास्त्रीय प्रश्नों एवं तत्वों पर विचार हुआ है।

माक्सवादी चिन्तकों ने सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नों पर विस्तृत रूप से विचार किया है। कलात्मक सौन्दर्य के सम्बन्ध में उन विचारकों के विचार मूल्यवान हैं क्योंकि वे अनुभव प्रसूत हैं। तुर्गेनेव, टाल्स्टाय, गोर्की से लेकर पास्टवास्की, इलिया एहरेन वगैरेह ने अपने अनुभव प्रसूत सौन्दर्यशास्त्रीय तत्वों पर मूल्यवान विचार व्यक्त किये हैं।

सौन्दर्यशास्त्र एक मूल्यशास्त्र है। यह एक मूल्य मीमांसा है। इसलिए अन्य शास्त्रों से भिन्न यह एक आदर्श शास्त्र है। मूल्य शास्त्र होने के कारण इसके सिद्धान्त प्रणालियों के समवाय रूप में प्रस्तुत होते हैं। अतः उसके सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय का भार विचारक पर ही होता है। सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त युगीन चेतना के अनुरूप परिवर्तित होते हैं और विशेष प्रवृत्ति की औचित्य स्थापना के लिए उसी के अनुरूप सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्त बन जाते हैं। प्रवृत्ति की औचित्य स्थापना के लिए जिन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा होती है उसके ह्रास पर वे सिद्धान्त भी निर्बल हो जाते हैं। आत्मोन्मुख साहित्य में सौन्दर्य का जो अर्थ है बहिरन्तर समग्रजीवनोन्मुख साहित्य में परिवर्तित हो जाता है। परिणामतः एक दूसरे के पक्षधर को सौन्दर्य की परस्पर विरोधी स्थापना नजर आती है। प्राचीन साहित्य शास्त्रीय चिन्तना के परिप्रेक्ष्य में माक्सवादी साहित्य का सौन्दर्य अपूर्ण एवं एकांगी दिखायी देता है। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। उसमें गहराई है और उसकी अपनी क्षमता है। इसलिए आवश्यक है कि अपनी प्रवृत्तियों अभिरूचियों से ऊपर उठकर माक्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय तत्वों का विमर्श किया जाय।

सौन्दर्य को परिभाषित करना सौन्दर्यशास्त्र का मूल प्रश्न है। प्राचीन काल में सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य का विज्ञान माना जाता था। पर वह आज सौन्दर्य का मात्र सिद्धान्त न होकर एक ऐसा विज्ञान बन गया है जो मनुष्य की यथार्थ जगत के प्रति सौन्दर्यात्मक बोध से विशिष्ट ज्ञान को प्रतीकित करता है। अतः आज की दृष्टि में बहु कला के विकास और उसकी कलात्मक सर्जनात्मकता का सिद्धान्त है।



माक्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की जड़ें द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद में निहित हैं। इसी के द्वारा उसका सैद्धान्तिक स्तर निर्धारित होता है। माक्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के सम्पूर्ण महत्वपूर्ण प्रश्न है वस्तु (कन्टेन्ट) और रूप (फार्म) की सह सम्बद्धता का। वह वस्तु (Content) और रूप (Form) की समन्विति पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Historical Materialism) के आधार पर विचार प्रस्तुत करता है। उसकी स्थापना है कि कलात्मक सर्जन में वस्तु (Content) का पूर्व निर्धारित उच्च स्थान है और रूप (Form) सक्रिय भूमिका अदा करता है।

माक्सवादी सौन्दर्यशास्त्र किसी भी अमूर्त सिद्धान्त को प्रस्तावित नहीं करता और न तो वह इस प्रकार के कलात्मक मानदण्डों की स्थापना करता है जिनका कलात्मक रचना से कोई सम्पर्क नहीं है। माक्सवादी सौन्दर्यशास्त्री कलात्मक रचना के मध्य से ही मानदण्डों का सर्जन करता है। वह केवल विषय वस्तु का स्पष्टीकरण ही नहीं करता, अपितु सोद्देश्य विषय को प्रभावित भी करता है। इसी से सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तना और कलात्मक समीक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है।

माक्सवादी सौन्दर्यशास्त्रीय चेतना में कला सामाजिक चेतना का प्रतिफलन (Manifestation of social Consciousness) है। यह एक ही साथ बौद्धिक (Intellectual) और संवेदनात्मक (Emotional) दोनों है। इसका अर्थ है कला के सामाजिक व्यक्तित्व तथा समाज में उसके अस्तित्व का संधान। यहाँ कला सामाजिक चेतना के रूप में विचारणीय है। वह एक साथ ही कलात्मक संप्रज्ञा है और साथ ही आदर्श प्रारूप भी है। समाज की तात्त्विक मीमांसा में इन दोनों सह सम्बद्ध प्रारूपों का विश्लेषण आवश्यक है। ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रयोग के कारण ही कला एक सामाजिक चेतना के रूप में प्रतिष्ठित है। माक्सवादी कला को सांस्कृतिक चेतना के रूप में पहचानता है। वह उसमें अभिव्यक्त फेनामना को सांस्कृतिक एवं कलात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करता है। कला उसके लिए बिम्बों के माध्यम से यथार्थ का रूपायन है। बिम्ब यथार्थ जगत और जीवन के अनुभवों का ऐन्द्रियबोधात्मक प्रत्यक्षीकरण है। इसमें कलात्मक संयोजन से मानस-बिम्बों (Mental-Image) को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष चाक्षुष बिम्बों में (Visual Image) प्रकट किया जाता है। वही जब सामाजिक विकास और चेतना से सम्पृक्त होता है तो कला का सोसियो-इकनामिक और सोसियो हिस्टारिक व्यवस्था प्रारम्भ हो जाती है। यह एक तरफ कला को वाह्य जगत की स्थूलता से जोड़ता है और दूसरी ओर उसका आदर्शात्मक प्रारूप भी प्रस्तुत करता है। माक्सवादी सौन्दर्यशास्त्री कला को इसी संप्रज्ञा [Cognition] और आदर्श [Ideology] से जोड़ता है।

सौन्दर्यशास्त्र और कला के क्षेत्र में माक्सवादी समीक्षा का बहुत क्रान्तिकारी प्रभाव है। इसका उल्लेख करते हुए अनाटोलीयोगोराव [Anatoli Yegorov] ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The problems of Aesthetics [1974] में बार-बार बिन्दुओं को संकेतित किया है :



## MARX AND HISTORY

### FRUITFUL AND UNFRUITFUL EMPHASES

IMMANUEL WALLERSTEIN

As a general rule, most analysts ( and particularly Marxist analysts ) tend to emphasize the mere dubious historiographical ideas of Marx, and in the process they tend to neglect what were his most original and fruitful ideas. It's perhaps what one should expect, but it is n't very helpful.

To each his Marx, they say, and this is no doubt true; In fact, I'd add to each his two Marxes, as the debates of the last 30 years concerning the young Marx, the epistemological break, etc., are there to remind us. My two Marxes are not chronologically successive. They grow out of what seems to me a fundamental internal contradiction in Marx's epistemology, which results in two different historiographies.

On the one hand, Marx is the supreme rebel against bourgeois liberal thought, with its anthropology centered on the concept of human nature, its Kantian categorical imperatives, its belief in the slow but inevitable improvement in the human condition, its preoccupation with the individual in search of liberty. Against this whole set of concepts, Marx suggested the existence of multiple social realities, each with its different structure, located in distinct worlds, each world being defined by its mode of production. The point was to uncover the way these modes of production functioned behind their ideological screens. It followed that a belief in "universal laws" precisely kept one from recognizing the particularities of each mode of production, of discovering the secrets of its functioning, and thus of examining clearly the paths of history.

On the other hand, Marx accepted universalism insofar as he accepted the idea of an inevitable historical march



towards progress, with its linear anthropology. His modes of production seemed to be lined up, like schoolboys—by height, that is, according to the degree of development of the forces of production. ( This is in fact the source of the acute embarrassment caused by the concept of the Asiatic mode of production, which seemed to play the role of a rambunctious schoolboy who refused to follow the rules and line up properly. )

This second Marx is obviously far more acceptable to liberals, and it is with this Marx they have been prepared to come to terms, both intellectually and politically. The other Marx is far more bothersome. The liberals fear and reject that Marx; indeed they deny him intellectual legitimacy. Devil or hero, the first Marx is the only one who seems to me interesting and who still has something to say to us today.

What is at stake in this distinction between the two Marxes is the different expectations of capitalist development which one derives from the opposing historical myths. We can construct our story of capitalism around one of two protagonists : the triumphant bourgeois, or the impoverished masses. Which of these two is the key figure of the five centuries of the history of the capitalist world-economy ? How shall we assess the epoch of historical capitalism ? As globally positive because it leads, dialectically, to its negation and its *Aufhebung* ? Or as globally negative because it brings about the immiserization of the large majority of the world's population ?

That this Choice of Optic is reflected in every detailed analysis seems to me quite evident. I will cite but one example, that of a passing remark by a contemporary author. I cite it precisely because it is a remark made in passing, thus innocently, one might say. In a learned and perceptive discussion of Saint-Just's views on economics during the



French Revolution, the author concludes that it would be appropriate to describe Saint-Just as "anti-capitalist", and that this description could be in fact extended to include industrial capitalism. Then he adds : "In this sense, one might say, that Saint-Just is less progressive than some of his predecessors or contemporaries<sup>1</sup>." But why "less" progressive rather than "more" progressive? That is the nub of the issue.

Marx was of course a man of the Enlightenment, Smithian, a Jacobin, a Saint-Simonian. He said so himself. He was deeply imbued with the doctrines of bourgeois liberalism, as were all good left intellectuals of the nineteenth century. That is, he shared with all his associates the sort of permanent, almost instinctive protest against anything that smelled of the *Ancien Regime*---privilege, monopoly, seigniorial rights, idleness, piety, superstition. In opposition to this world whose day was done, Marx was in favor of whatever was rational, serious, scientific, productive. Hard work was virtue.

Even to the extent that Marx had some reserves about this new ideology (and he didn't have too many), he found it tactically useful to assert an allegiance to those values, and then use them politically against the liberals, hanging them by their own petard. For it wasn't very difficult for him to show that the liberals cast off their own principles whenever order was threatened in their states. It was thus an easy ploy for Marx to hold the liberals to their word to push the logic of liberalism to its end point, and thus to make liberals swallow the medicine they were prescribing for everyone else. It could be argued that one of Marx's prime slogans was more liberty, more equality, more fraternity.

No doubt from time to time he was tempted to make a leap of imagination into an anti-Saint-Simonian future. But he quite evidently hesitated to go very far in this direction, fearing perhaps that he would add grist to the mill of uto-



pian and anarchist voluntarism which he had always found distasteful and indeed pernicious. It is precisely that Marx, Marx the bourgeois liberal, whose views we should approach with much skepticism.

It is instead the other Marx, the Marx who saw history as complex and sinuous, the Marx who stressed the analysis of the specificity of different historical systems, the Marx who was thus the critic of capitalism as an historical system, whom we ought to bring back to front stage. What did that Marx find when taking a close look at the historical process of capitalism? He found not only the class struggle, which was after all the phenomenon of "all hitherto existing society," but also class *polarization*. That was his most radical and most daring hypothesis, and thereupon the hypothesis that has been the most vigorously denounced.

In the beginning, Marxist parties and thinkers brandished this concept which, because it was so catastrophist, seemed to ensure the future. But, since at least 1954, anti-Marxist intellectuals found it relatively easy to demonstrate that, far from being immiserized, industrial workers in Western countries were living far better than their grandparents and that, consequently, there had been no immiserization, even relative, not to speak of absolute.

Furthermore, they were right. And no one knew this better than the industrial workers themselves, who were the prime social base of left parties in industrial countries. This being so, Marxist parties and thinkers began to beat a retreat on this theme. Perhaps it wasn't a rout, but at least they became hesitant to broach the subject. Bit by bit, the references to polarization and immiserization (just as to the withering away of the state) diminished radically or disappeared, refuted so it seemed by history itself.

Thus occurred a sort of unplanned and disorderly dropping of one of the most perspicacious insights



our Marx had had, for Marx was far more astute about the *longue duree* than we often give him credit for being. The fact is that polarization is an historically correct hypothesis, not a false one, and one can demonstrate this empirically, provided we use as the unit of calculation the only entity which really matters for capitalism, the capitalist world-economy. Within this entity there has been over four centuries not merely a relative but even an absolute polarization of classes. And if this is the case, wherein lies the progressiveness of capitalism?

Needless to say, we have to specify what we mean by polarization. The definition is by no means self-evident. First of all, we have to distinguish between social distribution of material wealth (broadly defined) on the one hand and the social bifurcation that is the result of the twin processes of proletarianization and bourgeoisification on the other.

As far as the distribution of wealth is concerned, there are various ways to calculate it. We have to decide initially upon the unit of calculation, not only the spatial unit (we have already indicated above our preference for the world-economy over the national state or the enterprise), but also the temporal unit. Are we talking of distribution over an hour, a week, a year, thirty years? Each calculation might give different, even incompatible, results. In point of fact, the majority of people are interested in two temporal calculations. One is that of the very short term, which might be called the survival calculation. The other might be called the lifetime calculation, used for measuring the quality of life, the social assessment of the everyday life one has actually lived.

The survival calculation is by nature variable and ephemeral. It is the lifetime calculation which offers us the best measure, objectively and subjectively, of whether or not there has been material polarization. We need to make



comparisons of these lifetime calculations that are intergenerational and long-term. Intergenerational comparisons, however, do not mean here comparisons within a single lineage, because that intrudes a factor that is irrelevant from the perspective of the world-system as a whole, which is the social mobility rate in particular zones of the world-economy. Rather we should compare parallel strata of the world-economy at successive historical moments, each stratum being measured over the lifetimes of the cohort. The question to ask is whether for a given stratum the lifetime experience at one historical moment is easier or harder than at another, and whether or not there has occurred over time an increased gap between the higher strata and the lower.

The calculation should involve not merely total lifetime revenue but also this revenue divided by total lifetime hours of work devoted to its acquisition (in whatever form) so as to get figures which could serve as the basis of comparative analysis. One must also consider the life span, but preferably one calculated from age 1 or even age 5 (in order to eliminate the effect of those improvements in sanitation which may have lowered the infant mortality rate without necessarily affecting the health of adults). Finally, one should work into the calculation (or index) the various ethnocides which, by depriving many persons of any descendants, played a role in improving the lot of certain others.

If one finally obtained some reasonable figures, calculated over the long run and across the whole world-economy I believe these figures would demonstrate clearly that over the last 400 years there has been a significant material polarization within the capitalist world-economy. To make myself quite clear, I am suggesting that the large (still rural) majority of the population of the world-economy works harder and longer today for less reward than 400 years ago.

I have no intention of idealizing the life of the masses of earlier epochs; I merely wish to assess the overall level of



their human possibilities compared with their present-day descendants. The fact that skilled workers in a western country are better off than *their* ancestors says little about the standards of living of an unskilled worker in Calcutta today, not to speak of a Peruvian or Indonesian agricultural casual worker.

It may be perhaps objected that I am being too "economistic" in using as the measure of a Marxist concept like proletarianization [the balance-sheet of material revenue. After all, it is argued by some, what matter are the relations of production. No doubt this is a fair comment. Let us look, therefore, at polarization as a social bifurcation, a transformation of multiple relations into the single antinomy of bourgeois and proletarian. Let us look, that is, not only at proletarianization (a standby of the Marxist literature) but also at bourgeoisification (its logical counterpart, which is however seldom discussed in this same literature).

In this case too we must specify what we mean by these terms. If by definition a bourgeois can only be the typical industrialist of Frengland at the beginning of the nineteenth century, and a proletarian can only be the person who works in this industrialist's factory, then it is quite certain that there has not been much of a class polarization in the history of the capitalist system. One might even make a case that polarization has been reduced. However, if one means by a true bourgeois and a true proletarian all those who live off *current* revenue, that is, without depending on income from inherited sources (capital, property, privileges, etc.), the distinction being one between those (the bourgeois) who live off the surplus-value which the others (the proletarians) create, without much dual role-playing by individuals, then one can argue indeed that, over the centuries, more and more persons have come to be located unambiguously in one or the other category and that this is the consequence of a structural process which is far from completed.



It will clarify the argument to look at these processes close up. What actually happens in "proletarianization"? Workers throughout the world live in small groups of income-pooling "households". These groups, which are neither necessarily nor totally kin-related nor necessarily coresidential, rarely do without some wage-income. But they equally rarely subsist exclusively on their wage-income. They add to wage-income from petty commodity production, rents, gifts and transfer payments, and (not least) subsistence production. Thus they pool multiple sources of income, in of course very different proportions in different places and times. We can think of proletarianization thus as the process of increasing dependence on wage-income as a percentage of the whole. It is totally ahistorical to think that a household goes suddenly from zero percent to 100% dependence on wages. More likely, given households shift, sometimes in brief periods, from say a 25% dependence to a 50% dependence. This is for example what happened more or less in that locus classicus, the English enclosures of the eighteenth century

Who gains by proletarianization? It is far from sure that it is the capitalists. As the percentage of a household's income coming from wages increases, the level of wages must simultaneously be *increased* and not decreased in order for it to approach the *minimum* level required for reproduction. Perhaps you will think such an argument absurd. If these workers had not received the biological minimum wage previously, how could they have survived? It is not in fact however absurd. For if the wage-income is but a small proportion of total household income, the employer of the wage-worker is able to pay a *subminimal* hourly wage, forcing the other "components" of total household income to "make up" the difference between the wage paid and the minimum needed for survival. Thus the work required to obtain supraminimal income from subsistence labor or petty commodity production in order to "average out"



at a minimum level for the whole household serves in effect as a "subsidy" for the employer of the wage-laborer, a transfer to this employer of additional surplus-value. This is what explains the scandalously low wage-scales of the peripheral zones of the world-economy.

The essential contradiction of capitalism is well known. It is that between the interest of the capitalist as individual entrepreneur seeking to maximize his profits (and hence minimize his costs of production, including wages) and his interest as a member of a class which cannot make money unless its members can realize their profits, that is, sell what they produce. Hence they need buyers, and this can often mean that they need to increase the cash revenue of workers.

I shall not review here the mechanisms by which the repeated stagnations of the world-economy lead to discontinuous but necessary (that is, steplike) increases of the purchasing power of some (each time new) sector of the (world) population. I will only say that one of the most important of these mechanisms of increasing real purchasing power is the process we are calling proletarianization. Although proletarianization may serve the short-run interest (the short-run only) of the capitalists as a class, it goes against their interests as individual employers, and hence normally proletarianization occurs despite them and not because of them. The demand for proletarianization comes rather from the other side. Workers organize themselves in various ways and thereby achieve some of their demands, which in fact permits them to reach the threshold of a true wage-based minimum income. That is, by their own efforts, workers become proletarianized, and then shout victory!

The true character of bourgeoisification is similarly quite different from what we've been led to believe. The



classic Marxist sociological portrait of the bourgeois is fraught with the epistemological contradictions at the base of Marxism itself. On the one hand, Marxists suggest that the bourgeois-entrepreneur-progressive is the opposite of the aristocrat-rentier-idler. And, among bourgeois, a contrast is drawn between the merchant capitalist who buys cheap and sells dear ( hence speculator-financial manipulator-idler he too ) and the industrialist who "revolutionizes" the relations of production. This contrast is all the sharper if this industrialist has taken the "truly revolutionary" path to capitalism, that is, if this industrialist resembles the hero of liberal legends, a little man who by dint of effort has become a big man. It is in this incredible but deeply-rooted manner that Marxists have become some of the best purveyors of the celebration of the capitalist system.

This description almost makes one forget the other Marxist thesis on the exploitation of the worker which takes the form of the extraction of surplus-value from the workers by this very same industrialist who then, logically, joins the ranks of the idlers, along with the merchant and the "feudal aristocrat". But if they're all alike in this essential why, why on earth should we spend so much time spelling out the differences, discussing the historical evolution of categories, the presumed regressions ( for example, the "aristocratization" of bourgeoisies who desire to "vivre noblement" ), the treasons ( of some bourgeoisies who refuse, it appears, "to play their historic role" ) ?

But is this a correct sociological portrait ? Just like the workers who live in households which merge revenue from multiple sources ( only one being wages ), the capitalists ( especially big ones ) live in enterprises which in reality merge revenues from many sources of investment—rents, speculation, trading profits, "normal" production profits, financial manipulation. Once these revenues are in money form, they're all the same for the capitalists, a means of



pursuing that incessant and infernal accumulation to which they are condemned.

At this point the psycho-sociological contradictions of their position enters the picture. A long time ago, Weber noted that the logic of Calvinism contradicts the "psychologic" of man. The logic tells us that it is impossible for man to know the fate of his soul because if he could know the intentions of the Lord, by that very fact he would be limiting His power, and He would no longer be omnipotent. But psychologically man refuses to accept that he can in any way affect his destiny. This contradiction led to the Calvinist theological "compromise." If one couldn't *know* the intentions of the Lord, one could at least *recognize* a negative decision via "external signs", without necessarily drawing the inverse conclusion in the absence of such signs. The moral thus became : leading an upright and prosperous life is a necessary but not sufficient condition for salvation.

This very same contradiction is still faced by the bourgeois today, albeit in more secular garb. Logically, the Lord of the capitalists requires that the bourgeois do nothing but accumulate. And He punishes those who violate this commandment by forcing them sooner or later into bankruptcy. But it's not really all that much fun to do nothing but accumulate. One wants occasionally to taste the fruits of accumulation. The demon of the "feudal-aristocratic" idler, locked up in the bourgeois soul, emerges from the shadows, and the bourgeois seeks to "vivre noblement". But in order to "vivre noblement", one must be a rentier in a broad sense, that is, have sources of revenue which require little effort to obtain, which are "guaranteed" politically, and which can be "inherited."

Thus, what is "natural", what each privileged participant in this capitalist world "seeks", is not to move from the status of rentier to entrepreneur, but precisely the opposite. Capitalists don't want to become "bourgeois." They infinitely prefer to become "feudal aristocrats."



If nonetheless capitalists are becoming more and more bourgeoisified, it is not because of their will, but despite it. This is quite parallel to the proletarianization of the workers which occurs not because of but despite the will of the capitalists. Indeed the parallelism goes even further. If the process of bourgeoisification proceeds, it is in part due to the contradictions of capitalism, and in part due to the pressures of the workers.

Objectively, as the capitalist system spreads, becomes more rationalized, brings about greater concentration, competition becomes stiffer and stiffer. Those who neglect the imperative of accumulation suffer even more rapidly, surely and ferociously the counterattacks of competitors. Thus each lapsus in the direction of "aristocratization" is ever more severely penalized *in the world market*, requiring an internal rectification of the "enterprise", especially if it is large and ( quasi - ) nationalized.

Children who seek to inherit the direction of an enterprise must now receive an external, intensive, "universalist" training. Little by little, the role of the technocratic manager has expanded. It is this manager who personifies the bourgeoisification of the capitalist class. A state bureaucracy, provided that it could really monopolize the extraction of surplus-value, would personify it to perfection. making *all* privilege depend on *current* activity rather than partially on individual or class inheritance.

It is quite clear that this process is being pushed forward by the working class. All their efforts to take over the levers of economic life and to eliminate injustice tend to constrain capitalists and make them retreat towards bourgeoisification. Feudal-aristocratic idleness becomes too obvious and too politically dangerous.

It is in this fashion that the historiographical prognosis of Karl Marx is working itself out : the polarization into two great classes of bourgeois and proletarians, both mate-



rially and socially. But why does this whole distinction matter, between the fruitful and unfruitful historiographical emphases that may be derived from reading Marx? It matters a great deal when one comes to the question of theorizing the "transition" to socialism, in fact of theorizing "transitions" in general. The Marx who spoke of capitalism as "progressive" vis-a-vis what was before also talks of bourgeois revolutions, of the bourgeois revolution, as a sort of keystone of the multiple "national" transitions from feudalism to capitalism.

The very concept of a bourgeois "revolution", leaving aside its doubtful empirical qualities, leads us to think of a proletarian revolution to which somehow it is tied, both as precedent and prerequisite. Modernity becomes the sum of these two successive "revolutions". To be sure, the succession is neither painless nor gradual; rather it is violent and disjunctive. But it is nonetheless inevitable, just as had been the succession of capitalism to feudalism. These concepts imply a whole strategy for the struggle of the working classes, a strategy filled with moral blame for bourgeois who neglect their historic roles.

But if there are no bourgeois "revolutions", but merely internecine struggles of rapacious capitalist sectors, there is neither a model to copy, nor sociopolitical "backwardnesses" to overcome. It may even be the case that the whole "bourgeois" strategy is one to shy away from. If the "transition" from feudalism to capitalism was neither progressive nor revolutionary, if instead this transition had been a great rescue of dominant strata which permitted them to reinforce their control over the working masses and increase the level of exploitation ( we are now speaking the language of the other Marx ), we might conclude that even if today a transition is inevitable, it is not *inevitably* a transition to socialism ( that is, a transition to an egalitarian world in which production is for use-value ). We might conclude



that the key question today is the direction of the global transition.

That capitalism will in the not too distant future know its demise seems to me both certain and desirable. It is easy to demonstrate this by an analysis of its "objective" endogenous contradictions. That the nature of our future world remains an open question, depending on the outcome of current struggles, seems to me equally certain. The strategy of transition is in fact the key to our destiny. We are not likely to find a good strategy by giving ourselves over to an apologia of the historiographical emphasis runs the risk of implying a strategy which will lead us to a "socialism" that is no more progressive than the current system, an avatar so to speak of this system.

- 
1. Charles-Albert Michalet, "Economic et politique chez Saint - Just. L'exemple de l'inflation" *Annales historiques de la Révolution française* LV, No. 191, Janv. mars 1968, 105-06.



# THE PROBLEM OF AUTONOMY OF THE STATE IN MARXIST THOUGHT

JAGANATH PATHY

Revolutionary politics occupies a central place in Marxism and has, in a sense, provided the main impetus to the advancement of Marxist theory and practice. But it is curious to note that Marxism has had little influence on political science—especially in India—which is primarily devoted to the study of power. One of the main reasons for the inability to demystify the subject must rest with the Marxists themselves, who ignoring the valuable insights of Marx and Engels, have indulged in selective repetition of the platitudes and abundantly demonstrated the paucity of new ideas. Banal assertions apart, the study of political power and state has remained forbidden topics.

A long Marxist tradition has nurtured the thesis that the state is not a universal, ubiquitous phenomenon. It originated specifically with the structural differentiation of the society into antagonistic classes, and would therefore *tend* to disintegrate, and ultimately “wither away” with the abolition of the necessary basis of class i. e. private ownership-control of the means of production. Another thesis is that the state being an epiphenomenon reducible to the economic base, it has always expressed the will and interests of the ruling class, and is manipulated by the latter. It is thus primarily a coercive instrument of the ruling class. To the political scientists who are dissatisfied with the bourgeois view of neutrality of the state, and even to the non-traditional heretical Marxists, the aforesaid assumptions are not only overgeneralizations, irreducible to testable propositions in empirical circumstances, but precisely they make the study of political power and the state irrelevant and redundant,



Small wonder, till recently, except for a few Marxists of Western Europe, the theory of state has been largely neglected in Marxist literature.

It is true that Marx and Engels did not provide a systematic theory of state, but let us see how far the above theses, specially the state as a class plot and instrument, are in conformity with their writings.

Marx writes :

...Out of this very contradiction between the interest of the individual and that of the community, the latter takes an independent form as the *state*, divorced from real interest of individual and community, and at the same time as an illusory communal life, always based, however, on the real ties existing in every family and tribal conglomeration...and especially, ...on the classes, already determined by the division of labour<sup>1</sup>.

Thus state is not a simple class plot. It arises out of the contradiction between the interest of individual and that of the community in the social division of labour. It is a socially necessary institution which eventually becomes an institution of the ruling class.

To direct the society's struggles against nature, to resolve the intra-community disputes and to face the intracommunity wars, the pre-class societies too have had some or other forms of organizing and decision-making authority. The state is however distinguished from such organizations by its specialized institutions of coercion over the subjects of a given territory ( as against rule over blood relationship ) It presupposes power exercised by a special category of people and levying of taxes, necessary for the upkeep of the apparatus of power. Several anthropological studies of the pre-class societies have however revealed the existence of institutionalized coercion, public power and taxation, albeit at



lower forms and levels. Of course, when this nature of organization of power is compared with that of the developed capitalist society, the differences appear striking, nearly as absolutes. The differences should therefore be treated in a relative sense. It is another matter that the development of institutions of coercion in a state is more or less continuously faster than the inbuilt flexibility and changes in either way in the pre-class political organizations. In short, the state originated not as a mere class plot, much less in an abrupt way. And this at least partly explains why the state in socialist societies, instead of tending to disintegrate is getting consolidated, year after year, with its ever expanding military and civilian bureaucracy. At least, this is the experience so far. This brief paper being focused on the second part of the Marxist thesis *i. e.* state as reducible to economic base and as a class executive, can hardly do justice to the complex issue of genesis, dynamics and dissolution of the state. Let us see the support for the second thesis in the writings of Marx and Engels.

Engels sums up the general analysis of state as :

Because the state arose from the need to hold class antagonisms in check, but because it arose, at the same time, in the midst of the conflict of these classes, it is, *as a rule*, the state of the most powerful, economically dominant class, which, through the medium of state, becomes also the politically dominant class, and thus acquires new means of holding down and exploiting the oppressed class<sup>1</sup>.

Since the state is necessarily a product and a manifestation of the irreconcilability of class antagonisms, and came into being to defend the most general interests of the ruling class, it is defined as an organ for the oppression of one class by another; the creation of 'order' which legalises and perpetuates this oppression by moderating the conflict between classes. Though this conception of the state as an

3



instrument for upholding the dominance of the ruling class over subject class ( es ) appeared constantly in the writings of Marx and Engels, they have also considered a certain degree of autonomy of the state. Even the above quoted passage qualifies the thesis, "as a rule" i. e. not always. In fact, Engels immediately elaborates the exceptions to the rule. But before looking into the "exceptional circumstances," it may be necessary to refer to these unequivocal statements that apparently justify the traditional Marxist thesis.

In the *Communist Manifesto* Marx and Engels wrote in 1848 : "The executive of the modern state is but a committee for managing the common affairs of the whole bourgeoisie<sup>3</sup>." Again after a quarter century Engels wrote :

.. the state is nothing more than the organisation which the ruling classes .. have established in order to protect their social privileges<sup>4</sup>.

and again :

The possessing classes... keep the working people in servitude not only by the power of their wealth, by the simple exploitation of labour by capital, but also by the power of the state--by the army, the bureaucracy, the courts<sup>5</sup>.

These, rather extreme, statements outline the primary functions of the state, more appropriately of the capitalist state, and not necessarily presented as the common feature of the state in general. Also, the primary functions of "holding down and exploiting the oppressed class" and "to manage the common affairs of the ruling class" do not preclude the possibility of subsidiary functions that might temporarily go against the ruling class. It is another matter that the non-class tasks are subordinated to the basic task and carried out for ultimate class ends with class consequences. Besides, the function of regulation of social relations and consolidation of a certain socio-economic



order must necessarily imply a certain autonomy of the state. A simple instrument of class cannot carry out this vital task. We will have occasion to return to this. But in any case from the above quotations, state as an epiphenomenon is inconclusive, to say the least. Let us again recall Engels :

Political, juridical, philosophical, religious, literary, artistic etc. development is based on economic development. But all these react upon one another and also upon the economic basis. It is not that the economic situation is *cause, solely active*, while everything else is only passive effect<sup>6</sup>.

and again :

The reaction of the state power upon economic development can be of three kinds. It can proceed in the same direction, and then things move more rapidly; it can move in the opposite direction in which case nowadays it (the state) will go to pieces in the long run in every great people; or it can prevent the economic development from proceeding along certain lines, and prescribe other lines....it is obvious in case two and three the political power can do great damage to the economic development and cause extensive waste of energy and material<sup>7</sup>.

It is obvious then that Marx and Engels did not treat state as a mechanical outgrowth of class society, as made out to be by the Marxist party intellectuals. What is asserted is that the state's influence is generally conditioned by the prevailing social structure. Likewise, Marx and Engels did not consider the oppressive role of the state as the only role. In both respects, however, the primacy is emphasized with considerable scope for variations with regard to time, space and object.

Marx and Engels discussed relative independence of state with reference to certain regimes, which clearly stand in



contrast to the nearly deterministic view of politics among the traditional Marxists. Engels wrote in 1884 in his *The Origin of the Family, Private property, and the state*.

By way of exception, however, periods occur in which the warring classes balance each other so nearly that the state power, as ostensible mediator, acquires, for the moment, a certain degree of independence of both. Such was the absolute monarchy of seventeenth and eighteenth centuries, which hold balance between the nobility and the class of burghers; such was the Bonapartism of the First, and still more the second French Empire, which played off the proletariat against the bourgeoisie and the bourgeoisie against the proletariat. The latest performance of this kind... is the new German Empire of the Bismarck nation,<sup>8</sup>

To elaborate the relative autonomy of the state, the factors and forces responsible for it may be discerned. The reference to the absolute monarchies of the seventeenth and eighteenth centuries is to a period when feudalism was disintegrating. There was fragmentation of the state power in the hands of separate feudal lords while the merchant capital was seriously promoting economic integration and the necessity of centralised state power. Under such a condition of disintegration of the whole civil society, the state, by rescuing the old ruling class—the landed aristocracy—from their own incapacities, procured a greater autonomy. The state thus kept old order together, for sometime, by subordinating everything to itself. In other words, the state's power achieves its maximum independence during periods when opposing classes approach equality in power. "The basic condition of the old absolute monarchy" was therefore, "an equilibrium between the landed aristocracy and the bourgeoisie," while "the basic condition of modern Bonapartism" is "an equilibrium between the bourgeoisie and the proletariat."



The tendency of the state to revert to more authoritarian and despotic forms of government arise not only due to immense internal hostilities among the ruling class themselves but also due to anticipated struggles of the subject class. In the *Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte*, Marx demonstrated that in order to safeguard its socio-economic rule the ruling class yield up direct political power to others.

...that the individual bourgeois can continue to exploit the other classes and to enjoy undisturbed property, family, religion and order only on condition that their class be condemned along with the other classes to like political nullity; that in order to save its purse, it must forfeit the crown, and the sword that is to safeguard it must at the same time be hung over its own head as a sword of Damocles.<sup>10</sup>

This forfeiting of crown is not the same things as in the matured capitalist state, where the capitalists seem to be averse to "taking direct charge of the operation of the state apparatus" due to internal hostilities among themselves and the deepest ever separation of economic and political institutions. It is rather a situation where "all classes, equally impotent and equally mute, fell on their knees before the rifle butt."<sup>11</sup> And specially "under the second Bonaparte does the state seem to have made itself completely independent." And yet, Marx added "the state power is not suspended in mid-air. Bonaparte represents a class, and the most numerous class of French society at that, the smallholding peasants."<sup>12</sup>

The French experience of state autonomy revealed that it is not the resultant of the actual class forces in society but rather stands in antagonism to all the social classes of civil society. It tends to get greater autonomy in so far as an unresolved class struggle balances the power of contending classes against each other; and that there is no other alternative to prevent society from disintegrating itself in internecine conflict without issue. Marx writes in *The civil war in France (1871)*:



...it was the only form of government possible at a time when the bourgeoisie had already lost, and the working class had not yet acquired, the faculty of ruling the nation.<sup>13</sup>

Though it is questionable whether all classes were equally impotent and mute in Italy and Germany under fascism, it is a fact that Hitler and Mussolini were never absorbed in any meaningful way into the German and Italian bourgeoisies, respectively. Instead, they acted in opposition to the interests of the individual capitalists who were mortally afraid to do anything against the wishes of the rulers. These together mean that though fascism protects the consequences that a capitalist system requires, it does not do so by a simple command of the ruling class. It has considerable independence.

But this independence of the state from the contending classes prevails for a short time, until the alignment of the class forces becomes more definite and one class triumphs over the other. Some have argued that Marx produced two quite separate theories of the state, as an instrument of class rule (in the *Communist Manifesto*), and as "independent from and superior to all social classes" (in *The 18th Brumaire of Louis Bonaparte*).<sup>14</sup> To us this is not at all a contradiction. It is the failure to differentiate the general from the particular and their special interconnections that contributed to such an appraisal of Marx. Partly also responsible is the prevailing dogmatic interpretation of economic determination of the state. Marx and Engels have acknowledged that when society is undergoing a radical social change, or a comparative social stability, there occurs a certain degree of primacy of politics over and above economic factors. In other words, the state is not treated by Marx and Engels as a simple dependent location within the class society. In Britain, for instance, the landed aristocracy occupied an important place in the state apparatus during the most part of the nineteenth



century, when incidentally it had the world's economically most powerful Capitalist class. Marx wrote in 1855 in an article, "The British Constitution", that "although the bourgeoisie, itself only the highest stratum of the middle classes," had "gained *political* recognition as the *ruling class*," this only happened on one condition; namely, that the whole business of government in all its details remained the guaranteed domain of the landed aristocracy."<sup>15</sup>

The most genuine independence and autonomy of the state is however accrued when it has its own distinctive material basis of power as under oriental despotism. The state has then a dominant economic presence in society, provides the much needed irrigation and public works, and appropriated the surplus as a matter of right. Similarly in classical antiquity, the state did dominate the life of the members, who could own means of production and retain independence only by virtue of his membership of the commune.

Thus the class bias of the state is not decisively determined by its specific dominant class. Marx was very much aware of the fact that since the state as a rule structures the political conflict between classes, it has to be relatively autonomous. It preserves the class structure of society by being seen to be independent of it. While the state's basic function remains, it also intervenes to ameliorate the economic and social problems that capitalism generates. In this process and as well as to prevent economic crisis, internal disorder and international offences, the state impinges on the rights of the capitalist class through taxation and various types of state regulations. Periods of war, depression, and reconstruction give further freedom of action to the state.

At times, the state may wish to pursue certain policies which the ruling class may find objectionable because the inherent contradiction between the long-run interests of the ruling class and the short-run interests of a particular segment of it. The state also can take a few measures which



check the interest of the ruling class on limited issues for limited periods to the benefit of the subject class or a section there of, depending mainly on their political struggles.<sup>16</sup> Nonetheless, the social reforms and welfare measures undertaken by a state may check the immediate interest of the ruling class but does promote their long term common interest through the stabilisation of the socio-economic order.<sup>17</sup>

The dominant class is however constrained to use its power in a highly subtle and complex manner, it can hardly afford to act arbitrarily, nor blantly outrage the customs and traditions. It itself being divided into diverse interests and factions—at least under normal circumstances—compromises with the state, which in turn makes concessions to the dominated classes depending their pressures in the form of struggles. Further, as the interests of the dominant class are articulated through certain 'impersonal' institutional structure of the state, with different procedural limits and general language of law, those get modified to the extent tolerable to the dominant class. Vestiges of the previous mode along with its habits, attitudes, sentiments, feelings, life styles etc. exert some influence on the dominant class and thereby limit their freedom.

Besides intervention in economic development and social reforms, the state has a special autonomy in the post-colonial societies. Unlike the advanced capitalist countries, where the state has developed in the wake of a single dominant class, the post-colonial countries are marked by the plurality of economically dominant classes. In mediating the rival interests and competing demands, the state has acquired a degree of freedom vis-a-vis each of the dominant classes, although it remains subservient to their collective interests. The state thus does not simply act only in response to the expressed demands of the ruling classes<sup>18</sup>. At the same time, it appears that in many of the new states, the bourgeoisie is so underdeveloped that it is incapable of subordinating the relatively highly developed colonial state app-



lower forms and levels. Of course, when this nature of organization of power is compared with that of the developed capitalist society, the differences appear striking, nearly as absolutes. The differences should therefore be treated in a relative sense. It is another matter that the development of institutions of coercion in a state is more or less continuously faster than the inbuilt flexibility and changes in either way in the pre-class political organizations. In short, the state originated not as a mere class plot, much less in an abrupt way. And this at least partly explains why the state in socialist societies, instead of tending to disintegrate is getting consolidated, year after year, with its ever expanding military and civilian bureaucracy. At least, this is the experience so far. This brief paper being focused on the second part of the Marxist thesis *i. e.* state as reducible to economic base and as a class executive, can hardly do justice to the complex issue of genesis, dynamics and dissolution of the state. Let us see the support for the second thesis in the writings of Marx and Engels.

Engels sums up the general analysis of state as :

Because the state arose from the need to hold class antagonisms in check, but because it arose, at the same time, in the midst of the conflict of these classes, it is, *as a rule*, the state of the most powerful, economically dominant class, which, through the medium of state, becomes also the politically dominant class, and thus acquires new means of holding down and exploiting the oppressed class<sup>a</sup>.

Since the state is necessarily a product and a manifestation of the irreconcilability of class antagonisms, and came into being to defend the most general interests of the ruling class, it is defined as an organ for the oppression of one class by another; the creation of 'order' which legalises and perpetuates this oppression by moderating the conflict between classes. Though this conception of the state as an



instrument for upholding the dominance of the ruling class over subject class ( es ) appeared constantly in the writings of Marx and Engels, they have also considered a certain degree of autonomy of the state. Even the above quoted passage qualifies the thesis, "as a rule" i. e. not always. In fact, Engels immediately elaborates the exceptions to the rule. But before looking into the "exceptional circumstances," it may be necessary to refer to these unequivocal statements that apparently justify the traditional Marxist thesis.

In the *Communist Manifesto* Marx and Engels wrote in 1848 : "The executive of the modern state is but a committee for managing the common affairs of the whole bourgeoisie<sup>3</sup>." Again after a quarter century Engels wrote :

... the state is nothing more than the organisation which the ruling classes have established in order to protect their social privileges<sup>4</sup>.

and again :

The possessing classes... keep the working people in servitude not only by the power of their wealth, by the simple exploitation of labour by capital, but also by the power of the state--by the army, the bureaucracy, the courts<sup>5</sup>.

These, rather extreme, statements outline the primary functions of the state, more appropriately of the capitalist state, and not necessarily presented as the common feature of the state in general. Also, the primary functions of "holding down and exploiting the oppressed class" and "to manage the common affairs of the ruling class" do not preclude the possibility of subsidiary functions that might temporarily go against the ruling class. It is another matter that the non-class tasks are subordinated to the basic task and carried out for ultimate class ends with class consequences. Besides, the function of regulation of social relations and consolidation of a certain socio-economic



order must necessarily imply a certain autonomy of the state. A simple instrument of class cannot carry out this vital task. We will have occasion to return to this. But in any case from the above quotations, state as an epiphenomenon is inconclusive, to say the least. Let us again recall Engels :

Political, juridical, philosophical, religious, literary, artistic etc. development is based on economic development. But all these react upon one another and also upon the economic basis. It is not that the economic situation is *cause, solely active*, while everything else is only passive effect<sup>6</sup>.

and again :

The reaction of the state power upon economic development can be of three kinds. It can proceed in the same direction, and then things move more rapidly; it can move in the opposite direction in which case nowadays it (the state) will go to pieces in the long run in every great people; or it can prevent the economic development from proceeding along certain lines, and prescribe other lines...It is obvious in case two and three the political power can do great damage to the economic development and cause extensive waste of energy and material<sup>7</sup>.

It is obvious then that Marx and Engels did not treat state as a mechanical outgrowth of class society, as made out to be by the Marxist party intellectuals. What is asserted is that the state's influence is generally conditioned by the prevailing social structure. Likewise, Marx and Engels did not consider the oppressive role of the state as the only role. In both respects, however, the primacy is emphasized with considerable scope for variations with regard to time, space and object.

Marx and Engels discussed relative independence of state with reference to certain regimes, which clearly stand in



contrast to the nearly deterministic view of politics among the traditional Marxists. Engels wrote in 1884 in his *The Origin of the Family, Private property, and the state*.

By way of exception, however, periods occur in which the warring classes balance each other so nearly that the state power, as ostensible mediator, acquires, for the moment, a certain degree of independence of both. Such was the absolute monarchy of seventeenth and eighteenth centuries, which hold balance between the nobility and the class of burghers; such was the Bonapartism of the First, and still more the second French Empire, which played off the proletariat against the bourgeoisie and the bourgeoisie against the proletariat. The latest performance of this kind... is the new German Empire of the Bismarck nation,<sup>a</sup>

To elaborate the relative autonomy of the state, the factors and forces responsible for it may be discerned. The reference to the absolute monarchies of the seventeenth and eighteenth centuries is to a period when feudalism was disintegrating. There was fragmentation of the state power in the hands of separate feudal lords while the merchant capital was seriously promoting economic integration and the necessity of centralised state power. Under such a condition of disintegration of the whole civil society, the state, by rescuing the old ruling class—the landed aristocracy—from their own incapacities, procured a greater autonomy. The state thus kept old order together, for sometime, by subordinating everything to itself. In other words, the state's power achieves its maximum independence during periods when opposing classes approach equality in power. "The basic condition of the old absolute monarchy" was therefore, "an equilibrium between the landed aristocracy and the bourgeoisie," while "the basic condition of modern Bonapartism" is "an equilibrium between the bourgeoisie and the proletariat."<sup>a</sup>



The tendency of the state to revert to more authoritarian and despotic forms of government arise not only due to immense internal hostilities among the ruling class themselves but also due to anticipated struggles of the subject class. In the *Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte*, Marx demonstrated that in order to safeguard its socio-economic rule the ruling class yield up direct political power to others.

...that the individual bourgeois can continue to exploit the other classes and to enjoy undisturbed property, family, religion and order only on condition that their class be condemned along with the other classes to like political nullity; that in order to save its purse, it must forfeit the crown, and the sword that is to safeguard it must at the same time be hung over its own head as a sword of Damocles.<sup>10</sup>

This forfeiting of crown is not the same things as in the matured capitalist state, where the capitalists seem to be averse to "taking direct charge of the operation of the state apparatus" due to internal hostilities among themselves and the deepest ever separation of economic and political institutions. It is rather a situation where "all classes, equally impotent and equally mute, fell on their knees before the rifle butt."<sup>11</sup> And specially "under the second Bonaparte does the state seem to have made itself completely independent." And yet, Marx added "the state power is not suspended in mid-air. Bonaparte represents a class, and the most numerous class of French society at that, the smallholding peasants."<sup>12</sup>

The French experience of state autonomy revealed that it is not the resultant of the actual class forces in society but rather stands in antagonism to all the social classes of civil society. It tends to get greater autonomy in so far as an unresolved class struggle balances the power of contending classes against each other; and that there is no other alternative to prevent society from disintegrating itself in internecine conflict without issue. Marx writes in *The civil war in France (1871)*:



...it was the only form of government possible at a time when the bourgeoisie had already lost, and the working class had not yet acquired, the faculty of ruling the nation.<sup>13</sup>

Though it is questionable whether all classes were equally impotent and mute in Italy and Germany under fascism, it is a fact that Hitler and Mussolini were never absorbed in any meaningful way into the German and Italian bourgeoisies, respectively. Instead, they acted in opposition to the interests of the individual capitalists who were mortally afraid to do anything against the wishes of the rulers. These together mean that though fascism protects the consequences that a capitalist system requires, it does not do so by a simple command of the ruling class. It has considerable independence.

But this independence of the state from the contending classes prevails for a short time, until the alignment of the class forces becomes more definite and one class triumphs over the other. Some have argued that Marx produced two quite separate theories of the state, as an instrument of class rule ( in the *Communist Manifesto* ), and as "independent from and superior to all social classes" ( in *The 18th Brumaire of Louis Bonaparte* ).<sup>14</sup> To us this is not at all a contradiction. It is the failure to differentiate the general from the particular and their special interconnections that contributed to such an appraisal of Marx. Partly also responsible is the prevailing dogmatic interpretation of economic determination of the state. Marx and Engels have acknowledged that when society is undergoing a radical social change, or a comparative social stability, there occurs a certain degree of primacy of politics over and above economic factors. In other words, the state is not treated by Marx and Engels as a simple dependent location within the class society. In Britain, for instance, the landed aristocracy occupied an important place in the state apparatus during the most part of the nineteenth



century, when incidentally it had the world's economically most powerful Capitalist class. Marx wrote in 1855 in an article, "The British Constitution", that "although the bourgeoisie, itself only the highest stratum of the middle classes," had "gained *political* recognition as the *ruling class*," this only happened on one condition; namely, that the whole business of government in all its details remained the the guaranteed domain of the landed aristocracy."<sup>15</sup>

The most genuine independence and autonomy of the state is however accrued when it has its own distinctive material basis of power as under oriental despotism. The state has then a dominant economic presence in society, provides the much needed irrigation and public works, and appropriated the surplus as a matter of right. Similarly in classical antiquity, the state did dominate the life of the members, who could own means of production and retain independence only by virtue of his membership of the commune.

Thus the class bias of the state is not decisively determined by its specific dominant class. Marx was very much aware of the fact that since the state as a rule structures the political conflict between classes, it has to be relatively autonomous. It preserves the class structure of society by being seen to be independent of it. While the state's basic function remains, it also intervenes to ameliorate the economic and social problems that capitalism generates. In this process and as well as to prevent economic crisis, internal disorder and international offences, the state impinges on the rights of the capitalist class through taxation and various types of state regulations. Periods of war, depression, and reconstruction give further freedom of action to the state.

At times, the state may wish to pursue certain policies which the ruling class may find objectionable because the inherent contradiction between the long-run interests of the ruling class and the short-run interests of a particular segment of it. The state also can take a few measures which



check the interest of the ruling class on limited issues for limited periods to the benefit of the subject class or a section there of, depending mainly on their political struggles.<sup>16</sup> Nonetheless, the social reforms and welfare measures undertaken by a state may check the immediate interest of the ruling class but does promote their long term common interest through the stabilisation of the socio-economic order.<sup>17</sup>

The dominant class is however constrained to use its power in a highly subtle and complex manner, it can hardly afford to act arbitrarily, nor blantly outrage the customs and traditions. It itself being divided into diverse interests and factions—at least under normal circumstances—compromises with the state, which in turn makes concessions to the dominated classes depending their pressures in the form of struggles. Further, as the interests of the dominant class are articulated through certain 'impersonal' institutional structure of the state, with different procedural limits and general language of law, those get modified to the extent tolerable to the dominant class. Vestiges of the previous mode along-with its habits, attitudes, sentiments, feelings, life styles etc. exert some influence on the dominant class and thereby limit their freedom.

Besides intervention in economic development and social reforms, the state has a special autonomy in the post-colonial societies. Unlike the advanced capitalist countries, where the state has developed in the wake of a single dominant class, the post-colonial countries are marked by the plurality of economically dominant classes. In mediating the rival interests and competing demands, the state has acquired a degree of freedom vis-a-vis each of the dominant classes, although it remains subservient to their collective interests. The state thus does not simply act only in response to the expressed demands of the ruling classes<sup>18</sup>. At the same time, it appears that in many of the new states, the bourgeoisie is so underdeveloped that it is incapable of subordinating the relatively highly developed colonial state app-



aratus through which the metropolitan power exercised exercise domination over it<sup>19</sup>. some political parties and a few political leaders too assume an important role, independent of the classes, and are in a position to mediate. What Marx had asserted was only that the state pursues such policies which are conducive *in the long run* to the existence and reproduction of the *essential* structure of the prevailing mode of production<sup>20</sup>. Therefore what needs to be studied is the condition under which the state acquires a relative autonomy—this should not be confused with absolute sovereignty'. The selective quotes and unsubstantiated assertions in a dogmatic way do not help to see the nature of the state in proper political perspective. Fortunately, a few attempts have been made in the western Marxist circles in the recent years to comprehend the complex context of the state. There is a definite development over the traditional dogmatic theses of state. But, in India, this is yet to have some tangible reflections.

## REFERENCES

1. Karl Marx and F. Engels, *The German Ideology* (Moscow : Progress Publishers. 1964 ), p. 44.
2. F. Engels, "The Origin of the Family, Private Property and the State" (1884 ), in Marx and Engels, *Selected Works*, (Moscow : Progress Publishers, 1969-70 ), Vol. III, p. 191, (italics added ).
3. Karl Marx and F. Engels, *Selected Works* (Moscow : Progress Publishers, 1969-70 ), Vol. I, pp. 110-111.
4. F. Engels' letter to Theodor Cuno in Milan (1872 ) in K. Marx and F. Engels, *Selected Correspondence* (Moscow : Progress Publishers, 1975 ), p. 257.
5. F. Engels' letter to the Spanish Federal Council of the International Working Men's Association (1871 ), in K. Marx and F. Engels, *Selected Correspondence*, *ibid.*, p. 244.
6. F. Engels, letter to W. Borgius (1894 ) in K. Marx and F. Engels, *Selected Works* (Moscow : Progress Publishers, 1970 ), p. 694.
7. F. Engels, letter to C. Schmidt (1890 ) in K. Marx and F. Engels, *Selected Correspondence*, *op. cit.*, p. 399.
8. In K. Marx and F. Engels, *Selected Works* (Moscow Progress Publishers, 1969-70 ), Vol. III, pp. 191-92.



9. F. Engels, "The Housing Question" ( 1873 ) in K. Marx and F. Engels, *Selected Works, ibid.*, Vol. II, p. 348.
  10. Karl Marx, "The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte" (1852) in Marx and Engels, *Selected Works, ibid* , Voi. I, 436.
  11. *ibid.*, pp. 476-77.
  12. *ibid.*, p. 478.
  13. K. Marx and F. Engels, *Selected Works* ( Moscow : Progress Publishers, 1970 ), pp. 286-287.
  14. For instance, Ralph Miliband "Marx and the State," in *The Socialist Register* ( London : The Merlin Press, 1965 ).
  15. Karl Marx, *Surveys from Exile in Political writings.* ( London, Pelican Edition, 1973 ), Vol. II, p. 282.
  16. Karl Marx, *Capital* ( Moscow : Progress Publishers, 1970 ) Vol. I, pp. 372-90.
  17. *ibid.*, Vol. I, Chap. 10, p. 229.
  18. Mao Tse-tung observed that the conflicts between the ruling classes and their contradictory nature of interests render a greater autonomy to the state. In such societies "... the form of state to be adopted by the revolutions .. can only be .. the new democratic republic, "under the joint dictatorship of all anti-imperialist and anti-feudal people led by the proletariat.
- See his, "On New Democracy" ( 1940 ), *Selected Works* (Bombay Peoples Publishing House Ltd., 1954 ), Vol. III, pp. 118-119.
19. Hamza Alavi, "The State in Post-colonial Societies : Pakistan and Bangladesh, "*New Left Review*, No. 74, 1972.
  20. See, Bhikhu Parekh, "Marx's Theory of the state : A Historical Perspective" in V.K. Roy and R.C. Sarikwal ( eds ), *Marxian Sociology* ( New Delhi : Ajanta Publications, 1979 ), Vol. II, pp. 71-128.

---

This essay is based on a paper presented in the Seminar on "Marx's Theory of State." organized by Gujarat Political Science Association ( 1983 ). I am thankful to all those who commented on it in the seminar,



# MARXISM AND BUREAUCRACY

O. P. DWIVEDI, WILLIAM GRAF AND J. NEF

The main purpose of this essay is twofold. First, it explores the question of whether there is a specifically Marxist perspective in the analysis of bureaucracy and public policy; and second it examines to what extent Marxist perspectives might contribute to a broader understanding of the phenomenon known as the administrative state. These themes are of great theoretical and practical relevance. For one thing they are at the core of the question of the socialist model of development and the transition to communism. On the other hand, a Marxist analysis and critique of the administrative state poses in very explicit terms the often complex relationship between "socialism" and "democracy." This being an exploratory essay, we shall be focussing on a few salient aspects to ensure that our analysis does not burgeon into an unwieldy conglomeration of partial descriptions. Therefore, the arguments presented here are necessarily tentative and suggestive, rather than comprehensive or definitive. In this essay, we have concentrated on the state bureaucracy rather than other types of bureaucratic organizations.

It is hardly fortuitous that Marxist scholarship until now has taken practically no interest in the study of public administration as such. This is so despite the fact that since the turn of the century at least, bureaucracy has emerged as a pivotal and central focal area within the political and social sciences. This apparent neglect is understandable. Any theory of public administration must rest upon a prior theory of the state. If the theory is left implicit and the bureaucracy is analysed as an institution-in-itself, then public administration as a scholarly subdiscipline is confined to the description and enumeration of catalogues of structures and functions, or the derivation of "pathologies" and correspon-



ding prescriptions for technical improvements. This *uncritical* approach, which takes as given the advanced capitalist context of bureaucratic operation, remains dominant in North American social science in particular. On the other hand where theories of the state, and the premises underlying them, are made explicit, then the state bureaucracy can be better analysed and compared within this holistic framework. As Erik O. Wright observed back in 1974 :

What is needed is precisely a theoretical orientation that integrates these perspectives, that provides a systematic understanding of the relationship between social structure and the internal organizational process of the state.<sup>1</sup>

Until recently it could be said that Western Marxism had been hampered by the absence of an adequate theory of the state. That gap now appears to be largely reduced by a spate of important recent studies.<sup>2</sup> But only very infrequently do these theories venture into an explicit examination of public administration. To undertake this task, then, one must in large measure *infer* such a theory of public administration from the large body of Marxist and neo-Marxist literature on the state. This literature at least contains numerous valuable *elements* of, and *insights* into an understanding and explanation of administration in general and the administrative state in particular. A central question here is whether those elements and insights coalesce into a discernible paradigm.

Even the "early" Marx was concerned with the relationship between the state and bureaucracy. In his 1843 *Critique of Hegel's Philosophy of Law*—which to be sure, was intended more as a critical analysis of the Hegelian dialectical method than as a general theory of the state—Marx advanced the proposition that, far from a "universalistic," "rational" institution "above" particularist interests, the state (bureaucracy) was in fact imbedded in the conflict of interests and



classes in capitalist society. The state bureaucracy, therefore, lacking any "universal interests", turns out to be nothing more than one egotistic interest among many others.<sup>3</sup> The notion of the class nature of the state bureaucracy not only stands in opposition to Durkheimian and Weberian theories of the state, it also produces the important insight that the state is in the last analysis, a partisan instrument in the enactment intra-societal class struggles, rather than a neutral umpire of such struggles. State officials appropriate state power as their private property. Through this process they exercise hegemony in capitalist society. That is why, according to Marx, both private property and the abstract state must be abolished before the posited "universal interest" and "egalitarian democracy" of the dictatorship of the proletariat can be realized.<sup>4</sup>

The partisan bureaucracy concept was later incorporated more systematically into the classic Marxian base-superstructure model.<sup>5</sup> We stress here the resilient, heuristic quality of the Marxian model--in contrast to cruder, deterministic variants of it--which simply posited a general correspondence between the mode of production on the one hand and on the other the vast super structure of state forms, law, religion, culture, etc. which was conditioned by (but in turn itself conditioned) the economic base.<sup>6</sup> The problem arising from the viewpoint of public administration is that the Marxist theory of the state in a sense precludes a nuanced examination of the operation of the state bureaucracy. For this is explained away by once positing (a) the class character of the bureaucracy, and (b) the embedding of the bureaucracy in the capitalist political economy. Indeed, vulgar Marxism for too long was content with this superficial explanation. Only recent neo-Marxist scholarship has managed to revive the analytical categories of relative state autonomy and relative hegemony of the state elite as operative categories. We will return to these presently.



## I

## MARXIST THEORY AND LENINIST PRAXIS

When after 1917 Marxist theory was confronted by historical reality, a major paradigmatic shift was required in the theory. This was largely the contribution of V. I. Lenin whose main concern lay much more in the realm of method than teleology, in strategy and tactics rather than values and end principles. In this respect, his is a very direct contribution to both a theory and strategy of power, including the tactics of revolution. It is also, therefore, a theory of the state as well as of management and organization.<sup>7</sup>

Marxism—Leninism, as interpreted by Stalin, was hobbled from the outset by a series of contradictions which, *mutatis mutandis*, have been imposed from the Soviet experience on to the praxis of all the Eastern European soviet-type regimes. In the Soviet Union, there developed a conflict between a Marxist theory evolved in and for late capitalism (whose objective historical task was to create the *material preconditions* for communism), and a praxis conditioned by the historical reality of underdevelopment, the overriding imperative of modernization and the corresponding need to “telescope” socio-economic change. This imperative was reinforced by tendencies toward internal centrifugality (separatism, reaction), abetted and fostered by the presence of counter-revolutionary troops in the Soviet sphere. This in turn necessitated the rapid creation of a massive bureaucratic (democratic centralism) and military (Trotsky’s Red Army) state apparatus which, in line with this situationally given “primacy of politics,” would in some measure have to persuade, guide and coerce a non-proletarian population toward mobilization and integration. This alone was a formidable undertaking in a predominantly rural, traditional society in which, therefore, the means of production were unevenly developed and perhaps a mere five percent of the population could be classified as urban workers. Thus socialism not only had to take root under conditions of



extreme want and scarcity, it had to socialize all of the production process virtually overnight. All of this—in the absence of a mass popular basis of support and of an adequate infrastructure—had to be accomplished by the Bolshevik state *on behalf of the people and in the name of the revolution*. In a very real sense, then, the soviet revolution was an administrative revolution. The late Isaac Deutscher, in this context, spoke of a confusion of means and ends.

As national wealth was being accumulated, the mass of consumers, who are also the producers, were exposed to continued and even aggravated want and poverty; and bureaucratic control over every aspect of national life substituted itself for social control and responsibility. The order of priorities was as it were reversed. The forms of socialism had been forged before the content, the economic and cultural substance, was available; and as the content was being produced the forms deteriorated or were distorted.<sup>8</sup>

Yet the Leninist-Stalinist model of an administered revolution also represents a (historically and temporally fixed) resolution of the contradiction in Marx himself between means and ends, form and content. For the central goal of socialism for Marx—especially the “early” Marx—was human emancipation. From Proudhon, Marx developed the notion that, once private ownership of the means of production and with it the division of labour in society could be eliminated, so too would all relations of domination and subordination disappear. Perfect freedom as a species-being would be the result. Thus, in the *18th Brumaire* and *The Civil War in France* respectively, Marx counterposes the particularist, over-bureaucratized Second Napoleonic Empire with the Paris Commune which, briefly, had managed to do away with the bureaucratic machine and establish a system of voluntary interaction. Here the Marxist anti-bureaucratic aims are in



close proximity to those of the anarchists. In both cases society is to triumph over the state as a precondition for general emancipation.

However, Marx (the "later" Marx of *Capital*, for instance) also clearly recognized that these revolutionary goals must be prepared for and executed on the basis of organization and administration. Both the elimination of capitalist exploitation, including the "integration" of the exploiter class, and the reorganizing of production and distribution would require a strong, albeit provisional, state: the dictatorship of the proletariat. Socialism presupposed above all other things a firm material base of security and welfare for all, in contrast to capitalism which could only exacerbate social inequality and progressively immiserate the non-owners of the means of production. Unlike anarchist prescriptions, which aimed at smashing the state *per se* and instantly establishing a system of voluntary cooperation, the Marxian state, in the transitional period, would arrogate ownership and control over the means of production and distribution to itself. It would consolidate the productive forces through comprehensive, rational planning and through furthering the division of labour and specialization of function. The Marx and Engels of the *Communist Manifesto* thus advocate and the socialization and nationalization of credit and banking, transport and communications, all instruments of production and the labour allocation system under the aegis of the state. Only then on the foundation of a highly developed, all-encompassing state, could the conditions for its eventual withering away be assured. Neil Harding sees this aspect of Marxian theory as "technocratic Marxism," which he defines as:

...necessarily wedded to the twin principles of centralisation within the state and subordination within the workplace. It had grandiose aspirations not merely for the size of individual productive units but for the planning and direction of the entire national and international economy. This would require, on an



exalted plane, authoritative directions on the social division of labour and allocation of resources. Only a centralised authority could dictate, as it would have to, the measure of labour and of consumption.<sup>9</sup>

Stalinist Leninism, in the particular Russian context of scarcity and underdevelopment, thus represented the ( situationally inevitable ) decision for technocratic Marxism not only over, but against emancipatory Marxism.

The role of party organization—the vanguard theory—is at the centre of Leninism. An organizational principle, democratic centralism, is elevated to a fundamental principle governing party life. Moreover, Leninism formulates an elaboration of a theory of state power and the management of the dictatorship of the proletariat. Lenin shared much of Marx's distrust for bureaucracy. He sees the state and its bureaucracy as a "special organization of force: it is an organization of violence for the suppression of some classes;"<sup>10</sup> that is the basic structure of capitalist rule. In so doing, he recognized the distinct class character, as opposed to instrumental nature, of the state administration.<sup>11</sup>

Thus the conspiratorial and largely superfluous and parasitic nature of bureaucracy in the main reflects Marx's own views. In Lenin's view, there is a built-in opposition between socialist—and even bourgeois—democracy and bureaucracy.<sup>12</sup> Only after the revolution could this apparatus by stages lose its coercive and exploitative character and be absorbed by society. The question of democratization as debureaucratization is central to Lenin's early thinking. The implicit model here is the just mentioned experience of popular rule by committee during the ill-fated Paris Commune of 1871.<sup>13</sup> The organizational model is purposefully vague but it nevertheless contains a number of specific characteristics;

- (1) election and recall of functionaries at any time;
- (2) pay not to exceed that of a workman;



- (3) immediate introduction of control and supervision by all to avoid bureaucratic complacency and ossification.

These features were to be instrumental in the establishment of the Soviets as people's committees charged with making the structures of government accountable to the popular will.<sup>14</sup>

Lenin draws a sharp distinction between "bureaucrats" and "technicians." While he sees the former "staff" as entrusted only with relatively simple and superfluous tasks of control and accounting, he has a positive view of the technico-administrative groups as contributing to the productive process.<sup>15</sup> Thus, the sphere of production is real and material while that of control is essentially a mystification of the entire apparatus of the state.

In this sense, "Marx sees bureaucracy—unlike Weber—not as a technological imperative necessitated by modern technology and mass administration...(but as)...a specifically *political* imperative for the stability of capitalism and the domination of the bourgeoisie"<sup>16</sup> Bureaucratic transactions, like capitalist financial transactions, are not real necessities but a form of fetishism and alienation. It is precisely these—rather than the technico-administrative functions that Lenin argued could be immediately transferred to the hands of the workers.

Lenin saw the primary task of the Soviet state as economic development through socialist accumulation. The NEP and the central planning mechanism became fundamental tenets of applied Marxism-Leninism. Indeed, Lenin, and most certainly Stalin, consolidated a complex administrative state whose core *raison d'être* was modernization and the inducement of accelerated socio-economic change. Efficiency was emphasized through material incentives, long-range planning and rational management. At the level of the basic units of production, a form of "scientific" labour organiza-



tion—*Stakhanovism*, a socialist variant of Taylorism—was instituted. In a word, Leninist Marxism and bureaucracy became inextricably linked in a distinct Soviet model. This included the following features:

- (1) subordination of the functionaries to the party apparatus,
- (2) central planning, budgeting, coordination and control.
- (3) democratic centralism and verticality of decision-making.
- (4) centralization of organization.
- (5) expansion of state role into the spheres of production.
- (6) scientific reorganization of the labour force in order to maintain productivity, including techniques of social engineering and social psychology, and
- (7) specialization.

Stalinism, in a sense, was the specific application and indeed realization of these authoritarian principles in the Union of Soviets, the substitution of the democratically elected Soviets with a centralist, driving bureaucracy. The "Soviet model" constitutes a concrete developmental experience which has profoundly affected state-socialist strategies of management and development. In both Eastern Europe and Asia its influence has been decisive, especially in the initial stages of socialist reconstruction and industrialization.

To sum up, Marxist contributions to a theory of public administration in the Western World have involved two central aspects. One has been a critique of the bourgeois administrative state and its functioning under conditions of post-industrialization. Another theme has been a critique of Marxist orthodoxy, especially the Soviet experience. The debate has been linked to the kind of policy debates and alliance strategies within the European and American left, especially the options offered by Eurocommunism. It needs



to be remembered, however, that the debate described here, as will be shown in the case of Eastern Europe, has been *from within* the Marxist paradigm. It has not been the abandonment of Marxism altogether as some "end of ideology" advocates have pretended.

## II

### MARXISM AND ADMINISTRATION IN THE THIRD WORLD

Marxist contributions to a theory of administration in the Third World include a critique of bourgeois theories of modernization-especially of development administration. The latter is perceived as a counterinsurgency strategy to reform and strengthen peripheral capitalism. For Third World Marxists, social revolution *is* the alternative mode of development administration.

It follows then, that development administration-as postulated by Western theories of modernization-is little more than a means to administer underdevelopment; it is the softer side of countersurgency.<sup>17</sup>

In one sense Third World Marxism has re-encountered some of the problems faced by the Leninist experience, namely, the need to combine socialism with economic development. This has entailed an inversion of orthodox Marxism so that now the super-structure determines the base: the anti-imperialist, socialist state apparatus is supposed to generate the conditions of economic growth. In another sense, however, the Third World experience presents a diverse situation of social struggle and the construction of socialism. In the South, a constellation of specific condition—the importance of the peasantry, the nature of wars of national liberation, the policy of alliances, to mention a few—conditions the nature of the socialist state and the role of the bureaucracy. Needless to say, Third World variants of Marxism-Mao, Cabral, Castro, Kim Il-Sung, etc. —in their own way entail critiques of the bourgeois administrative state. But their critiques point beyond this state, an insurrectional-revolutionary path for building a new state and administrative cadres



through guerrilla warfare.<sup>18</sup> Likewise, the emphasis is more on basic needs and on rural development than on the Leninist effort towards relentless industrialization and the "creation" of a proletariat as a precondition for building socialism.

Third World socialism, however, exhibits enormous variety and complexity. Some experiences, such as those where the takeover has been either peaceful (as in Allende's Chile) or the result of negotiation after insurrection (such as Zimbabwe), indicate a general tendency towards rapid bureaucratization of the state. Other cases, where guerrilla warfare led to a direct takeover of the state, (Cuba, Vietnam) indicate an early period of what Rene Dumont calls "creative chaos" followed by increased bureaucratization. This is especially true where the exigencies of national self-preservation enhance the militarization of the state and the emergence of a "new class" of sorts.

The central feature of all these socialist strategies lies in the pursuit of induced development through revolution and planning. This is an uneasy task since it presents profound built-in contradictions. One is the issue of mobilization versus the need to institutionalize the revolution (advance vs. consolidation). The other issue is the one between centralization (control) and democratization (mobilization). The third issue is the contradiction between growth and distribution (consumption, investment). The fourth and most important issue is the extent to which national autonomy can be maintained vis-a-vis a hostile West or the complex dependency offered by external "protectors" the revolutionary process. In all of these contradictions, the role of the administrative apparatus is crucial. It may determine the pace and direction of both mobilization and institutionalization. It may also define the degree to which democracy or elitism will prevail. It directly participates in the determination of the limits of consumption and rates of intervention. Lastly, it serves either as a vehicle to enhance national



self-determination or to create and maintain international subordination.

### III

#### CONCLUDING OBSERVATIONS

The analysis of state socialism illuminates a central problematic in the application of Marxist theory to the situation of the lesser developed capitalist societies, one which has been suggested by the two concepts: the "primacy of the political" and the "non-capitalist road". Both imply a refutation or revision of the Marxian base--superstructure equation. For in both cases *political power is prior and decisive*, and is deployed to "create" a state apparatus as the means of effecting accumulation and accelerating development ( the "midwife of progress" ). In other words, political power is a prerequisite to economic power, rather than vice versa, as in the case of the capitalist state created by and for an economically pre-eminent bourgeoisie. To be sure neocolonial, capitalist Third world states in general convert state-generated revenues in to private appropriation and thus are best comprehended as state--capitalist, while Eastern European states are subject to certain collectivist uses of accumulated capital and hence more appropriately termed state--socialist. Nevertheless an adequate Marxist analysis of these post-capitalist state forms requires substantial revisions to the Marxist paradigm.

This, in all three paradigms discussed above, the state as a matrix of social relation generates complex organizational apparatus, namely the state bureaucracy. In terms of public administration theory, by incorporating Marxist analysis of "social relations" in to a Weberian model of organizational control, it is possible to analyse this control in which state and civil society are fused. "They are fused in the terms of the development of the organization of the capitalist labour process in relation to the institutional rules governing it."<sup>19</sup> Marxian analysis is interested in the former



(labour process related to surplus-value-production), while Weberian analysis is oriented towards "system of rationality in the organization" with its distinct features of central hierarchy, and authority.

The state in capitalist society must try to fulfil two basic though contradictory obligations: (a) accumulation of profit, and (b) legitimization by maintaining hegemonic domination over all. With respect to the first obligation, the state in capitalist society must try to create and maintain (or defend) those conditions by which some may accumulate profits. But for the other, the state needs to seek legitimization of its existence/role by requiring or creating conditions of apathy, acquiescence and loyalty from the majority in the society who are economically exploited and socially disadvantaged groups (such as women, ethnic minorities, etc.). The state must simultaneously facilitate the exploitation process, yet appear to be protecting the interests of all the people. Bureaucracy is then, the means of achieving these two obligations.

When viewed in Marxian terms as a partisan political agency, the modern administrative state in the west must continue to uphold two major myths. One is that politics and administration are somehow separate, which merely indicates the privileged position of bureaucrats under the guise of political "neutrality" and "anonymity". The myth allows administrators to engage in politics and policy-making without being held accountable for the outcome of their actions. At the same time, the myth helps elected politicians to obscure demands for reform, and to exonerate themselves from policy failures. The second myth is that public servants protect the "public interest" and contribute to the public weal. But in reality they are surrounded by special interest groups whom they were supposed to regulate and balance out. Interest groups have direct links with administrators and government officers, offer pre-planning consul-



tative reports, provide data ( based on their own sources ), thus gaining privileged access. This "cooperative venture" between the regulators ( administrators ) and the "regulated bunch", excludes broader social interests. Departments generally consult with "soon-to-be-affected" organizations and pressure groups before an item of legislation is introduced. In such a situation, collaboration turns into the colonization of public bureaucracy by powerful interest groups. The theory of the modern administrative state conjures up an image of a Leviathan "by which state institutions influence many aspects of the lives of citizens."<sup>20</sup> In such a situation, the administrative machinery and the governing process itself become the principal instruments in the formulation and implementation of all state policies and programs, affecting almost all aspects of an individual's life. As the state bureaucracy evolves into an organized interest representing mainly itself-as underlined by experience so far in the First, Second and Third Worlds-it is progressively alienated from the population whose "servant" it was ostensibly intended to be. George Orwell's *1984* and Franz Kafka's *The Castle* are perhaps two good depictions of this situation. Marx, we have seen, was aware of these alienating and subjugating tendencies of the state and the concentration of power in the hands of a few. His comment on this aspect is worth reproducing to conclude our analysis:

The bureaucracy is a circle from which no one can escape. Its hierarchy is a hierarchy of knowledge. The top entrusts the understanding of detail to the lower levels, whilst the lower levels credit the top with understanding of the general, and so, all are mutually deceived.<sup>21</sup>

#### REFERENCES

1. Eric Olin Wright, "To Control or the Smash the Bureaucracy: Weber and Lenin on Politics, the State and Bureaucracy", *Berkeley Journal of Sociology*, XIX ( 1974-1975 ), p. 98.



2. See, for example, H. Poulantzas, *Fascism and Dictatorship* ( London NLB, 1974 ), Ralph Miliband, *Marxism and Politics*, ( London 1977 ) and Bob Jessop, *The Capitalist State*, ( London : Blackwell, 1981 ).
3. See, Karl Marx, *A Contribution to the Critique of Hegel's Philosophy of Right*, Marx-Engels *Collected Works* Vol. 3, 1843. ( Moscow ; International Publishers, 19 ), pp. ?
4. See Karl Marx, "On the Jewish Question", in Marx-Engels *Collected Works* ( MECW ), Vol. 4, 1854,
5. On this, see in particular, *The German Ideology and Capital*, Vol. 3 both in *MECW*, op. cit.
6. As Bob Jessop (*op cit.*, p. 11) puts it : If it is once conceded that the reproduction of the economic base depends on factors outside its control, it follows that its nature and dynamics cannot provide a sufficient explanation for those of society as a whole—an important insight for our later considerations of Marxist analyses of state-socialism and the Third World state.
7. See, Nell Harding, *Lenin's Political Thought*, ( London, 1981 ).
8. Isaac Deutscher, *The Unfinished Revolution Russia : 1917 - 1967..* ( London : Oxford University Press, 1957 ), pp. 37-38.
9. Neil Harding, "Socialism, Society and the Organic Labour State", in Neil Harding (ed. ), *The State in Socialist Society* ( London: Macmillan, 1984 ), p. 14.
10. V. Lenin, *Selected Works*, ( Moscow: International Publishers, 1969), pp. 267-268. and 280.
11. V. Seymour Wilson, *Canadian Public Policy and Administration: Theory and Environment* ( Toronto: McGraw-Hill Ryerson Ltd., 1981 ),
12. Eva Halevy-Elzoni, *Bureaucracy and Democracy : A Political Dilemma* ( London: Routledge and Kegan Paul, 1983 ), p. 79.
13. Wright, *op cit.*, p. 85.
14. Lenin, *Selected Works*, Vol. II ( Moscow: Foreign Language Publications House, 1947 ), p. 343.
15. Wright, *op cit.*, p. 93.
16. *Ibid*, p. 92.
17. See J. Nef and O. P. Dwivedi, "Development Theory and Administration : A Fence Around an Empty Lot ? , *Indian Journal of Public Administration*, Vol. 27. No. 1, January--March 1981, pp. 42-66;



18. See O. P. Dwivedi and J. Nef, "Crisis and Continuities in Development Theory and Administration: First and Third World Perspectives", *Public Administration and Development*, Vol 2, 1982, pp. 59-77.
19. Alexander Kouzmin, "The Politics of Public Sector Administration", in *Public Sector Administration: New Perspectives*, ed. A. Kouzmin, (Melbourne: Longman Cheshire, 1983) P. 3.
20. V. Wilson and O. P. Dwivedi, "Introduction", in *The Administrative State in Canada*, ed. O.P. Dwivedi (Toronto: Toronto University, 1982), P. 5.
21. Karl Marx quoted in A. Hegedus, *Socialism and Bureaucracy* (London; Allison and Busby, 1976), P. 160.





# IMPERIALISM, WORLD ECONOMY AND THE NEWLY INDUSTRIALIZING COUNTRIES

JAMES PETRAS

## Introduction

The first part of my paper will critically discuss the recent debate on imperialism, its impact on third world social formations and the resultant nature of the various strands of the anti-imperialist movements, citing illustrative examples from the recent experience in Iran. The second section of my paper will critically discuss the neo-Marxist attempts to refocus attention on the world economy as the basic unit of analysis and the efforts to conceptualize it in dichotomized or trichotomized terms—so-called 'center'/'periphery' relations. The third section of the paper will examine the growth and crisis of newly industrializing countries in terms of the previous discussions on imperialism and the structure of the world economy and present an alternative conceptual framework.

## The two faces of Imperialism

In the recent period there has emerged a wide ranging debate on the nature and impact of imperialism on the third world. Warren and his followers have disputed the effects of imperialist penetration, arguing that it has contributed to the development of productive forces and paved the way for national capitalist development. In opposition, the traditional neo-Marxist schools maintain that imperialism led to stagnation and underdevelopment through the appropriation of surplus. Both the Warren school and the neo-Marxists cite Marx's writings: the former discuss Marx's early positive discussions of English imperialism's role in India, while the latter cite his later writings on the consequences of British penetration of Ireland.



A great deal of confusion has been engendered by this discussion because it is largely divorced from the state and class relations which shape the impact of imperialism in each historical context. Equally misleading is the tendency to construe the development of imperialism in a linear, rather than dialectical fashion : the contradictory nature of the implantation of imperial induced capitalist development is flattened out—it is either ‘development’ or ‘underdevelopment’. Imperialist expansion has had a differential impact on third world societies depending on the level and development of the internal class forces and their capacity to influence its trajectory. In colonial regimes, local influence was minimal and there was little capacity to ‘direct’ imperialist penetration, hence surplus extraction and underdevelopment was characteristic of this type of regime. In the post-colonial period this uniform pattern alters, depending upon the nature and structure of the post-colonial states. Leaving aside the revolutionary societies which completely rupture their relations with imperialism, there are, among the capitalist third world countries, a variety of relations and development outcomes resulting from their links to imperialism. In part, these differences are a reflection of the different state structures, and class configurations and, in part, a reflection of imperialist needs ( i. e., access to markets or strategic raw materials ). Essentially we can identify three class-state patterns : (a) the classical *neo-colonial* regime which contains a large expatriate elite in key decision-making positions and which continues to participate in the traditional division of labor with little external or internal diversification of the economy from the colonial period; (b) the *developing collaborator capitalist* regime which is closely linked with imperial capital and state but which increasingly appropriates and channels part of the surplus into internal productive activities, leading to fundamental changes in the internal structures of production ( shifts from agriculture and mining to industry and urban construction ); and (c) *state*



*capitalist* regimes which redefine their relation with imperialism by limiting its participation to specific economic sectors and attempt through the nationalization of the commanding heights of the economy a pattern of national capitalist accumulation.

Iran under the Shah appears to fit the second type of regime. Under his regime, there was both large-scale imperial expansion and extensive local, including state investment in the economy, resulting in an explosive growth of urban areas, industry, construction, commerce and real estate. This *growth* of productive forces directed by the *autocratic* regime in collaboration with local and imperial capital systematically *displaced* the previous influential pre-capitalist classes ( religious figures and merchant, landlords ) while *exploiting* the new working and salaried middle classes. As the process of expansion accelerated so did the displacement and exploitation of new layers of the labor force increase: more and more strata from pre-capitalist society were converted into wage laborers or displaced from petty-commodity production. The *dynamic* of the developing collaborator capitalist regime induced the very class *antagonisms* which would, in the first instance, *paralyze* the growth of productive forces and, secondly, *overthrow* the regime. Thus imperialism induced through autocratic elite domination polarized society; this polarization, in turn, acted to brake the further development of the productive forces; the 'stagnation of the economy' in turn acted back upon the population, accelerating political and social mobilization and fragmenting the institutions upon which the regime relied for control : in this context of institutional disintegration, class polarization, and economic paralysis, the regime was overthrown.

In summary, unlike the mechanical views of Warren and his adversaries—imperialism engendered *growth and stagnation*; development of productive forces and class anta-



gonisms; the process was not linear, *nor* was the role of imperialism *at any point politically or socially* progressive: the productive forces expanded under the aegis of a regime imposed by the CIA, guarded by the SAVAK and secured by the systematic murder and torture of thousands of militants. At all times during the transformation process there existed alternative forces—within the working class and professional petit-bourgeois—capable of accomplishing the same historic task, developing the productive forces, within the framework of a democratic-socialist framework. It is the existence of this alternative democratic-modernizing force within the Iranian capitalist economy that marks out the historically reactionary nature of the Shah's development of the productive forces. Warren's extrapolation and revindication of the development of the productive forces out of the historical, political and class context is what marks his work as a veritable apologia for imperialist exploitation.

On the other hand, the neo-Marxists who failed to recognize the expansive and developmental nature of the Shah's dictatorship, and who simply defined it by its reactionary political and social character, were unable to come to grips with the dual character of the opposition. Imperial-collaborator induced capitalist expansion uprooted and displaced pre-capitalist classes blocking and opposed to the development of the modern forces of production as well as exploiting workers and salaried employers. The neo-Marxists operating with a market definition of capitalism (so-called "circulationists" who defined capitalism in terms of profitable exchanges of commodities in the market) viewed the Iranian social formation as homogeneously 'capitalist'. Failing to recognize the heterogeneity of the social formation, they did not give sufficient attention to the fact that the anti-Imperialist-Shah opposition was developing from two diametrically opposing positions: one a democratic-progressive configuration of modern classes rooted in capi-



talist production and struggling to *transform* it, in some cases to socialism; the other a reactionary coalition of pre-capitalist classes seeking to restore the privileges, power and prerogatives of merchant-clerical society. By reducing Iranian society to imperial-capitalist domination, it was easy ( and false ) to conclude that all anti-imperialist forces were 'progressive'. The enormous weight of the pre-capitalist classes manifested itself in the post-Shah period, when the clerical-reactionary forces completely overwhelmed the secular-democratic coalition.

While the Warren school would have failed to recognize the *socio-politically reactionary* content of the Shah-developed productive forces, the neo-Marxists failed to grasp the *contradictory* nature of the transformation of the productive forces. By simply defining the totality of productive and social relations as 'reactionay', the neo-Marxists fell victim to the ideology of the anti-industrial, anti-modern, anti-imperialism of the clerical forces.

Clearly the *centerpiece* for any progressive transformation of a dynamic imperial-collaborator regime was the modern working class and petit-bourgeoisie. Alliances which subordinated these classes to the leadership of a pre-capitalist coalition was *not* an *advance* over imperialism but a *return* to clerical-merchant domination. Historically secular democratic anti-imperialist classes have forged alliances with pre-capitalist, anti-imperialists but these alliances have paved the way for progressive changes only when the modern classes exercised clear hegemony in the alliance. In Vietnam the Marxists allied with the Buddhists, in Cuba the Fidelistas allied with the small merchant and petty commodity producers, as did the Sandanistas in Nicaragua, but in all cases the worker-peasant forces were the *dominant* group in the alliance—and clearly recognized the divergent interests among the anti-imperialists in the postrevolutionary period. In Iran, as in the case of Cambodia, the petty-commodity



collectivists, with their despotic methods, seized control of the anti-imperialist movement and attempted to reconstruct centralized despotism based on the ideal of small-scale producers; in Iran through private, in Cambodia through collectivist property forms. In both cases, the revolutionary democratic forces who participated in the revolution were not its beneficiaries.

### Alternative Conceptions of the Capitalist World Economy

The conception of the world-economy as divided into core, semiperiphery, periphery does not adequately capture the dynamic growth, specialization and multiple points of accumulation which increasingly characterizes capitalist world development. The old tripartite conception fails to focus on the highly significant internal differentiation within these categories. An alternative conceptual framework designed to account for the increasingly important and highly specific functional relations within and between regions is required. Concretely any approach must recognize the process of capital accumulation in newly developed regional centers and the internal class transformations which have allowed previously 'colonized', 'peripheral' raw material exporters to diversify their relations, develop the productive forces and to appropriate surplus from both imperial centers (finance capital) and less developed regions (raw materials). The active role in regional accumulation adopted by these countries requires that we look beyond the notion that these areas are mere mediators between the core/periphery and examine their role as competitors in surplus appropriation, developing multiple exchange relations: exporting finished durable goods, providing loans and credits and selling low level technology to less developed countries while importing high technology, securing major loans and investment and selling a mix of raw materials and manufactures to advanced capital countries. The grouping together of a new complex of capital exporting, commercial, financial and industrial



centers from the formerly undifferentiated 'periphery' requires the mapping out of the new networks and relationships.

World capitalism can best be understood as a system of hierarchically organized competitive networks in which regimes and countries "specialize" in one or more activities. Our analysis focuses on the changing pattern of networks linking nations and defining their positions and functions in the international division of labor.

Historically, those countries which achieved the highest development of productive forces and the most powerful military-political state apparatus have shaped the international division of labor to their needs, organizing 'specialization' within subordinate regions and countries and incorporating the emerging ensemble in the service of their economic and strategic needs. The classical pattern involved the production and export of finished industrial goods from the metropolitan centers and the import of agro-mineral products from the colonized or semi-colonized countries. Two points require emphasis here: first, while colonies were typically reduced to mineral or agrarian monoculture economies in the service of the metropolis, the economic supremacy of the latter rested on the diversification of its economic base and the global sweep of its multiple economic activities, including manufacture, finance, shipping, agriculture and mining, as well as on its ability to control and profit from dynamic sectors of the colonial economy. In short, in a world in which capital accumulation was frequently equated with specialization in fact hegemonic power lay with optimum diversification. Second, even in the colonies, diverse patterns of specialization began to develop. For example, personnel within India were recruited and served as regional police within southern and eastern Asia; a similar pattern was evidenced in the French use of Senegalese forces in the occupation of Africa. Hundreds of thousands of Korean laborers were impressed to work overseas in



Japanese coal mines, as were Mozambiquan workers in South African mines. These patterns not only defined the fabric of imperialist relations to the detriment of the colonies but set in motion important processes of class differentiation.

More important, certain areas and regions, even in the colonial period, served as banking, administrative and commercial centers, accumulating capital and creating the basis for dynamic growth in the post-colonial period. Lebanon, Singapore, Hong Kong, became banking and commercial centers, retaining some of the surplus appropriated by the imperial countries. The appropriation of surplus, even in the colonial systems, did not reflect the direct transfer from so-called 'periphery' to 'core'. In the post-independence period and especially by the 1970's, industrial and commercial centers in the third world created a complex grid of relations between and among third world countries, and radically altering the composition of trade between some more dynamic regions. Increasingly industrializing third world countries were capturing regional markets, supplying credits and low level technology to less developed areas, while increasingly importing high technology and borrowing financial resources from the imperial centers. The changing networks and the multiple and multi-tiered relations defining the world economy is severely strained by efforts to force them into a trichotomous system of stratification.

The triumph of national independence movements in the decades following the Second World War made possible a margin of discretionary power for former colonial nations in selecting lines of economic activity within the world economy. The degree of autonomy of choice was governed by such diverse internal factors as class composition, the nature of the state, geographical locus, natural resource endowment, technological level, and capital accumulation, as well as by the structure of relationships with regional and international configurations of power. The result was



that while many countries experienced little change in the post-colonial division of labor, some have dramatically transformed their position, becoming the centers of complex regional networks.

Both imperialist and former colonial countries "specialize" in particular forms of economic activity. In the case of the metropolis, these principally take the form of advanced technological centers ( U. S. ) heavy industrial ( Germany, Japan, Italy ), financial (Switzerland, England), and agricultural or resource surplus ( U. S., Canada, Australia, France ) centers. However, there is obviously considerable overlap here as the metropolitan centers vie to establish multiple specializations, indeed, multiplicity of activities on a far flung scale becomes the *sine qua non* of being a 'metropolis'.

In the contemporary world economy, we find a rapidly growing diversification of specializations among many former 'peripheral' countries redefining their position in world networks. If many of these nations or regions not long ago fit the mold of monoculture economics, we can now observe a panoply of activities whose range is suggested by the following: trading centers ( Singapore, Hong Kong), financial centers ( Lebanon, Singapore, Panama ), agricultural export centers ( Argentina ) military base areas ( Philippines, Puerto Rico, Panama ), mineral export centers ( Venezuela, Saudi Arabia, Iran, Chile, Libya, Indonesia ), labor export platforms (North Africa, Mozambique, Mexico, Caribbean ), and tourist centers ( Caribbean). These specializations are in constant flux. The image of stagnation, central to much of the dependency literature, fails to encompass the dynamic changes occurring in important sections of the ex-colonial world as they are progressively encompassed in a capitalist economic nexus. Surplus appropriated from the metropole and the less developed countries has created new dynamic areas and sets of relations in which



regional linkages of domination and subordination begin to preempt the global patterns established earlier by the metropolitan countries.

The world capitalist system operates through networks organized within and between each of its regions. These reciprocally derive from and affect state policy, class structure and class formation throughout the network. The competitive activities between similarly specialized imperial countries and their firms is extended to and shapes larger networks embracing the former colonial nations. When capital in industrial countries competes, for example, over the sale of technology, its activities are complemented by the existence of financial and trading centers which compete among themselves to facilitate investment and circulation of goods. Increasingly, exchanges between industrial and agro-mineral areas are taken over by financial and commercial centers within each region. The functional specialization of the parts—economic, political and military—and the inter-connectedness of the whole are essential elements for the reproduction of capital on a world scale. "Strategic interests" of hegemonic powers must be comprehended in terms not of gains and losses of a single specialization but of changes in *networks* and the possibility of local powers substituting or replacing specialized functions of former imperial countries within the network. The breakdown of networks or their reorientation away from their complementary role within a given imperial system can have a significant adverse affect on the hegemonic position of an imperial power.

International economic specializations are overlaid by politico-military structures organized by the hegemonic powers to maximize their access to markets, labor and resources. The proliferation of independent nation-states and declining capacity of the U. S. to unilaterally and militarily intervene led to an effort to create what some refer to as "sub-imperialist" or "regional" powers. Initially, these



countries were designated by the imperial centers to fulfill a role of gendarme within a given region. The attribution of this role was preceded by a close relationship between the imperial state and the regional power-one in which the specialized agencies of repression and the greater part of the state apparatus had been trained and penetrated by the imperial state.

Recent history suggests that these changes have *only* occurred in the case of a small number of nations. Moreover, it is by no means certain that under-developed states which succeed in achieving regional power status are capable of sustaining their new roles, above all because of the contradictions generated within their own polities by the profound internal changes required. Sub-imperial nation-states of recent vintage have not had the ability to fulfill their roles. The Iranian regime collapsed before the combined opposition of Islamic and Marxist nationalists, undermining the very underpinnings of U. S. strategy in the Middle East. South Africa was incapable of preventing the victory of the MPLA in Angola, in part because without U. S. military intervention it was unable to sustain its drive against Cuban-MPLA forces. The collapse of white minority domination in neighboring Rhodesia, further isolated the regime and inevitably stimulated black revolutionary forces in south Africa.

Brazil, increasingly caught between internal opposition forces, the decline of external markets and increasing debt payments, has begun to experience a deepening economic crisis, combining stagnation and inflation. The assassination of Pak Chung Hee in South Korea, the explosiveness of student led mobilization, followed by the declining economy casts a shadow on the brightest of economic performers. This is not to suggest the imminent collapse of regional powers. However, the declining effectiveness of regional powers in shaping the political universe sustaining the



current international division of labor has increasingly forced the U. S. to reconsider the case for unilateral intervention.

The critical issue, however, that requires emphasis is the growing autonomy of the regional powers and their increasing contradictions with the advanced capitalist centers. Increasingly, they compete over trade in the third world, for loans in the financial market places, for access to cheap raw materials. Given the heightened economic competition, it is not surprising that these regional forces increasingly refuse to be tied into U. S. directed alliances that constrain economic opportunities. Brazil's break with the U. S. over Angola, the Middle East and Central America responds to its growing competitiveness for economic markets and resources. The establishment of new industries among the Southeast Asian countries could lead to greater competition and conflict between them and Japan. The autonomous regional powers, increasingly pre-empt previous dominant capitalist centers and create the basis for polycentric market-financial centers; increasing the level of competition, destabilizing the structure of control, creating multiple sources of conflict and cross-ideological coalitions that define the early classifications.

#### The Crisis of the High Growth Third World Countries

In the seventies a number of writers (let us refer to them as the "neo-developmentalists") began a frontal attack on neo-Marxist "dependency" writers. They argued that all the premises and assumptions, implicit and explicit, in the dependency perspective had been overtaken by events. They attacked the dependency and stagnationist thesis by pointing to the rapid growth rates of many third world countries; they argued that industrialization and growing capitalist homogenization of the world economy, not underdevelopment were the outcomes of integration in the world economy. These critics were a peculiar amalgam of cons-



ervatives and radicals, disciples of Chenery and the World Bank approach, and self-styled orthodox Marxists. While they drew different sets of political conclusions regarding the consequences of these global patterns, they agreed on the economic diagnosis ( and the methodology ).

The profound economic crisis which has undermined the dynamic growth of the countries selected and cited by the neo-developmentalists has called into question the analysis and methods that sustained their central arguments. However, it is not merely the deepening and continuing stagnation and even negative growth rates that are central issues of contention. Rather, the crisis has exposed these countries' vulnerability to "external factors"—the deep structural *dependence* on outside financing, markets, technology. This dependence is illustrated by the frequent and frantic negotiation to refinance spiraling debts to avoid a catastrophic collapse of the financial and industrial structure of these "dynamic countries". If there has been any question regarding the essential quality of this dependence, the regimes themselves ( confirmed as well by the directors of international and private banks ) have pointed to the centrality of external financial assistance ( loans, renegotiations, rollover of debts, etc.) to avoid massive bankruptcy, loss of international creditworthiness, etc. The neo-developmental arguments put forth about national growth ("decline of imperialism, rise of capitalism"), state autonomy, the positive results of capitalist market integration were grossly exaggerated at best and at worst ( and more to the point ) failed to recognize the contradictory nature of that growth and the deep structural constraints that were inherent in the relationships. The spectacle of the world bankers dictating economic policy to Mexico, Brazil, Argentina (among other countries)—specifying trade, investment, budgetary, wage, foreign exchange, etc. policy, is reminiscent of the "custodial" control that fruit companies exercised over the Central American republics.



In the midst of the worldwide depression, these crisis ridden "national regimes" operate within the extremely narrow policy limits established by the multinational banks—constraints that are *essential* conditions for receiving financial assistance. These externally imposed conditions and the policies implemented by regimes reveal the double 'dependence' of the state: its dependence (and not autonomy) on international capital; its dependence and ties to local capital.

However, it would be a mistake to return to the earlier dependence perspectives to understand the dynamic political and social developments that unfold from the present crisis. First, the crisis does not emerge from a static set of immutable dependency relations—rather the forms and linkages that define the current relations are very different than those set out in the 1950's and 1960's. Second, the economic expansion that *did* take place (which the earlier dependency approach failed to acknowledge) established a whole new set of class and political actors that emerge to contest and pose alternatives to the current policy resolutions posed by the regimes and their counterparts among the international bankers. Thirdly, the adverse consequences that result from the overt control manifested by international bank dictation will directly impinge on the wage-salaried classes and strata. The central issue behind the 'debt' is political: the capacity of the (local) state to impose the new economic policies and formulas on the labor force. The dependency approach with its focus on the mechanisms of surplus extraction between regions is inadequate to examine the crucial political developments that are taking place. Between the point at which foreign banks dictate policy and the point at which the financial resources are siphoned out of the country major political confrontations are in the making. The critical relations between the local and state the internal classes, between state coercion and popular mobilization (in responding to the initial policy imperatives)



can seriously affect the direction and consequences of the overall debt payment relation.

The central problem with both the neo-developmental and dependency approaches is the "empiricist methodological style" that extrapolates *growth* or capital flow data from their structural-historical context. The class relations that control the possibilities for market expansion and the realization of profit are ignored by the neo-developmentalists. For the conservative variants of this approach the existence of surplus labor is considered a positive asset ( favorable labor market ) to attract capital, presuming also that the labor market operates unhampered by unwarranted state intervention or class struggle. For the radicals, the class-relations ( and class struggle ) are discussed as a future outcome of prolonged capitalist development, or at best in the process of formation. For this school the key problem is not capitalist exploitation but its relative absence. On the other hand, the dependency analysts extrapolate data from the downswings of the economy and then hook it up to a pseudo-structural analysis, which identifies foreign control with economic stagnation—a dubious proposition which conveniently and absentmindedly omits any consideration of the preceding period of expansionary upswing. Theoretical closure is arbitrarily assigned to the low point in the economic downturn, with the explicit assumption that this is the chronic condition henceforward.

Both apparent adversaries are theoreticians of the conjuncture—each chooses a time frame and data that fits with the presuppositions of their perspective. Neither has looked at the process of capital accumulation and realization within the *class anchored conditions* that have stimulated and constrained growth. At best, these theoreticians of the conjuncture have identified 'positive' or 'negative' qualities of the class relations and assigned them a larger political economic meaning. At worst, they have ignored class



relations and have simply focused on the role markets and capital—assigning each a positive or negative role—according to their political preference.

In our approach, class relations are viewed as the essential basis governing the conditions for expansion and contraction of the world economy. More specifically, the conditions of capital accumulation and realization create wage labor relations which constantly need to be reproduced, first on a national and then international level. The class relations that create surplus value become the barriers for the realization of profit and subsequently for the accumulation of capital: the crisis in exchange relations between regions finds its roots in the crisis of production, i. e., in the relations between classes.

Class relations in the advanced capitalist countries with their increasing labor costs hastened the outflow of capital toward large labor reserves precisely in those regions and during those historic moments when emerging local capitalist and state forces were developing the capacity to promote new industrial development. The combined movement of finance capital from Japan and the west and local entrepreneurship provided a dynamic expansion of capital rooted in the massive transfer and conversion of surplus labor into surplus value. The continued dynamic reproduction of capital in multiple sites in the world economy led to a geometric increase in the volume of goods, while the class relations in the advanced and developing capitalist countries remained frozen: the continued pressure on profits in the advanced countries and continuing constraints on labor in the other regions limited the markets for expansion. The uneven development of class relations between the two regions led first and foremost to efforts by capital to reduce the cost of labor by transferring investment to areas of lower wage levels. 'Realization' of profit occurred elsewhere—outside the local economy. This process of redeployment,



however, was not sufficiently dynamic--not enough capital in productive areas did or could move. The second step was to reduce the labor costs of capital-- first through largescale conversion from productive to speculative activity and later through large-scale reduction in productive activity--the depression of wages through massive unemployment.

In the first instance, the conversion of productive to non-productive capital led to the massive growth of the so-called "service sector" in the U.S. and to the growth of overseas lending. The growth of overseas capital led to the expansion of productive activity abroad, which appeared to compliment the expansion of the services at home. According to superficial observers, the U.S. economy was becoming based on an 'information industry', while the developing countries were becoming industrialized. In actual fact U. S. capital was increasingly becoming a rentier exploiting unit. The first result of this shift was the displacement of significant sectors of unskilled 'minority' and young people from the labor force of the industrialized countries. In the industrializing countries, rural migrants, mostly young people, were being incorporated into the wage labor force. Deproletarianization and proletarianization became two prominent outcome of global economic changes. These changes facilitated the process of capital accumulation and did not block the process of realization. But the crisis deepened as productive capital continued shifting into speculative activity, reducing capital available for employment of wage labor. This increased the cost of productive activity and precipitated and deepened the crisis of industrial capitalism. The increasing pressure of rent and interest payments added to wage squeeze on profits provoked a chronic crisis within the sector of productive capital. This found expression in an accelerated decline in activity. At the same time, increasing overseas flows of capital augmented the availability of goods and services in the industrializing countries at a time when world markets began to shrink. The dynamic alliance of



overseas loan capital and local productive investors began to disintegrate: the crisis in the realization of sales in the world market occurred when the overhang of debt payments was increasing. The repressive class relations necessary to secure low wages and facilitate accumulation in the developing. Capitalist countries blocked any effort to substitute local markets. The financial institutions tightened their grip on the productive systems. As a means of securing their interest payments, they dictated policies depressing wages, increasing exports and cutting state expenditures. These very conditions stipulated by the banks to secure interest payments deepened the depression of industry and hastened conflict between the productive forces in different regions since all nations cannot simultaneously increase their exports and decrease their imports. Increasing competition among nations and the increasing share of income accruing to banking and rentier capital led to a reconcentration of capital toward the advanced capitalist centers. Within these areas, the economic depression and the downward pressure on wages—reconcentrates income in the hand of capital. The massive retreat of the trade union bureaucracy in the advanced capitalist countries (led by the U.S. AFL-CIO) sets the stage for productive capital to reconstitute a new basis for the organization of its productive base. New machinery, technology and a smaller labor force at lower wages leads to selected “economic recovery”, i.e., return of profitability and increases in production, while massive long-term unemployment remains.

The regression of wage payments to labor and the decline of environmental and welfare standards resulting from the concessions conceded by the U.S. trade union bureaucracy create competitive advantages for U.S. capital in the world economy. Business leaders in Europe, Japan and developing countries seek to follow suite—leading to a general assault on the standards of living of labor worldwide. The incremental changes and improvements that characterized the previous period of labor-capital



collaborative expansion give way before the deepening decline and sharpening competition of the present period. The most dynamic industrializing third world countries whose growth was linked to expanding overseas mass markets, long-term, large-scale loans and continuing flows of advanced capital and consumer goods enter into a profound downward cycle : declining export markets, increasing debt payments, industrial bankruptcies and plummeting standards of living. The appearance of a diversified economy is replaced by frantic dependence on centralized financial consortia. The appearance of powerful new national industrial power is replaced by widespread underutilized capacity, and near bankrupt industries unable to sell goods or to import critical inputs or to refinance debts. The illusory autonomy of the state and its related enterprises is replaced by a financial mendacity toward major banking consortia and their international banking associates.

Just as the official lending agencies stepped back in the 1960's to allow the private banks to take over lucrative lending markets, so in the 1980's the public and international lending agencies *return to bail out* the private banks. These shifts in banking roles reveal the class nature of banking policies—when high returns on loans and an expanding economy were prevalent, the capitalist states withdrew from the market allowing private banking capital to amass high profit margins leading to a pyramiding of bank assets and the proliferation of subsidiaries. With the onset of the world economic depression and the threat by debtor countries to renounce payments, the international banks and states are invited by the private banks to provide financial assistance—to allow the debtor states to pay the private banks while the advanced capitalist states assume all the bad debts, delayed payments and prolonged negotiations. In effect, the states are increasing their contribution to the International Monetary Fund and the World Bank, who increase their loans to the debtor countries which, in turn, use the official loans to pay back the interest and principle to the private



banks. Thus while the private banks maximized their interest earnings in the expansive period, the burden of assuming the bad debts in the depression is imposed on the tax payers (mostly wage and salaried employees) of the advanced capitalist countries. Likewise in the developing countries, the costs of repaying the debts are assumed by the state which, in turn, through devaluations, salary-wage freezes and inflationary squeeze imposes the repayment on the wage and salary classes. Thus externally financed expansion and debt repayment in the depression reveal the two sides of the same class reality within the industrializing countries: the flows of benefits and costs are correlated with property-relations. The continuance of this class based system in the depression is dependent on selling the idea that any refusal by the states (and by inference the wage and salaried tax payers, to refinance the loans and save the private banks would lead to the collapse of the "international banking system". Likewise, the ruling regimes in the developing states argue that an unwillingness of the same groups to sacrifice present living standards will bankrupt "the state". To an extent these dire predictions are true: without heightened appropriation of surplus for payments the private banking system and capitalist states will 'collapse'. The point is nevertheless that the collapse of ones of privately controlled institutions does not usher in a period of anarchy- but rather enhance and make imperative the establishment of a new set of collectively owned and democratically controlled institutions. The fundamental flaw in the rhetoric of the ideologues and experts is to equate existing relations with any and all forms of economic structures. Thus the threat posed by Washington policy-makers of either sacrificing to save the present class controlled banking institution or face the 'final collapse' of international exchange and the domestic economy is largely an ideological ploy. The disintegration of bourgeois society is equated with organized society in general.



# TOWARDS A MARXIST THEORY OF DEVELOPMENT

S. K. CHAUBE

## Marx on the dock

An unreal dichotomy is often sought to be built up between the Marxist and the non-Marxist camps in the modern social sciences. The two theoretical systems are assumed to be mutually exclusive. The Marxist social scientists seek to reject the non-Marxist categories and tools as generally conservative forgetting that Marx himself operated within the framework of the bourgeois political system using its traditional categories as well as inventing new ones. The non-Marxists, on the other hand, regard the Marxist method as unscientific, historicist and deterministic besides being not original. Still another strand of criticism about Marx relates to the fact that Marx conceived his theory of class struggle in the context of industrialized Western Europe. The developing countries like India lack industrialization and, hence, the irrelevance of Marx.

For the purpose of resolving the dichotomy, it is necessary to distinguish between what Marx chose to publish and what Marx did not. Whatever Marx seemed to be reasonably certain of presumably went into his authorized publications. Those ideas and views which Marx ventilated in private letters or preserved in manuscripts will normally get less importance than the authorized publications and should be treated as indicators of his thinking or aspiration rather than specific theories or concrete action programmes.

It is also essential to differentiate between two aspects of Marx's personality : his activism and his contemplation. The former specifically relates to Marx's leading role in the socialist, communist movement, the latter to his analytical



writings and theory construction. Marx's public life began with his criticism of religion, moved on into the criticism of the state and its social basis and finally arrived at the enunciation of the theory of class contradiction.<sup>1</sup> By 1843 Marx was a convinced communist. In 1847-48 he authored *The Communist Manifesto*, at the bidding of the Communist League, along with Engels. This pamphleteering activity was tied to the continental revolution which occurred in Germany in February 1848 and in France in June, the same year. These developments intercepted Marx's serious study of the political economy of capitalism which came out only in 1859. Marx's *Contribution to the Critique of Political Economy* was the forerunner of his magnum opus, *Capital*. On the whole, the period after 1848 in Marx's life seems to be more contemplative than action-oriented. In the field of action Marx's greatest contribution was the foundation of the Communist International in 1864. Marx was convinced by that time that capitalism had to be fought internationally.

#### Marx's concept of history

At the most general level the point of controversy relates to the Marxist conception of history which is derived from Hegelian dialectics. In essence the dialectical view of history not only conceives change as inherent in every phenomenon, but also views it to be proceeding through a process of contradiction or negation of being. This philosophy was revolutionary in nature. Until the 19th century 'the conception that had reigned in the philosophy of nature and knowledge for two thousand years, the conception that had become the familiar furniture of the mind, rested on the assumption of superiority of the final; they rested upon change and origin as signs of defect and unreality'<sup>2</sup>. It was not until the birth of the Darwinian theory of evolution that transformation was viewed as a valid form of evolution.

To Hegel goes the credit of observing the dialectical evolution of human history though its content appeared to



be reason rather than material existence. The Hegelian categories were the family, the civil society and state in an ascending order. Marx adopted the Hegelian view of history but substituted material interests for reason. To Marx the chief aim of enquiry is the civil society, rather than the state which is but a superstructure of the society. Marx's social scientific method has been summarized in the phrase 'historical materialism'. History holds the crucial position in the whole theoretical framework. Marx defines history as 'the succession of separate generations, each of which exploits the materials, the capital funds, the productive forces handed down to it by all the preceding generations, and thus, on one hand, continues the traditional activity in completely changed circumstances and, on the other, modifies the old circumstances with a completely changed activity',<sup>3</sup>

This sum of productive forces, capital funds and social forms of intercourse, which every individual and generation finds in existence as something given, in the real basis of what the philosophers have conceived as "substance" and "essence of man" and what they have deified and attacked, in its effects and influence on the development of men, by the fact that these philosophers revolt against it as "self consciousness" and "unique". These conditions of life, which different generations find in existence, decide also whether or not the convulsion will be strong enough to overthrow the basis of the entire existing system...And if these material elements of a complete revolution are not present...then, as far as practical development is concerned, it is absolutely immaterial whether the *idea* of this revolution has been expressed a hundred times already, as the history of communism proves,<sup>4</sup>



### The vocabulary of Marx

The concept of 'class' has created a great deal of confusion among social scientists and historians. A. J. P. Taylor, a leading non-communist historian, while editing *The Communist Manifesto* for the Penguin Press, emphasized that the concept of class was prevalent in French politics since the days of the French Revolution and a commonplace in 19th century European political literature.<sup>5</sup>

Class is certainly not an exclusive jargon of Marxism. Before Marx, as well as after him, class has been used as an aggregative concept standing for an assemblage of similar units. Marx never claimed any credit of originality about the use of the concept. On the other hand, he sought to prove (1) that the existence of classes is only bound up with particular, historic phases in the development of production; (2) that the class-struggle necessarily leads to the dictatorship of the proletariat; (3) that this dictatorship itself only constitutes the transition to the abolition of all classes and to a classless society<sup>6</sup>.

Marx contributed a historical specificity to the concept of class. This specificity, however, took its shape at different stages. Marx substituted the Hegelian goal of social ethics by the goal of material interest. While Hegel considered the three institutions of family, civil society and state as the embodiment of social ethics, Marx devoted his attention to the 'civil society' with emphasis on the material conditions. According to one biographer, Marx found the economic counterpart of his argument in one of the early articles of F. Engels, published in Marx's journal, entitled 'Outlines of a Critique of Political Economy.'<sup>7</sup>

It is, therefore, obvious that Marx's class contradiction is a concept with a specific reference. It can grow only within a system of production relation. Competition of classes involved in different modes of production cannot be viewed as class contradiction. In fact, the relation of the



working class with the peasantry poses considerable difficulty for Marx although Marx sincerely believed that the future of the peasantry (as distinguished from landlords) lay in a united action with the working class.

### The question of inevitability

At a certain stage of their development, the material productive forces of the society come in conflict with the existing relations of production, or-what is but a legal expression for the same thing-with the property relations within which they have been at work hitherto. From forms of development of these productive forces these relations turn into their fetters. Then begins an epoch of social revolution. With the change of the economic foundation the entire immense superstructure is more or less rapidly transformed.'<sup>8</sup>

While the inevitability of 'social revolution' is manifest in Marxian social analysis, the necessity of a 'communist revolution' is the essence of the Marxist programme. The two concepts have occasionally been mixed up to give a distorted interpretation to Marxism. Chapter IV of the *Communist Manifesto*, which has often been cited to render the distortion, in fact, is expressly a summary of communist strategy for securing the 'immediate aims' as well as the 'future of the movement'. Marx's oft-quoted letter to Weydemeyer may of course admit of a literary confusion between 'necessarily' and 'inevitably'. But inevitability is not fundamental to the Marxian system. It is significant that though Britain was considered by Marx as the most developed capitalist system the *Communist Manifesto* did not pin much hope for a proletarian revolution on Britain. After 1848, Marx devoted the major part of his enquiry toward the understanding of the role and development of capitalism for which Britain served as model.



### Marx on Germany and France

In the *Communist Manifesto* Marx and Engels devoted their attention chiefly to Germany not because that country was highly industrialized and the proletariat had developed there most, but because she was

on the eve of a bourgeois revolution that is bound to be carried out under more advanced conditions of European civilization, and with a much more developed proletariat, than that of England was in the seventeenth century, and because the bourgeois revolution in Germany will be but the prelude to an immediately following proletarian revolution.<sup>9</sup>

In fact, in Germany, the communists would 'fight with the bourgeoisie whenever it acts in a revolutionary way, against the absolute monarchy, the feudal squirearchy, and the petty bourgeoisie'<sup>10</sup> for the general communist strategy was to support every revolutionary movement against the existing social and political order of things.<sup>11</sup> Circumstantial evidences rather suggest that Marx was himself not much enthusiastic about the German situation.<sup>12</sup>

There was a greater hope on France. 'When the February Revolution broke out' Engels wrote in 1895, 'all of us, as far as our conceptions of the conditions and the course of revolutionary movements were concerned, were under the spell of previous historical experience, particularly that of France. It was indeed the latter which had dominated the whole of European history since 1789 and from which now once again the signal had gone forth for general revolutionary change'<sup>13</sup>

These profound social and political changes were dealt with in three works of Marx. *The Class Struggles in France 1848 to 1859*, *The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte* and *The Civil War in France*. In the first two Marx shows the essential conservatism of the bourgeoisie, the lack of stead



fastness of the petty bourgeoisie and the necessity of mobilizing the peasantry along with the proletarians. The peasantry, the bulk of France's population, were the chief support base of Louis Bonaparte. Nevertheless, *The Civil War in France* argued that their only hope lay in a united action with the proletariat.

#### Marx's 'historicism'

It is equally fallacious to describe Marx as a historicist. Marx merely described the emergence of the class societies one by one—ancient slave-owning, medieval feudal and modern bourgeois. There is nowhere a suggestion of the inevitability of the growth of one society from the womb of another. There is no suggestion of a unilinear development of society in Marx's exposition. 'In broad outlines Asiatic, ancient, feudal and modern bourgeois modes of production can be designated as the progressive epochs in the economic formation of society'.<sup>14</sup> Marx further wrote:

What we are interested in is not the place which economic relations occupy in the historical succession of different forms of society. We are interested in their organic connection within the modern bourgeois society.<sup>15</sup>

#### Marxism and the peasantry

One of the consequences of Marx's conviction that every form of production must run through its full course before being replaced through a social revolution<sup>16</sup> was his interest in the peasantry. The peasantry, he found, was involved in its own class war with the feudal lords. But, because of its attachment to small holdings, it was incapable of acting as the vanguard of revolution. The French peasant had elected Louis Bonaparte the president of France out of his gratitude to Napoleonic land reform which had freed him from the feudal yoke. The party of Order made Louis Bonaparte the emperor.

Marx's hope for the peasantry lay in the eventual spread of capitalist industry and absorption of the peasantry



in the body of the proletariat. It was toward this future that he devoted a part of his studies to the understanding of the countries of the East, particularly, India. Yet, while writing the preface to the 1882 edition of the *Communist Manifesto*, Marx wondered if the Russian political unrest of the time would mature into a proletarian revolution and asked if the Russian village community, still owing half the total land of the country, could pass directly to the higher form of communist common ownership. 'Or, on the contrary, must it first pass through the same process of dissolution as constitutes the historical evolution of West ?'<sup>17</sup> Thus, the timing of proletarian revolution depends on the specific situation and configuration of forces.

The analysis of the French situation led to a profound analysis of the French peasantry :

The small-holding peasants form a vast mass, the members of which live in similar conditions but without entering into manifold relations with one another. Their mode of production isolates them from one another instead of bringing them into mutual intercourse. The isolation is increased by France's bad means of communication and by the poverty of peasants. Their field of production, the small holding, admits of no division of labour in its cultivation, no application of science and therefore, no diversity of development, no variety of talent, no wealth of social relationships. Each individual peasant family is almost self-sufficient; it itself directly produces the major part of its consumption and thus acquires its means of life more through exchange with nature than in intercourse with society...In so far as millions of families live under economic conditions of existence that separate their mode of life, their interests and their culture from those of the other classes, and put them in hostile opposition to



the latter, they form a class. In so far as there is merely a local interconnection among these small-holding peasants' and the identity of their interests begets no community, no national bond and no political organization among them, they do not form a class. They are consequently incapable of enforcing their class interests in their own name, whether through a parliament or through a convention. They must at the same time appear as their master, as an authority over them, as an unlimited governmental power that protects them against the other classes and sends the rain and sunshine from above. The political influence of the small-holding peasants, therefore, finds its final expression in the executive power subordinating society to itself.<sup>18</sup>

This specific characterization of the French peasantry, with long-ranging implications, has been taken out of context and distorted<sup>19</sup> in such a way as to ascribe to Marx the authorship of the erroneous notion that the peasantry is beyond class analysis. The distortion is obvious. In the first place, Marx was speaking of the 'small land holding peasants' with particular reference to France, where feudalism had been abolished by Napoleon Bonaparte. Marx was not referring to the peasantry as such. In the second place, Marx considered the small-holding peasant objectively as a class but short in class consciousness but mainly to their limited awareness in mid-19th century France.

The peasantry indeed is not a class, it is a cultural, rather than socio-economic category. This does not mean that the peasantry cannot be class-wise divided. Indeed the Marxian analysis of feudalism gives a lie to this interpretation. In his classic, *The Development of Capitalism in Russia* about the end of the 19th century, V. I. Lenin showed how capitalist development was increasing the social division of labour in Tsarist Russia dividing the producers into capitalists and workers and creating a home market at the same time



presenting a brilliant class analysis of the Russian peasantry. In 1926 Mao Zedong in China made another brilliant class analysis of China<sup>20</sup> dominated by agrarian economy, and his struggle was largely small and poor peasant-based.

#### Towards a Marxist alternative

A number of Western and Indian scholars have declared their conviction that the complexities of the Indian situation do not permit a Marxist approach. To the extent that it points out the absence of a clearly identifiable contradiction between one exploiting class and one exploited class among the bulk of the Indian population, the argument has strength. But for occasional references to the regenerative as well as destructive role of British rule in India<sup>21</sup> and the expression of a faint hope for communist transformation in predominantly agrarian Tsarist Russia.<sup>22</sup> there is pretty little in Marx's own writings that can be drawn upon for the understanding of the political processes in the so-called developing countries like India. The Marxist dialectical model, on the other hand, encouraged many a Marxist to undertake political-economic studies of the developing countries, some of them quite successfully.

In 1912, however, Lenin noted that 'The difference between "Europe" and Russia stems from Russia's extreme backwardness'.<sup>23</sup> Lenin observed that agriculture in the western part of the empire was fully developed along the capitalist line while the eastern part still had feudal and archaic modes of production. The subsequent Leninist strategies of socialist revolution and development in Russia led to the emergence of a model which later came to be known as the model for 'non-capitalist development'. Ulyanovsky and Pavlov's critic of Gunnar Myrdal's *Asian Drama* led to considerably detailed enunciation of the model. Reacting to Myrdal's call for eliminating the traditional institutions as the "main stumbling block of progress" they suggest that the call would carry more weight and be more constructive were he to reveal their functional mechanism'.



The secret of the stability of traditional institution is rooted not so much in the strength of the subjective notions and "approaches", and not even in the undisputably important role of mass social psychology as in the fact that these institutions continue to perform a number of very important functions, because the new functional mechanism has not yet taken shape or has not yet gained sufficient prestige. In particular, most of the traditional institutions have retained the important function of redistribution of the product, chiefly that of agriculture and the crafts.<sup>24</sup>

The traditional and still tenacious systems of redistribution of the product differ as regards scale and institutions (clan, tribe, big undivided family, Indian systems of relations between the farming part of the village and the craftsmen, servants and officials, the rural community itself, caste, religious-communal organizations and so on). The principles of redistribution also differ from remuneration for definite labour or social services up to charity allotments and tribute to a privileged individual in a given group. The scale of remuneration is usually determined by a person's position in the social hierarchy of this group which, therefore, acts as the initial unit, the vehicle of socio-class inequality on a national scale, although in any South Asian country class differences engendered by capitalism have long since been superimposed on this traditional inequality and exert increasing influence.<sup>25</sup>

A vast range of production systems characterize the economy of a developing country like India. Consequently, such societies are multi-structured with varying degrees of dominance of capitalist industry.

It is true that the social pattern in the countryside and small towns rests on centuries-old traditions. But class relations in the big urban centres, as regards the working population, are based mainly on wage labour. The comparative fewness of such centres, the



absence of developed capitalist methods of production in the secondary and tertiary sectors of the economy, the tremendous influence wielded by religions, tribal, state and caste customs, the various traditional occupations, the small-scale craft forms of production and exchange, the organic combination of the craft and domestic industry with trade, with the Oriental bazar-all this creates in the towns of Asia and Africa numerous stratifications in the form of "secondary" social pattern which, together with the main pattern in the leading cities, and modernized, forms a symbiosis unknown in the West.<sup>26</sup>

If this symbiosis can, at least partly, explain that great nation-building process envisaged by the development theorists, it will not be impossible to detect in the same situation a dialectical process. There is no denying that concept of multistructured society is yet to be fully developed and, in fact, is partly vitiated by ideological controversies among the Marxists themselves. But such a controversy may itself be a sign of vigour. Instead of conforming to a received theory when the Marxists undertake to examine the pros and cons of it, there may emerge a more comprehensive analytical scheme.

### Conclusion

There is, however, no difference on the essential definition of development. The Marxist conception of development is dialectical rather than cumulative. Lenin summed up its essence in these words :

The two basic ( or two possible ? or two historically observable ? ) conceptions of development ( evolution are : development as decrease and increase, as repetition, and development as a unity of opposites ( the division of a unity into mutually exclusive opposites and their reciprocal relation ),



Mao Zedong elaborated the differences of the two views of development further :

The metaphysical or vulgar evolutionist world outlook sees things as isolated, static and one-sided. It regards all things in the universe, their forms and their species, as eternally isolated from one another and immutable. Such change as there is can only be an increase or decrease in quantity or a change of place. Moreover, the cause of such increase or decrease or change of place is not inside things but outside them, that is, the motive force is external'.<sup>28</sup>

'Does materialist dialectics exclude external causes ?; Mao asks. He himself answers the question. 'Not at all. It holds that external causes are the condition of change and internal causes are the basis of change, and that external causes become operative through internal causes' <sup>29</sup>

There are two kinds of oversimplification resulting from the 'metaphysical' theory of change. The well-known 'modernization' school emerging from the post-war West, particularly the United States, regards Western educational technological and cultural impact as the main catalyst of change in the erstwhile placid and stagnant oriental societies. The other kind of oversimplification results from a distorted nationalist fervour which blames all social unrests in the oriental countries on foreign hand. Both the theories ignore the truism that foreign influences can operate on a soil only when the native conditions are receptive.

The point may be illustrated by an interesting finding of this writer in his work on northeast India.<sup>30</sup>

While it is a general belief that behind almost all troubles in the hill areas of northeast India, the hidden hand of the Christian missions is operative, it was actually found that Christianity in the northeast India hills played not only a progressive role but an integrative role. While British administration in those hill areas sought to sedulously build up



chiefly power and develop private property rights Christian missions imparted the tribals education and democratic values. Occasionally, as a result, the two agencies came to bitter conflict. At the time of transfer of power, the educated middle class in the hills challenged the chiefly powers, thwarted the notorious Coupland plan of the departing British officials to separate the hill areas and joined the hill districts with independent India. In other words, political development in the hill areas of northeast India was determined primarily by the developing social relations to which external influences made rather conflicting contributions.

### REFERENCES

1. Trevor Ling, *Karl Marx and Asian Religion*, Bangalore, Bangalore University, 1978, pp. 1-3.
2. John Dewey, 'The Influence of Darwinism and Philosophy,' in Martin Gardner (ed.) *Great Essays in Science*, New York, Washington Square Press, 1970, p. 16.
3. K. Marx and F. Engels, 'Feurbach, Opposition of the Materialistic and Idealistic Outlook (Chapter 1 of the *German Ideology*)' in K. Marx and F. Engels, *Selected Works*, Vol. 1 Moscow, Progress Publishers, 1969, P. 38.
4. *ibid*, pp. 42-43. Emphasis original.
5. A. J. P. Taylor, 'Introduction' in K. Marx and F. Engels, *The Communist Manifesto* edited by A. J. P. Taylor, Penguin, 1967, pp. 13-14.
6. Marx to Weydemeyer dated March 5, 1852, in K. Marx and F. Engels, *Selected Correspondence*, Moscow, Foreign Language Publishing House, N. D. p. 57.
7. Nikolai Ivanov, *Karl Marx: A Short Biography*, Moscow, Novosti Press Agency Publishing House, 1982, p. 30.
8. K. Marx, 'Preface to a Contribution to the Critique of Political Economy' in Marx and Engels, *Selected Works*, 1, PP. 503-4.
9. Marx and Engels, *The Communist Manifesto* in Marx and Engels, *Selected Works* 1, P. 137.



10. *ibid.*
11. *ibid.*
12. In March 1843, while travelling in Holland, Marx wrote to A. Ruge 'Germany is deeply bogged and getting worse all time. Let me assure you that even if one has not the slightest sense of national pride, one does have a sense of national shame even in Holland. The most insignificant Hollander is anyhow a citizen. Whereas the greatest German is not' (Marx and Engels, *Selected corresponden[ce]* P. 25]. In 1845, however, Engels reported enthusiastically the acclimatization of communist literature in Germany' [ *ibid.*, P. 29 ]. Marx probably never overcame his cynicism about Germany to the effect that he has written very little about Germany. He only lent his name as correspondent and not co—author of 'Revolution and Counter—revolution in Germany. written by Engels.
13. Engels, 'Introduction' to the 1895 edition of Marx's 'The Class Struggle in France', in Marx and Engels, *Selected Works*. Vol.1, p. 189.
14. Marx 'Preface' *op. cit.*, 504. The scheme of unilinear evolution, it appears, was constructed out of Engels' reformulation of L.H Morgan's *Ancient Society* in 1884 and his subsequent ( 1886 ) insertion of a footnote to the *Communist Manifesto* incorporating its substance. ( See Marx and Engels, *Selected Works*, 1, pp. 108—9 )
15. K. Marx, *A Contribution to the Critique of Political Economy* Chicago, Charles Kerr and Co. 1911, pp. 302-4.
16. Marx, 'Preface to a Contribution to the Critique of Political Economy in Marx & Engels' *op. cit.*, P. 504.
17. Marx and Engels, *Selected Works*, I. p. 100
18. Marx, 'The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte, in Marx and Engels, *Selected Works*, 1, pp. 478-79.
19. See Lloyd I. Rudolph and Susanne Hoeber Rudolph, *The Modernity of Tradition : Political Development in India*, New Delhi, Orient Longman 1969.
20. Mao Tse-tung, 'Analysis of the Classes in Chinese Society' in *Selected Works of Mao Tse-tung* 1, Peking, Foreign Language Press 1967, PP. 5-21.
21. Marx and Engels, *Selected Works*, I, PP. 488-89.
22. *ibid.*, pp. 99-101.



23. V. I. Lenin. *The Agrarian Question and the Fight for Freedom*, Moscow Progress, 1975, p. 15.
24. R. Ulyanovsky and V. Pavlov, *Asian Dilemma : A Soviet View and Concept*, Moscow, Progress, 1973. p. 20
25. ibld. p. 41.
26. ibid., p 41.
27. V. I. Lenin, 'On the Question of Dialectics,' in Lenin, *Philosophical Notebook, Collected Works*, Moscow, Foreign Language Publishing House, 1963. pp. 359-63. at p. 360.
28. May Tse-tung ( Zedong ), *'On Contradiction Selected Works of Mao Tse-tung*, Vol. 1. Peking, Foreign Language Press 1967, pp. 311-47 at p, 314.
29. ibid., p. 314.
30. Shibani Kinkar Chaube, *Hill Politics in Northeast India*, Calcutta, Orient Longman, 1973.



# MARXISM AND THE AGRARIAN QUESTION

## A NOTE ON "SUBALTERN STUDIES"

NARAHARI KAVIRAJ

### I

The peasant question has always been a key question in the development of human society. This is because the peasant is "a very essential factor, of the population, production and political power". ( Engels-*The Peasant Question in France and Germany* ). Marxists, therefore, attach much importance to the role of peasant risings that are spread over the entire spectrum of world history. History knows of formidable peasant risings which changed the course of human history. The uprising of the French peasants known as the Jacuarie ( 1358 ). Wat Tyler's revolt in England ( 1381 ), and the peasant war in Germany ( 1525 ) dealt a severe blow to the existing feudal order. Marx called the peasant war of 1525 "the most radical fact of German history"

Marxists attach no less importance to the role the peasants played in the great French Revolution. After the revolution, the peasants were freed of the feudal dues ( quit-rent and corvee ), and the upper strata of the peasantry also acquired land. But so far as the small peasant and the town poor were concerned, they did not gain much. All the gains were appropriated by the big bourgeoisie and their allies who emerged as the leaders of the revolution.

The Bolshevik Revolution in Russia is the only revolution in history that brought about the emancipation of the poor peasantry and the working people. Its distinctive feature was that it was accomplished by the working class in alliance with the working peasantry.

In a backward country, the peasant not only forms the overwhelming majority of the population, he is also the



Indian masses the horizon of real freedom. To put it briefly, where the current of working class politics has failed, the current of peasant insurgency is likely to succeed.

### III

It is fact that during the period between 1757 and 1885 when neither the bourgeoisie nor the working class had emerged as a political force the peasants vented their wrath in a series of spontaneous revolts at frequent intervals.

These revolts of the peasants, the Marxists view with due regard. They consider them to have a definitely positive role since they helped to bring into focus the all exploiting character of the colonial rulers, and at the same time to show the zamindars ijaradars and money-lenders- those lackeys of colonial rulers-in their true colours. They were just struggles of the oppressed against their oppressors, and were in the form of undaunted armed insurrections of the people on a local level. They opened the eyes of the people to the fact that colonial rule and native feudalism were their prime enemies.

It is clear from this that when mounting oppression brought them to the limits of their endurance the peasants in their desperation combined together and to wreak their vengeance upon the immediate enemy broke into angry outbursts of protest.

These outbursts were, of course, of a spontaneous character. But to say that they were spontaneous is not to deny them the elements of consciousness. Even revolts that are spontaneous may contain some elements of consciousness, though that consciousness remains at an embryonic stage and often expresses itself in an immature form.

Many are the signs of such immaturity. For example, these revolts were localised and sporadic in character. They were mainly confined to religious sects or to tribal groups. Their thoughts were very much influenced by the feudal



outlook of the time ( loyalty to a Guru or a spiritual leader etc. ) The leaders of these revolts would have recourse to magic to bring together and consolidate the strength of their followers. For instance, they would spread the rumour that water would come out of British guns, and that the rebels who fell in the field of battle would be restored to life.

Equipped with nothing more than antiquated weapons ( like bows and arrows, or sticks and spears as opposed to the enemies' guns and cannons ), and inspired by a primitive level of consciousness, these revolts were doomed to failure.

These were more in the form of encounters or disturbances than conscious struggle. For such sporadic, disjointed, localised encounters to set up an alternative centre of power by over-throwing British rule, was not within the pale of possibility.

#### IV

The exponents of the subaltern thesis claim that they are inspired by the writings of Antonio Gramsci. It is true Gramsci used the term 'subaltern' in his *Prison Notebooks*. But the question may be asked—whether the subaltern thesis advocated by these scholars is at all consistent with the spirit of Gramsci's writings ?

Without questioning Gramsci's originality in formulating certain problems of Marxist theory, one can point out that on the question of spontaneity and consciousness, the views of Gramsci and Lenin are strikingly similar.

Referring to spontaneous working class struggles in Russia, Lenin writes. "The spontaneous element, in essence represents nothing more nor less than consciousness in an *embryonic form*. Even the primitive revolts expressed the awakening of consciousness to a certain extent. The workers were losing their age-long faith in the permanence of the system which oppressed them and began.....I shall not say to understand, but to sense the necessity for collective resistance, definitely abandoning their slavish submission to



the authorities. But this was, nevertheless, more in the nature of outbursts of desperation and vengeance than of *struggle*" (Lenin, *What is to be Done?*). In the same vein, Lenin refers to the old-style peasant revolts in Asian countries and urges upon the necessity to lift them to a higher plane of conscious struggles (Lenin-Inflammable Material in World Politics).

Very much in the same spirit, Gramsci (incidentally he refers to Lenin in this connection) also deals with the question of spontaneity and consciousness. Gramsci's chief concern was to see that the subaltern does not remain subaltern for all time, to help him to come out of its subordinate position. Gramsci also emphasised the necessity of raising these spontaneous movements to a "higher plane" to "give them a conscious leadership" (*Prison Notebooks*—Quintin Hoare (ed.), pp. 196-202).

And here comes in the question of the hegemony of the working class.

It is true, so far as India is concerned, the working class has not yet succeeded in establishing its hegemony over the peasantry which are still very much under the influence of bourgeois nationalism.

This, however, does not mean that the Marxist concepts of working class hegemony and worker-peasant alliance have been proved to be false. The fact is that the implementation of these concepts, in Indian conditions, for a number of objective as well as subjective factors is being delayed.

The building up of worker-peasant alliance is a long and continuous process which has to pass through many hurdles. The task is difficult and complex. It has to be built brick by brick.

The idea of peasant insurgency is a poor substitute for the concept of worker-peasant alliance. Peasant insurgency is incapable of being a national form of resistance against colonialism. The exponents of the subaltern thesis provide a solution which will hardly stand the test of time. •



# **WORKERS' CO-OPERATIVES IN THE CAPITALIST SYSTEM: REFORMISM OR RADICALISM**

**SHARIT K. BHOWMIK**

## **Introduction :**

The formation of workers' co-operatives, namely, industrial units which are owned, controlled and managed by workers, has been a controversial issue among Marxists in Western countries. Marxists in India, however, have not shown much interest in this problem because there are very few instances of such co-operatives in our country. The tea industry is a notable exception because it is perhaps the only industry where these co-operatives exist. West Bengal has one such tea garden and Tripura has five. There is every likelihood that these co-operatives may spread in this industry and maybe in other industries too. There is hence a need for initiating some discussion, at the academic level and among trade unions, on the Marxian notion of co-operatives and their role in the class struggle. This paper attempts to do this and, alongside, analyse the functioning of workers' co-operatives in the tea industry. The data on the co-operative tea gardens is based on fieldwork conducted in the areas and it pertains to the present situation in these tea gardens.

The debate on the role of workers' co-operatives gained importance in the mid-1970s in England. The Labour Party had been elected to office in early 1974 at a time when the British economy was almost in doldrums. There was a series of factory closures as many of the companies had gone bankrupt. In several cases the workers in these factories decided to takeover the management and run them as co-operatives. It was mainly through the initiative of Tony Benn, a Leftist Labour M. P. and then minister for industries, that the



government agreed to finance some of these co-operatives on experimental basis<sup>1</sup>.

The reactions to this new approach in saving sick industries and restoring jobs were mixed. Some of the socialist groups felt that nationalization was the only means of achieving these objectives and workers' takeover would fail. Even the theoretically sounder Marxist political parties such as the Communist Party of Great Britain ( CPGB ) opposed this idea initially. However, a year later, the CPGB revised its attitude saying that co-operatives were a form of partial democracy<sup>2</sup>.

The bitterest theoretical attack came from the Trotskyites who felt that such endeavour would only help in splitting the working class into several groups and would betray the class struggle. Earnst Mandel<sup>3</sup>, the well-known Trotskyite Marxist economist, noted that workers' co-operatives would create an illusion among the workers that they could control the means of production without changing the framework of the capitalist system. Encouragement of such co-operatives would deflect the struggle of workers, as a class, in taking over the means of production within a society and change it to a struggle of a group of workers trying to take over the management of an industrial unit. At the same time, the competitive nature of capitalism would make workers of each factory compete with the others so as to gain control over the market. In effect, the class power of workers would be converted to the power of groups of workers and the struggle would be fragmented. Mandel stated that workers' control in the true sense can come only when workers as a class control the means of production, namely under the dictatorship of the proletariat.

#### Marx on workers co-operatives

However, Marx's own views on this subject seems to be guided by practicality and bereft of polemics. Surprisingly, the doubts about the potential of these co-operatives which



have been raised by later-day Marxists, seem to be absent in his approach. Marx's views can be found in his Instructions to delegates attending the First Congress of the International Workingmen's Association which was held in Geneva between 3 and 8 September 1866. The extract quoted below, from the section on Co-operative Labour, makes his stand quite clear.<sup>4</sup>

"(a) We acknowledge the co-operative movement as one of the transforming forces of the present society based upon class antagonism. Its great merit is to practically show, that the present pauperising, and despotic system of the *subordination of labour* to capital can be superseded by the republican and beneficent systems *of the association of free and equal producers*.

(b) Restricted, however, to the dwarfish form into which individual wage slaves can elaborate it by their private efforts, the co-operative system will never transform capitalist society. To convert social production into one large and harmonious system of free and co-operative labour, *general changes* are wanted, *changes of the general conditions of society*, never to be realized save by the transfer of the organized forces of society, viz., the state power from capitalists and landlords to the producers themselves."

It is quite evident from the above extract that, while Marx enunciates the radical potential of workers' co-operatives, he also feels that they can never be substitutes for the revolutionary process. One has to therefore distinguish between the use of co-operatives in enhancing the working class movement and, as a tool for class collaboration. Workers' co-operatives can be regarded as one of the institutions for enhancing the class struggle. One cannot think of a "co-operative economy" without radically changing the nature



of production relations. Lenin points this out while criticizing Robert Owen's experiment. Why are the plans of the old co-operators, from Robert Owen onwards, fantastic? he asks. "Because they dreamed of peacefully remodelling contemporary society into socialism without taking account of such fundamental questions as the class struggle, the capture of political power by the working class, the overthrow of the rule of the exploiting class. That is why we are right in regarding as entirely fantastic this 'co-operative' socialism and as romantic, and even banal, the dream of transforming class enemies into class collaborators and class war into class peace ( so-called class truce ) by merely organising the population in co-operative societies."<sup>5</sup>

Workers' co-operatives should be viewed as schools for class consciousness and can serve as allies of the trade union movement. Their main contribution lies in their ability to demonstrate practically that workers are capable of taking over and managing the means of production. If these experiments are publicised and spread to other units, they will help build up confidence in the working class in their struggle to overthrow the forces of capitalism. This is precisely the role Marx stresses in his conception of workers' co-operatives. He recommended that workers' co-operatives must try to promote similar endeavours by spreading the movement to other industries and through propagation of its principles. "We recommend to all co-operative societies" he stated in his guidelines, "to convert one part of their joint income into a fund for propagating their principles by example as well as by precept, in other words, by promoting establishment of new co-operative fabrics, as well as by teaching and preaching"<sup>6</sup>. Marx's approach towards workers' co-operatives, therefore, was a pragmatic one. Unlike some later-day Marxists, he did not write off the few stray cases of workers taking over the management of their factories, which occurred during his time, as misleading workers towards false illusions. Instead, though these



[ 1 ] मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का ही प्रभाव है कि आज सौन्दर्यशास्त्र वैज्ञानिक विचारों की समन्वित प्रक्रिया प्रस्तुत करता है जो सभी रहस्यात्मक आदर्शवादी आकृतियों से परे है।

[ 2 ] वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन के आधार पर कलात्मक तत्वों की पहिचान करता है जिससे मानवमन और हृदय पर पड़े अक्षुण्ण प्रभाव का पता चलता है और इससे ही कला की एक क्रांतिकारी शक्तिवाली उपलब्धि के रूप में प्रतीति होने लगी है।

[ 3 ] इससे ही कलात्मक सर्जनात्मकता की एक स्थिर और वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत होती है।

[ 4 ] इससे कलात्मक संस्कृति का सामाजिक-आर्थिक ( socio-Economic) विकास के सन्दर्भ में प्रगति बोध होता है। समग्रतः मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र एक सामाजिक चेतना है। इसका आधारभूत सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद है जिससे समाज के विकास में एफ गत्वरता का रेखांकन होता है तथा विविध इकाइयों में इसी से ऐक्य का प्रत्यभिज्ञान भी होता है।





संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची

संस्कृत-विज्ञान-संज्ञा-सूची



## महात्मा गांधी और समाजवाद

### कैलाश नाथ तिवारी

मानव समाज की आर्थिक विषमता सभी कठिनाइयों की जड़ है, जिसके चलते समाज विगुलित और मर्महत होता है। पौराणिक हो अथवा पश्चिमी राष्ट्र यह विषमता कमोवेश सभी देशों में है। प्राचीन काल के कुछ मनीषियों ने मनुष्य की आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया परन्तु उनको सफलता नहीं मिली। उदाहरणार्थ—ई० सन् चौथी शताब्दी पूर्व बुद्ध ने विषमता मूलक अर्थव्यवस्था में परिवर्तन करने का स्नपन देखा था। उसी प्रकार अफलातूँ (447-327 ई० पू०) मोन्ती (480-400 ई० पू०) अर्थात् (800 ई० पू०) आदि विचारक उस समाज को देखने के लिए तरसते रहे जिसमें मानवाधिकार समान एवं आर्थिक समता होती।

समाज कहीं का भी हो उसका उत्थान-पतन एक अवश्यसम्भावी क्रिया है। मनुष्य से ही समाज बनता और बिगड़ता है। सुविचार से सुव्यवस्थित वैचारिक दृष्टि पनपती है। अतः जिस देश के मनुष्यों का जैसा विचार होगा वैसी ही वहाँ की सामाजिक दृष्टि होगी। पिछले दो सौ वर्षों के दौरान विश्व ने ऐसे विचारकों को जन्म दिया जिन्होंने समाज को एक नवीन दिशा प्रदान की। जिसमें कार्ल मार्क्स, लेनिन, माओ, आइन्स्टीन, हेगेल, फायरबाख, महात्मा गांधी और सन्तविनोबा भावे का नाम प्रमुख है। यहाँ 'महात्मा गांधी और समाजवाद' पर विचार करते समय यथास्थान इन विचारकों की सम्मति ली जायेगी साथ ही उनके मूलभूत मतभेदों पर भी प्रकाश डाला जायेगा।

वस्तुतः मार्क्स ने जिस नवीन विचार दृष्टि को जन्म दिया संक्षेप में उसी को 'समाजवाद' कहा जाता है। अतः यह 'समाजवाद' की निश्चित परिभाषा हुई। प्रारम्भ से ही समाजवाद पूँजीपतियों का विरोधी रहा है। क्योंकि वह पूँजीपति वर्ग—यानी सभी शोषक वर्ग के विरुद्ध ऐसा अमोघ अस्त्र है जिसका वार न तो कभी खाली गया है, न जाने की गुंजाइश है। संक्षेप में—यह ऐसा दर्शन है जो मजदूरों, कासकारों, असहायों, पीड़ितों भूमिहीनों यानी सर्वहारा वर्ग का पक्का साथी है और पूँजीपति, धर्म-गुरु, सामंत एवं पुरोहितों का कटुतर दुश्मन है। जब कि गांधीवादी सिद्धांत उनका साथी है जो अहिंसात्मक तरीके से जनान्दोलन चलाकर समाजवाद की स्थापना करने में विश्वास करते हैं। इस जनान्दोलन में गांधी इन सभी वर्गों को लेते हैं जो हर तरह के 'शोषण' के विरुद्ध हैं। अर्थात् इसमें ऐसे धनी वर्ग, सामंत-वर्ग और सनातनी भी आ सकते हैं जो प्रगतिशीलता में विश्वास करते हैं और शोषकों से घृणा करते हैं। समाजवादियों का तर्क है कि पूँजीपति ही ऐसा वर्ग है जो मजदूरों का भयंकर शोषण करता है। लेनिन के अनुसार—“वर्तमान समाज पूँजीपतियों और जमींदारों द्वारा विशाल मेहनतकश जनता के शोषण पर आधारित है। यह गुलामों का समाज है, क्योंकि 'स्वतंत्र' कहलाने वाले मजदूर जो तमाम जिन्दगी



पूँजीपतियों के लिए काम करते हैं अपने जीवन विवाह के लिए केवल उतने के ही हकदार होते हैं — जितना एक गुलाम को जिन्दा रहने के लिए दिया जाना आवश्यक है। ताकि वह पूँजीवादी दास्ता को सुरक्षित और कायम रखने के लिए नफा पैदा करते रहें।<sup>1</sup> कुछ विचारकों का तर्क है कि जब 'हृदय-परिवर्तन' की बात असत्य सिद्ध हुई, तब समाजवाद का जन्म हुआ। अर्थात् दो बातें हुयीं। प्रथम पूँजीपतियों, जमींदारों का हर स्तर पर हर ढंग से (चाहे सशस्त्र क्रांति ही क्यों न करनी पड़े) विरोध करना और दूसरा—उनका हृदय परिवर्तन करके सभी पूँजी लेकर जनता की पूँजी घोषित कर देना। ये दो बातें समाजवाद के मूल सिद्धान्त के रूप में आयीं। प्रथम सिद्धान्त का श्रीगणेश रूस, जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, फ्रांस, चीन आदि से हुआ और दूसरे का सूत्रपात गाँधी ने किया।

जिस तरह पश्चिमी समाजवाद को समझने के लिए मार्क्स और लेनिन को जानना आवश्यक है उसी तरह गाँधी-दर्शन को समझने के लिए गीता और उपनिषदों को समझना आवश्यक है। क्योंकि गाँधी गीता और उपनिषदों में समाजवाद ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। गाँधी ही क्यों? यहाँ जो भी विचारक हुआ सभी को इन ग्रन्थों से प्रेरणा मिली। यहाँ तक कि जिस समाजवाद के प्रथम शोध का श्रेय मार्क्स को दिया जाता है वह हमारे वाङ्मय में विद्यमान है —

ॐ ईशा वास्यसिदं सर्वं,

यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेव भुञ्जोथा

मा दृष्टः कस्यस्विद्धनम् ॥<sup>2</sup>

अर्थात् जैसा कि मैंने पहले संकेत किया है, गाँधी ने भारतीय धर्म-ग्रन्थों में समाजवाद ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने उपर्युक्त श्लोक का अर्थ बताते हुए लिखा कि "ईश्वर सर्वत्र है, क्योंकि उसका निवास प्रत्येक कण में है। कोई भी वस्तु किसी की नहीं है। जिसके पास जो भी चीज है विविवाद रूप से उसकी नहीं, ईश्वर की है। ईश्वर ही उसका स्वामी है।"<sup>3</sup> सारांश में पूँजीपतियों, धनियों की जो सम्पत्ति है वह उनकी वहीं ईश्वर की अर्थात् जनता की है, उसपर उनका कोई अधिकार नहीं है। इतना ही वहीं भारतीय जनता के बीच सहज ढंग से प्रवाहित पद—

सब धूमि गोपाल की नामे बटक कहाँ ?

जाके मन में बटक है, सोउ बटक रहा ॥

में समाजवाद का प्रखर स्वर मुखरित हुआ है। यहाँ गोपाल का अर्थ हुआ ईश्वर (वाच्यार्थ से) वाणी जनता का (लक्ष्यार्थ से)।

यह रहा हमारे धर्म-ग्रन्थों में विहित सामाजिक विचार का विशाल भंडार। दूसरी बात पश्चिमी देशों का रहन-सहन रीति-रिवाज खान-पाव, आचार-विचार, भारत से भिन्न है। आज तो उनकी समाजवादी नीति क्रमशः साम्राज्यवादी बनती जा रही है। अतः यह विचार करना कि पश्चिमी समाजवाद जैसा समाजवाद भारत में भी



हो असंगत है। भारत में हिंसा को कभी प्रमुखता नहीं दी गई। यहां हिंसा सभी पापों की जड़ मानी गई है। जहाँ हिंसा पाप का पर्याय मानी जाती हो वहाँ पश्चिमी-समाजवाद की कल्पना करना मात्र कल्पना ही होगी।

समाजवाद क्रांति का पक्षधर है। वह स्व-प्रभुत्व की स्थापना में सशस्त्र क्रांति को अचूक हथियार समझता है। कम्युनिस्ट प्रोग्राम में कहा गया है कि—“कम्युनिस्ट यह साफ़तौर से घोषित करते हैं कि हमारा उद्देश्य सभी वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं को ‘बलपूर्वक’ उठा फेंकने से ही पूरा हो सकता है। सिवा अपनी बेड़ियों के सर्वहारा के पास खाने के लिए है ही क्या ? और पाने के लिए एक सप्ताह है।”<sup>4</sup>

वस्तुतः क्रांति के द्वारा समाज में परिवर्तन किया जा सकता है। क्रांति दो तरह की होती है—वैचारिक और सामाजिक। प्रश्न उठता है कि क्रांति का स्वरूप हिंसात्मक हो अथवा अहिंसात्मक। समाजवादी देशों का इतिहास बताता है कि वहाँ क्रांति और हिंसा अन्ततः एक दूसरे के पूरक हो गये जो गांधी जी के विचार के प्रतिकूल है। क्योंकि गांधी अहिंसात्मक क्रांति और हृदय परिवर्तन पर विशेष जोर देते हैं—“मेरा यह पक्का विश्वास है कि जिस चीज को हिंसा कभी नहीं कर सकती वही अहिंसात्मक असहयोग द्वारा सिद्ध की जा सकती है। हमने हिन्दुस्तान में अहिंसा को उसके अनुरूप मोका अभी तक दिया ही नहीं।”<sup>5</sup>

समाजवादियों की तरह गांधी जी भी वर्गवाद, वर्णवाद, श्रेष्ठवाद, धर्म-रुढ़ि, एवं ऊँच-नीच आदि के कट्टर विरोधी हैं, पर अहिंसात्मक ढंग से। उनके मत में “साम्यवाद का मतलब है—वर्गहीन समाज। यह वेशक उत्तम आदर्श है और उसके लिए अवश्य कोशिश होनी चाहिए। लेकिन जब इस आदर्श को हासिल करने के लिए वह हिंसा का प्रयोग करने की बात करने लगता है, तब मेरा रास्ता उससे अलग हो जाता है। हमसब जन्म से ही समान हैं। असमानता या ऊँच-नीच की भावना एक बुराई है। किन्तु मैं इस बुराई को मनुष्य के सब से उसे तलवार दिखाकर निकाल भगाने में विश्वास नहीं करता। मनुष्य के सब की शुद्धि के लिए यह कोई कारगर साधन नहीं है।”<sup>6</sup> अर्थात् गांधी ऐसे प्रत्येक विचार का विरोध करते हैं जिसमें हिंसा हो, कटुता हो वैमनस्य हो। वे ऐसे समाजवाद की कल्पना करते हैं जिसमें—सज्जद्वारों, पूँजीपतियों, जमींदारों और किसानों का परस्पर सहयोग हो तथा जिसकी नींव हिंसा पर न टिकी हो। क्योंकि भारत और पश्चिमी राष्ट्र की प्रवृत्ति भिन्न है। गांधी के अनुसार “जनता पर जबरदस्ती लाया जाने वाला साम्यवाद भारत को छूटेगा नहीं, भारत की प्रवृत्ति के साथ उसका मेल नहीं बैठता। हाँ यदि साम्यवाद बगैर किसी हिंसा के आये तो हम उसका स्वागत करेंगे।”<sup>7</sup> गांधी का अटूट विश्वास है कि “हिंसा की नींव पर किसी भी स्थायी रचना का निर्माण नहीं हो सकता।”<sup>8</sup>

महात्मा गांधी को यह सालूम था कि कम्युनिस्ट बोधणा पत्र के प्रकाशित होवें ही पश्चिमी राष्ट्रों में व्यापक जनान्दोलन हुआ था। फ्रांस की क्रांति इंग्लैंड का चाटिस्ट



आन्दोलन जर्मनी तथा इतली के सशस्त्र जन-संघर्ष में व्यापक धन जन की हानि हुई थी।

समाजवादी विचारकों और गांधी के बीच धर्म के बारे में मतभेद है। मार्क्स 'धर्म को जनता का अफीम' स्वीकार करता है। लेनिन धर्म के विरुद्ध जेहाद छेड़ने का आह्वान करते हैं। उनका विचार है कि धर्म की लड़ाई को वर्गीय आन्दोलन के ठोस व्यावहारिक काम के साथ जोड़ना चाहिए, जिसका लक्ष्य धर्म के सामाजिक जड़ों का उन्मूलन है। धर्म का प्रभाव शहरी सर्वहारा वर्ग पिछड़े हिस्सों पर, अध सर्वहारा के बड़े हिस्सों पर और कृषक जनता पर क्यों कायम है? जनता के अज्ञान के कारण। यह उत्तर है पूंजीवादी - प्रगतिवादी का अथवा पूंजीवादी - पदार्थवादी का। और इसलिए धर्म मुर्दावाद और अनीश्वर जिन्दावाद। अनीश्वरवादो विचारों का प्रसार ही तो हमारा मुख्य कार्य है<sup>9</sup> जब कि गांधी जी 'सर्वधर्म' समभावके समर्थक थे। उनको मान्यता था की एक राष्ट्र में अनेक जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा आदि के लोग रहते हैं जिसमें परस्पर एकता होनी चाहिए। उनके अनुसार "मेरे लिए 'हिंद स्वराज्य' का अर्थ सबलोगों का राज्य न्याय का राज्य है वह शरीरों का राज्य होगा।" अन्ततः उन्होंने स्वीकार किया की "इसीलिए मैं कम्युनिस्ट होने का दावा करता हूँ।"<sup>10</sup>

लेनिन अपने ग्रन्थों में व्यावहारिक जगत का कोई तथ्य भी नहीं खोज पाते। जब कि भारतीयों का अपने ग्रन्थों पर अटूट विश्वास है। हो सकता है कि पश्चिमी देशों की पुस्तकों में कोई स्थायी विचार न हो। जैसा कि लेनिन ने स्वीकार है किया कि "पूँजीवादी समाज हमारे लिए और चीजों के साथ एक जो सबसे बड़ा अनिष्ट और दुर्भाग्य छोड़ गया है वह है व्यावहारिक जाधन और पुस्तकों के बीच की खाई। क्यों कि ये पुस्तकें ज्यादातर धूर्तता और घृणास्पद मिथ्या कथन से भरी हैं।"<sup>11</sup> पर गांधी ने हिन्दुओं को प्रमुख पुस्तक गीता का हृदयंगम किया था। उन्होंने गीता के श्लोकों का सहारा लिया है—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति कित्विषम ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥<sup>12</sup>

अर्थात् जो सभी भोगों को त्याग कर, अन्तःकरण को जीतकर आशा रहित सभी भोगों को त्यागकर शारीरिक कर्म को करता है यानी हर प्रकार से सन्तुष्ट रहकर (चाहे शोक हो या हर्ष) ईर्ष्यारहित समभाव से कर्मों को करने के बाद भी अनासक्त रहता है। कहते का तात्पर्य यह है कि सन्तुष्ट को संसार के प्राणियों के लिए अनासक्त भाव से कार्य करते रहना चाहिए। इसके लिए उनके मन में किसी भी प्रकार का लोभ नहीं होना चाहिए। अतः गांधी पर इन धर्म ग्रन्थों का व्यापक प्रभाव रहा है। वे अतीत को अच्छाइयों को अपनाकर बुराइयों को जड़ से उखाड़ फेंकने के पक्षधर थे। उनकी भारतीय संस्कृति और



सभ्यता पर अटूट आस्था थी, पर उतने ही वे विक्तियों के शत्रु थे। उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति और भारतीय संस्कृति के अन्तर को पहचाना था। वे समाजवाद की स्थापना में जितने हिंसा के विरोधी थे उतना ही पूँजीपतियों के। हिंसा रहित समाजवाद की स्थापना उनके मन में बार-बार आती थी। उन्होंने पूँजीपतियों को आगाह किया कि 'पूँजीपति समय रहते नहीं चेते तो करोड़ों जाग्रत-व्यज्ञान और भूखे लोग देश में ऐसी गड़बड़ी मचा देंगे जिसको एक बलशाली हुकूमत की फौजी ताकत भी नहीं रोक सकती। मैंने यह आशा रखी है कि भारतवर्ष इस विपत्ति से बचने में सफल होगा'<sup>18</sup>

अतः मैं कहना यह चाहता हूँ कि समाजवादी विचारधारा अप्रासंगिक और तथ्य-रूप्य नहीं है। यह वह विराट दर्शन है जो समानता का सन्देश देता है। पर भारत जैसे देश में समाजवाद का स्वरूप भारतीय ढंग का होना चाहिए। यानी समाजवादी विचारधारा का भारतीयकरण करना होगा। इसके लिए गांधी दर्शन के साथ-साथ भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर विशेष बल देना होगा। इसमें जो कुछ त्याज्य है, सारहीन है, उसे बिना किसी पूर्वाग्रह के छोड़ना होगा और जो ग्रहणीय है उसे स्वीकार कर अपनाना होगा।

### संदर्भ

1. ग्ला० इ० लेनिन—समाजवादी विचार धारा और संस्कृति, पृ० 64
2. ईशावाष्योपनिषद्—प्रथम श्लोक
3. गांधी, गोस्पेल आफ ग्निंशियेसन, पृ० 5
4. राहुल सांकृत्यायन, कार्ल मार्क्स, पृ० 74
5. हरिजन, 20 अप्रैल सन् 1940
6. हरिजन, 13 मार्च सन् 1937
7. वही 13 मार्च सन् 1937
8. यंग इंडिया ( अंग्रेजी साप्ताहिक ), 15 नवम्बर 1928
9. लेनिन, समाजवादी विचार धारा और संस्कृति, पृ० 74
10. हरिजन, 31 मार्च 1946
11. लेनिन, समाजवादी विचारधारा और संस्कृति, पृ० 42
12. गीता, 4/ 21-22
13. यंग इंडिया ( अंग्रेजी दैनिक ) 5 दिसम्बर 1929







attempts failed in the long-run, he found in them a grain of revolutionary consciousness which would enhance the interests of the working class.

It is also true, as the critics hold, that the market mechanism in capitalist system will work in opposition to the objectives of workers' co-operatives. Hence, the relationship of a workers' co-operative with the wider economic system will be in constant tension. However, growth of these co-operatives and alongside, the spread of industrial democracy and ideas of workers' control, can be seen as processes of curbing the blind market powers. These objectives cannot be achieved merely through formation of co-operatives. They must be backed by the trade union movement and political parties as only then can there be a wide base against these powers. In other words, if trade unions actively support workers' co-operatives these organizations will find it less difficult to exist in a hostile economic environment, as their supportive base will not be restricted to only the workers of these organizations but to other workers as well.

In fighting market forces, Marx lays greater stress on the struggles of the working class in overthrowing, or blunting, this process. The workers' co-operative is one of the weapons which can challenge the supremacy of the capitalist class over the means of production. Organizing consumers' co-operatives is a less effective means because they adopt to the present system, rather than challenge it. He therefore states, "*We recommend to the working men to embark on co-operative production rather than in co-operative stores. The latter touch but the surface of the present economical ( sic ) system, the former attacks its groundwork*"

It must be noted that of the nine points recommended by Marx to the First Congress of the International Working Men's Association, six were adopted by the congress, which included the one on co-operative labour. The IWMA



also realized that trade unions must promote workers' co-operatives in order to protect the interests of workers. At its next Congress at Brussels in 1868 it even passed a resolution which recommended that the ultimate objective of trade unions should be to transform themselves into workers-companies. Extracts of the resolution ran as follows,

“If we are such partisans of trade unions...it is not only from regard to the necessities of the present, but also the future social order. To explain, we do not simply consider these as necessary palliatives ( note that we do not say remedies ) no, our views are much higher. From the bottom of the chaos and misery in which we struggle, we lift our eyes to a more harmonious and happy society. Then we see in these trades unions the embryos of the great workers' companies which will one day replace the capitalist companies with their thousands of wage-earners, at least in all industries where collective force is used and there is no middle way between wage-slavery and association. ( As has been shown by recent strikes, Union funds may be used for setting up co-operative productive societies. )”<sup>8</sup>

From the discussion so far, two aspects emerge. Firstly, the constructive role of workers' co-operatives in training and building the working class in its struggle for controlling the means of production. Secondly, the role of trade unions in promoting these institutions. It is implied that in order that trade unions play a significant role in the class struggle their efforts must go beyond the realm of challenging the capitalist system merely through wage struggles. Apart from organizing workers to unitedly fight for better living and working conditions ( which, undoubtedly is an important aspect of class struggle ) the trade union movement must practically demonstrate to the workers that they are capable of controlling the means of production,



The third aspect of workers' co-operatives centre the role of the state. Marx has been very categorical in excluding interference or initiative of the state in formation and management of these institutions. In 1875, he launched a broadside against the idea of establishing producers' co-operatives with State aid, as proposed in the draft programme of the United workers' Party of Germany (also known as the Gotha Programme). He noted that when toiling people demand State aid to set up co-operatives it only expresses "its full consciousness that it neither rules nor is ripe for ruling!"<sup>9</sup>

For co-operatives to emerge as weapons of workers in their class struggle, they must emerge from the genuine desires of the workers to control the means of production and emancipate themselves from the bonds of capitalism. They have to draw strength from their own class and not from an external agency like the State or the government. The following extract from his *Critique of the Gotha Programme* brings out this point.

"That the workers desire to establish conditions for co-operative production on a social scale, and first of all on a national scale, in their own country, only means that they are working to revolutionise the present conditions of production, and it has nothing in common with the foundation of co-operatives with state aid. But as far as the present co-operative societies are concerned, they are of value *only* in so far as they are the independent creations of the workers and not proteges either of governments or of the bourgeois."<sup>10</sup>

The three aspects of workers' co-operatives can serve as the basis for determining their radical content. It would be politically immature to write off these institutions as reformist or utopian merely because they operate within the capitalist system. At the same time, they can neither be proclaimed as a qualitative leap forward, without examining



the circumstances under which they arose and whether they have been able to draw their worker-members towards self-management. We will use this basis in analysing the functioning of the workers' co-operatives in the tea industry.

### **Workers' Co-operatives in the Tea Industry**

Workers' co-operatives are a fairly recent phenomenon in the tea industry. At present there are seven tea gardens in Eastern India which are run in this manner. West Bengal has one, namely, Saongaon Tea and Allied Plantation Workers' Co-operative Society Limited ( Saongaon co-operative ) which was registered in september 1974 and it is in possession of Sonali Tea Estate. Tripura has five such co-operative tea gardens which have all been started after 1978. Assam has one tea garden, namely, Woka Tea Estate, which is owned and managed by the Assam Tea Employees Industrial Co-operative Organization Limited ( ATEICOL ) since October 1975. This tea garden is different from the other workers' co-operatives because it is not an independent co-operative unit, but is a part of a larger co-operative organization.

There are ideological differences between the co-operatives in Assam and those in Tripura and West Bengal. ATEICOL was promoted by the Indian National Trade Union Congress ( INTUC ) which is based on the ideals of Social Democracy, whereas the other co-operatives have been promoted by communists. The workers of Sonali Tea Estate are members of the All India Trade Union Congress ( AITUC ) which is ideologically close to the Communist Party of India ( CPI ) while the co-operatives in Tripura were formed by the Centre of Indian Trade Unions (CITU) which is close to the Communist Party of India ( Marxist ) ( GPI (M). The main difference between the co-operatives in the two states is that the one in West Bengal has had no support from its State Government while the ones in Tripura have had the active encouragement of their government.



This makes a striking contrast, especially since both states have left front governments.

Saongaon Workers' Co-operative ( Sonali Tea Estate )11

Sonali Tea Estate is situated in one corner of Jalpaiguri district in North Bengal. The garden covers an area of approximately 200 acres of which a little less than five hundred acres are under tea. Its labour force is around five hundred of which half are women. The workers are mainly tribals from Chotanagpur, most of whose forefathers were brought to the tea growing areas as indentured labour. An overwhelming majority of the workers, 215 out of the total 225 labour families, are Oraons.

In September 1973, the management of the garden decided that it was unable to run it any more due to its accumulated losses. It therefore abandoned it leaving the workers to their own fates. On 23 September 1974, the Board of Directors of the Company passed a resolution handing over the tea garden and its liabilities to its workers.

The workers tried their utmost to persuade the management to re-start the garden, but to no avail. The condition of the garden was deteriorating day by day and weeds and creepers started growing among the tea bushes. Since plucking operations had stopped, the current crop of tea leaves was past its prime and hence useless. The workers viewed all this with dismay because they realized that a ruined garden would jeopardize their own existence. Finally, in the beginning of December, when no solution emerged, they decided that they would run the garden on their own. Their trade union, the AITUC affiliated 'Cha Bagan Workers' Union, and especially its general secretary, Chinmoy Ghosh, took the initiative in organizing them in this new venture.

A nine—member committee comprising the general secretary of the union and senior workers was formed for supervising the work. The earlier crop of the garden had



been ruined and by the time the workers took over, winter had set in and there was no possibility of a new crop. The gardens in Eastern India do not bear crops in winter and during this time the winter cultivation work, such as, pruning of the bushes, drainage and irrigation work, is done. The workers therefore had no income from the garden during the first three months and they all worked without pay. A few of them had tiny pieces of agricultural land and they could get some food from them. Most workers subsisted on herbs and roots collected from the forest nearby. Malnutrition and starvation was widespread and a few workers died of this.

However, in spite of these difficulties, a majority of the workers continued with the winter cultivation work. Finally, in March, the following year ( 1974 ) the tea bushes bore their first crop, which would not have been possible had the garden not been maintained during winter. The committee sold these leaves to the neighbouring tea gardens and the workers were now able to get a subsistence wage. Initially, these tea gardens took advantage of the workers' helplessness and offered low prices. However, after a month or so, when the workers were in a slightly better financial, the committee was able to bargain for better prices. By May 1974, the workers got their regular wages because of the increased revenue.

The workers also took an unprecedented step of granting equal wages to male and female workers. Traditionally in the tea industry, wages of females were lower than those of males though their nature of work is similar. Sonali Tea Estate became perhaps the first tea garden in the country to remove wage differences between the sexes. This step was taken a year and half before the Equal Remuneration Act, which removed wage differences between sexes, came into force ( i. e., December 1975 ).

On 4 September 1974, the workers formed a co-operative society known as Saongaon Tea and Allied plantation



Workers' Co-operative Society Limited and all of them became its members. Its promoter was Chinmoy Ghosh, the general secretary of their union. This was the first registered workers' co-operative society in the country to run a tea garden.

The garden showed a marked improvement when the co-operative managed it. Inputs of fertilizers, pesticides and weedicides were increased and the workers took greater care in maintaining the tea bushes. The co-operative also increased the area under tea by ten acres, which cost Rs.40,000. These steps helped in increasing production. The average annual production of this tea garden was 850,000 kg of green leaves and its highest recorded yield in the past had been 900,000 kg. However, in 1977, the garden recorded a yield of 1,043,000 kg of green leaves.

The conditions of the workers also improved. Their income increased by 50 percent because the co-operative was more liberal in granting monetary incentives. The amounts spent on medical facilities, house repairing and maintenance, water supply and sanitation were double that of what was spent by the previous management. Hence, under the co-operative, the conditions of the garden as well as its workers showed marked improvement.

It should be noted that all the above mentioned development activities were carried out by the co-operative's income through the sale of green leaves. It received no loan, subsidy or grant from any source. At the same time, by 1977, the co-operative was able to accumulate savings of Rs. 700,000 in the Central Co-operative Bank.

Another important feature is that the garden was run exclusively by the workers and with the help of professional management. The entire management of the garden was done by its tribal labour force with guidance from its union. The co-operative was managed by a Board of Directors comprising nine elected members. The Board met at least



twice a month where it took stock of the work done and planned the future course of action. In fact, all matters concerning the immediate problems of the garden were discussed by the Board.

In order to ensure greater participation in management, at least seven directors were changed at each annual general meeting. This practice encouraged more members to take part in the decision-making process. The composition of the different Boards of Directors show that over the years there was greater representation of the ordinary workers. The committee which existed before the co-operative was formed had only one ordinary worker on it. All other members, apart from the general secretary, were from the supervisory staff ( these people are also tribals ). The co-operative's first Board of Directors had two members from the clerical staff, four from the supervisory staff and three workers, one of whom was a woman, The next Board had one clerk, one supervisor and rest were workers of whom two were women. This composition remained in the subsequent Boards. A representative from the clerical staff was necessary because most of the workers and supervisors were illiterate and they needed some one to note the minutes, deal with the correspondence, etc.

The co-operative, on the suggestion of the union, decided to discard traditional methods of maintaining discipline, such as charge-sheets, show-cause notices, etc. Persuasion, rather than coercion would be used in disciplining erring workers. Whenever cases of indiscipline, such as slackness in work, negligence etc., were reported, the directors would try to persuade the person involved to rectify his or her ways. Meetings in the labour lines were held quite frequently to convince the workers that the situation had now changed and that, since they were the owners, any harm done to the garden would harm them as well. In cases where persuasion did not show results, the matter would be referred to the general Body of the workers. This Body would review



the problem and decide on what sort of corrective measures should be taken.

In policy decisions too, the General Body played an important role. Though the Board was the policy-making body, in matters such as formulation of the budget, plucking schedules<sup>12</sup> and pruning chart,<sup>13</sup> the opinion of the workers were sought. These acts increased the participation of the workers in running the garden and in spreading the notion of workers' control among them. Therefore, though the movement began as the workers' struggle for existence, it went beyond this sphere and it strove to develop as a model for workers' control.

The success of the co-operative was, however, short-lived because, the former owners, on seeing the garden back in shape, decided to stage a come-back. They filed a suit in Calcutta High Court challenging the validity of the co-operative. In July 1978, the co-operative had to hand over possession of the garden to a Court Receiver. In December 1979 the Court gave its verdict upholding the co-operative's registration. Matters, however, did not end there as the former owners initiated more legal battles. The co-operative is at present involved in litigation over the ownership of the garden and its operations have been stayed by a court order, since late 1980<sup>14</sup>.

In spite of these legal hurdles, the workers have remained loyal to the co-operative. Since it has not been able to function all this while, the co-operative has no income and it has been unable to pay the workers their wages for the past three years. The workers are therefore back to where they started, i.e., undergoing the same hardships as when the garden had been abandoned. The main difference between the present situation and the earlier one is that the workers have an alternative. They can leave the co-operative and go over to the side of the so-called owners. The litigation will be withdrawn as the co-operative will have no basis to fight and



the former owners will gain control of the garden. In this case, though the workers will lose control over the garden, they will get back their jobs. However, so far, the workers have decided to remain loyal to their co-operative and bear the accompanying hardship. This act itself shows how deep the ideas of co-operations and workers' control have penetrated among them. These tribal workers would rather starve than give up their new-found freedom.

One of the biggest disadvantages of the workers is that the government has remained totally indifferent to their plight. It could have helped save this experiment by taking over this garden under the provisions of the Tea (Amendment) Acts of 1976 and 1983 which empower the State Government to take over a sick unit for a period of ten years, irrespective of legal problems. The garden could be then handed over to the co-operative. Or else, it could have initiated negotiations with the litigants on behalf of the workers so as to reach some settlement. The indifference of the State Government is undoubtedly causing a great deal of harm to the workers and to this unique experiment.

#### Workers' Co-operatives in Tripura

The position of workers' co-operatives in Tripura is, fortunately, better than in West Bengal. All the five workers' co-operatives have the support of the State Government. The gardens are spread over the three districts of the State. Tachai and Darangdilla are in North Tripura district, and Durgabari is in West Tripura district. South Tripura district has only two tea gardens, Ludua and Lilagarh, and they are both run as workers' co-operatives. The gardens are small and they have less than a hundred workers each.

Tachai Tea Estate is the first workers' co-operative in the State. It is a new garden started in December 1978 by retrenched workers from neighbouring gardens. The other four tea gardens were sick and three of them had been closed for more than a year. The co-operatives at Durgabari



and Ludua were started in 1979, Lilagarh in 1982 and Darangdiila in 1983. All these tea gardens are managed by their respective workers. The only non-worker members of each co-operative are the secretaries of their managing committees. These people are the local CITU leaders and they were the organizers of their respective co-operative. The observations which follow are based on field studies conducted in three of the co-operatives, namely, Tachai, Durgabari and Ludua, during the months of May-June and October-November 1983.

The inspiration for starting the Tachai co-operative came from the general secretary of the CITU affiliated Tripura Tea Workers' Union (TTWU), Shaktipada Chakravarty. He organized the group of 85 workers into forming the co-operative, framed its bye-laws and later persuaded the government to grant it land. By November 1983, the co-operative had brought 85 acres of land under tea. Durgabari and Ludua tea estates had been closed for the past few years. Their workers, like those in Sonali, had to undergo extreme hardship in eking out a living.

The formation of Tachai co-operative inspired other organizers of TTWU to form workers' co-operatives. These people were able to persuade the State Government that workers' co-operatives would be more effective and economical method, of saving sick tea gardens, than nationalization. On examining the functioning of these co-operatives one can conclude that this contention has been proved more or less correct.

A common feature in these three co-operatives is the economy in the use of government funds. Having government support has ensured them grants and subsidies. However, instead of making indiscriminate use of these resources, as is found in most cases, these co-operatives have shown a tendency of using most of the aid for development of their gardens. This will ensure long-term benefits for the workers as their gardens will be on a sound economic basis, though



they ( the workers ) have to sacrifice their welfare facilities during the present period. In Durgabari, the workers have voluntarily accepted a wage cut so that the amount saved on this account can be used for extension of the area under tea. In Ludua, the workers worked for half a day without pay during their holidays, between July and April 1983. so as to fulfill their target. In Tachai, the original estimate, formulated by the Tea Board in 1979, for bringing 85 acres of land under tea was approximately Rs 1,200,000. However, the co-operatives spent a little more than Rs. 700,000 in achieving this target. Here too, the workers showed a high degree of efficiency in their work. thereby reducing the labour costs.

In the field of production too, the co-operatives have shown greater efficiency than the past. The production at Tachai was negligible because it was too early for the garden to produce a crop. A tea bush normally takes five years to produce tea leaves and Tachai's oldest bushes were only four years old when the fieldwork was conducted. The production of Durgabari and Ludua showed high increase during the period 1980-1983. Green leaves produced in Durgabari in 1980 was 27,000 kg. and in 1983 this increased to 80,000 kg. The figures for Ludua for the same period were 55,500 kg. and 110,000 kg.

The co-operative tea gardens of Tripura are State-aided institutions, unlike Saongaon co-operative which is purely a workers' endeavour. However, these institutions differ substantially from other government-sponsored co-operatives because of certain inherent features. Their initial success is largely due too the encouragement and guidance from their organizers and the high degree of participation by their workers. Each organizer took great pains to ensure that the ideas of joint ownership and worker's control reached the ordinary workers. They held frequent meetings with the workers to educate them on these aspects and encouraged them to voice their opinions on various policy issues.



The methods of encouraging workers' participation differed in each garden as each organizer kept experimenting with new idea. In Tachai, the organizer encouraged the workers to have informal discussions on the development of the garden. For *instance*, before deciding on the location of a new plant nursery, each director had discussions with groups of workers to know their opinions. Later, when the Board of Director met, they put forth the views of the workers and held discussions them before taking a final decision. In Durgabari, the organizer held weekly general body meetings where the problem of the garden were discussed. These meetings were lively and the workers freely expressed their views.

The organizer for Ludua did not meet the workers as frequently as the others. He felt that workers must take decisions on their own and learn from their mistakes. He also felt that since the workers have been associated with the garden for a long time, they have greater knowledge about its problem. Hence, if they are given a free hand, they could develop their own concepts of management. The workers did make mistakes and, in the initial stage there was some indiscipline which had its effect on production. However, after a year or so the workers realised their mistakes and decided on corrective measures. For instance, the decision to put in extra work in their holidays was taken on their own, without consulting their organizer. Hence, the workers were able to develop a sense of responsibility from their own experiences and without any prompting from outside.

#### An Assessment

The experiences of Saongaon co-operative and the co-operatives in Tripura reveal that even illiterate workers are capable of managing their own affairs, when given the proper encouragement. These workers, for whom servility and submission to the management's authority had almost become a way of life, have been able to manage their plantations



more efficiently than most professional managements. The experiences of these workers reveal a qualitative advance in class consciousness as they have been able to challenge the supremacy of the capitalist class in the management of enterprise.

Though the co-operatives in Tripura are government-sponsored, they are qualitatively different from the general run of bourgeois government enterprises. The active participation of workers in the management of these co-operatives has prevented the power structure from being centralized in a bureaucracy. Decentralization of power among the general body of workers has given these co-operatives a progressive role as schools for class consciousness. Hence, we can assume that they can play a positive role in the class struggle. In this context, the attitude of the Government of West Bengal towards Saongoan co-operative becomes all the more unfortunate.

Finally, one striking fact about the workers' co-operatives in these two States is that though their organizers are Marxists, none of them were aware of Marx' views on this subject. All of them were acting on a broad Marxist framework that, if workers are to ultimately control the means of production, workers' co-operatives could act as training schools for this process. The organizers were in fact accepting Marx's approach towards workers' co-operatives without being aware of his views. This perhaps shows that even though intellectuals may engage themselves in hair-splitting debates on what is right or what is wrong, Marx's approach, his ideas approximate towards the truth only through action.

#### REFERENCES

1. K. Coates (ed), *The New Worker Co-operatives*, Spokesman Books and Institute for Workers' Control, Nottingham, U. K., 1976, p. 15.
2. *Ibid*, p. 17.



3. Ibid, pp. 18-19.
4. K. Marx and F. Engels, *Selected Works, Volume 2*, Progress Publishers, Moscow, 1976, pp. 81-82.
5. V. I. Lenin, *The Land Question and the Fight for Freedom (Articles and Speeches)*, Progress Publishers, Moscow, 1975, p. 144.
6. Marx, *Op. cit.*, p. 82, emphasis in original.
7. Ibid, p. 82, emphasis in original.
8. Cf. K. Coates and T. Topham, *The New Unionism: The Case for Workers' Control*, Penguin Books, England, 1974, pp. 235-236.
9. K. Marx, *Critique of the Gotha Programme*, Progress Publishers, Moscow, 1976, p. 24.
10. Ibid, p. 24, emphasis in original.
11. More detailed information and analysis on this co-operative can be found in my book; *Class Formation in the Plantation System*, People's Publishing House, New Delhi, 1981, Chapter 6.
12. This refers to the areas in the garden where plucking should be done and the number of days of rest to be given to the bushes in each section before the next round starts.
13. There are different methods of pruning tea bushes. The pruning chart refers to the specific types of pruning to be done in each area of the garden.
14. For details regarding the struggle of the co-operative and its workers in holding on to the garden and the legal problems involved, see my article, "A Workers' Co-operative in Tea: Success Turned into Failure", *Economic and Political Weekly*, Bombay, 31 July 1982

---

**Acknowledgement :** I am grateful to the Indian Council of Social Science Research, New Delhi, for granting me a research project which enabled me to undertake the field study.







# RELEVANCE OF MARX FOR GRAVE DIGGERS OF EMERGING CAPITALIST SOCIETY IN INDIA.

A. R. DESAI

## I

The Central, stormy figure that has dominated the world of thought and action from almost mid—nineteenth century is Karl Marx. His death centenary was observed throughout the world.

No other thinker and fighter for human liberation has provoked so many controversies, so many hostile as well as favourable reactions in human history during a brief period of a mere century and half. "Karl Marx's philosophy of human condition is as celebrated for the charges made against it as for the claims it advances. Generation of western economists, philosophers, historians, socialists and political scientists among others have questioned, criticized and vilified its formulations."<sup>1</sup> With every vilification, refutation and annihilation, Karl Marx' reemerges as the Central figure whose contributions have to be recognized and refuted again. No other leader has provided inspiration to generate titanic torrent of movements for liberation, and battles against exploitation and oppression as Karl Marx. Similarly no other leader has produced hundreds and thousands of gallant martyrs who have faced the most heinous, brutal and systematic persecution, torture and death at the hands of ruling classes.

In fact, Karl Marx, as no other person to-day, symbolizes the hopes, aspirations and growing determination to end exploitation of Man by Man. Karl Marx, is the towering figure, through whom are articulated the profound objective and subjective urges of the proletariat to end domination of



capital over labour, and the deep stirrings of the producing toiling mankind to acquire a firm control over the gigantic means and processes of production, to end the pre-history of human kind and inaugurate an epoch, wherein human kind will direct the processes of production for the assessed needs of the people, ushering in an epoch of free creative existence,

## II

During last hundred years, Marx has been studied from many angles. His contributions as a philosopher; as a logician, as a historian, as a political thinker, as an economist as a sociologist as a generator of profound aesthetic and ethical theories, are examined, analysed, criticized in hundreds and thousands of works. He is also being reviewed and assessed as organizer and provider of strategies and tactics for overthrowing capitalist system and in the societies which have emerged on non-capitalist basis but with enormous deformations to overcome these deformations. His works and life are being viewed and reviewed in terms of his overall strengths and weakness.

In a short article it is not possible to provide an overview of his manysided contributions.

## III

One of the serious allegations against K. Marx made particularly in India, is that he was essentially a Euro-Centric thinker and is at least irrelevant, if not dangerously mischievous for understanding Indian Society with its distinct spiritual ethos and unique history.

This allegation, according to me, is prima-facia baseless and biased. I will try to highlight here, those basic, profound propositions of K. Marx, with regard to Human species, as a whole, which inaugurated a new epoch in both understanding Mankind, and its long past. These propositions are equally valid for understanding Indian Society. I will try to



point out how the profound propositions of K. Marx, make him the most crucial and relevant thinker for understanding Indian Society.

I will first formulate these basic propositions of K. Marx. which are systemtically being evaded, consciously bypassed or distorted by the scholars and ideologues, who make this allegation against Marx.

As I have pointed out elsewhere "The Marxist approach to understand any society and changes therein, distinguishes itself by emphasizing the need to initiate any investigation of social phenomenon in the context of the basic, and primary, almost life-giving, activity carried on by human beings viz. production through instruments of production, to extract and fabricate products from the nature so essential for the survival and persistence of human species. Marx himself has formulated the basic significance of this activity in the following words: "Men can be distinguished from animals by consciousness, by religion, or by anything one likes. They themselves begin to distinguish themselves from animals, as soon as they begin to produce their means of subsistence. In producing their means of subsistence men indirectly produce their actual material life. The way in which men produce their means of subsistence depends in the first place on the nature of the existing means which they have to reproduce. The mode of production should not be regarded simply as the reproduction of physical existence of individuals. It is already a definite form of activity of these individuals, a definite way of expressing their life, a definite mode of life. As individuals express their life, so they are. What they are, therefore, coincides with their production with what they produce, and with how much they produce it. What individuals are, therefore, depends on the material condition of their production". Further "This conception of history, therefore, rests on exposition of real processes of production, starting out from the simple material production of life, and on the comprehension of the form of intercourse



connected with and created by this mode of production i. e. of Civil Society and its various stages as the basis of all history.

"The whole previous conception of history has either completely neglected this real basis of history or has considered it a secondary matter without any connection with the course of history ... We must begin by stating the presupposition of all human existence and therefore, of all history, namely' that man must be in a position to live in order to be able to make history. But life involves before everything else eating and drinking, a habitation, clothing and many other things. The first historical act is, therefore' the production of material life itself. This is indeed a historical act, a fundamental condition of all history, which today as thousands of years ago, must be accomplished every day, and every hour to sustain human life". And Marx emphasizes: "Therefore, the first requirement is to observe this basic fact in all its significance and all its implications and to give its proper importance",<sup>2</sup>

As we can see Marx, provided the profoundest insight into the distinguishing characteristics of human species. He freed our mind from all earlier theological notion of man as a creature of supernatural power, or, idealistic myth that the essence of man is in his thinking, and not in his being. He also gave a death blow to the crude mechanistic materialist assumptions which reduced human being as pre-social isolated individual natural animal forced to enter into contract to survive as man. This assumption underlies most of the bourgeois positivistic thinking. The path-breaking ontological' epistemological, ethical, implication of this insight provided by Marx which form the cornerstone of Marx's thought about human beings is not properly comprehended. Its profound implications in inaugurating a true scientific understanding of human history and human actions are consciously or unconsciously overlooked by his critiques.



What are the major implications of this insight provided by Marx to understand any society ?

We will briefly indicate some of the essential elements implicit in the Marxist Approach.

As pointed out by me elsewhere "The Marxist approach demands from every one, endeavouring to understand social reality, to be clear about the nature of means of production, the techno-economic division of labour involved in operating the instruments of production, and social relations of production or what are more precisely characterized as property relations. Marxist approach considers property relations as crucial because they shape the purpose, nature, control, direction and objectives underlying the production. And further property relations determine the norms about who shall get how much and on what grounds. As rightly pointed out by Robin Blackburn, what defines the specificity of any society is its property system".<sup>3</sup>

#### IV

Is the Marxist approach emphasising the need to give central importance to property relations in analysing any society, irrelevant for understanding Indian Society ?

I will not go into the details of how even the exploratory application of this approach by stray, scattered scholars such as Prof. D. D. Kosambi, Prof. Devi Prasad Chattopadhyaya, Romila Thapar, Prof. R. S. Sharma, Prof. Irfan Habib and a few others have opened up new horizons for understanding India's past history, Prof. K. S. Shelvankar, R. P. Dutt and even myself have tried to indicate the potentiality of this approach to grasp the Indian social reality, during British period. It is my submission that even to understand post-independence Indian social transformation the Marxist approach emphasising the need to start analysing by decoding property relations is crucial.

Marx's central focus of his life-long intellectual toil was to discover, on the basis of this major proposition arrived



by him about the distinctive features of human species, to discover the laws of motion of capitalist society based on the property relations which were emerging in that socio-economic formation. He was grappling to discover the essential tendencies of a society where production for commodities from commodities, by commodities with the aid of commodities was acquiring centrality and production for profit and for market by the private owners of social means of production became the production heart based on capitalist property relations shaping the social fabric.

As rightly pointed by an eminent scholar, Marx's basic endeavour was to understand the new socio-economic order, wherein the wealth of society was an immense aggregate of commodities, and his "essential criticism of the Capitalist order is the latter's systematic dedication to exchange value rather than use-value",<sup>4</sup>

## V

The Indian Society after independance, is being reconstructed by the rulers on the basis of adopting capitalist path of development. The property relations postulated for the development of Indian society are capitalist. The Constitution, the planning frame, the Industrial and Agrarian policies as well as underlying normative juridical principles shaping legal, political and economic relationship are basically assuming capitalist property relations. The classes, relied on for development and economic growth are capitalists, traders, landowners and rich farmers. They are stimulated, aided, assisted, facilitated to produce commodities for market for profit based on their private ownership of means of production. The classes who constitute majority Indian people feared, downgraded, and considered as mere commodities are those who sell their labour power or skills and those who are being shorn of their limited assets, or instruments of production.

Can the development of the society, the emerging class configuration, the accelerating and mounting tensions among



various classes, castes and other groups be understood, without properly comprehending the property relations which are emerging in the country ?

## VI

After a century of Marx's death the profound revolution brought about by him by laying down the guidelines to understand and discover the laws of development of human society in general and capitalist society in particular retains its significance in its crucial essence. His emphasis on focussing on the property relations as axial for understanding any society is not only relevant for studying any society, but much more so to uncover the dialectic of the contemporary Indian society' which is being given a mystic-spiritual unique aura by the Rulers and Ideologues of the exploiting classes in the country.

Under the pressures of world-wide significance of K. Marx and his thought, the Indian Bourgeois state, and proprietary classes, are paying lip service by lionizing him as a saint and a martyr, and thus skillfully undermining the revolutionary core of his profound teachings. The prize-fighting intellectual defenders of the present state and exploiting classes, are cunningly utilizing the anniversary of K. Marx to undermine and vilify him and his contributions by backdoor.

However, the relevance of Marx's approach is being realized more and more poignantly to-day in India by the proletariat both industrial and agrarian, by the growing mass of wage and salaried slaves of the present system and by the pauperized and pauperizing mass of small, marginal, submarginal farmers, ruined artisans and vast mass of toiling womanhood who produce immense use values, but which is not valued in a society based on production of commodities for market and for profit. These toiling masses and classes, headed by proletariat, the grave-digger of Capitalist system, are experiencing the growing degradation, and humiliation in their



living. They are slowly realizing that their creative production labour power is being stifled, suffocated and wasted by the Rulers, pursuing capitalist path of Development who talk of scarce resources but are incompetent to utilize the immense human productive power. They are slowly realizing that for the Rulers, the profit of the proprietary classes is more important than human beings. They slowly feel that they are viewed as commodities and not as human beings worthy to be treated as dignified humans. They realize that instead of being assured the right to work and adequate purchasing power they are being hured into the ever-deepening vortex of unemployment and underemployment and are forced to live a humiliated degrading human existence.

Slowly realizing the profound truth underlying Marx's approach and analysis they are gradually emerging as not merely the grave diggers of the present society but as inauguraters of a new social order founded on a new higher form of property relations, based on social ownership of means of production, and production for the assessed needs of the people.

#### REFERENCES

1. Mc MURTRY, John; "The Structure of Marx's World View" P. 2 (Princeton University Press, Princeton, New Jersey. 1978.
2. Desai A.R "Relevance of the Marxist approach to the Study of Indian Society" PP. 12--13 ( Presidential Address delivered at the 15th All India Sociological Conference, Meerut ( U.P), Published in Sociological Bulletin Vol. 30, No. I, March, 1981.
3. Desai A.R—Ibid, P.13
4. Mc MURTRY John: op. cit. P.20



# MARXISM AND THE INDIAN PROGRAMME OF AGRARIAN REFORM

M. L. UPADHYAYA

The Indian Programme of agrarian reform has been influenced by Marxism from its very inception. Nehru's visit to the Soviet Union had a lasting influence on his approach to social and economic planning. The Indian National Congress had a strong section of Congress socialists in it. Nehru in his speeches on agrarian problems made it very clear that the Congress Party was committed to put an end to the exploitation of tillers of land by the middle man between the state and the tenants. The Congress Agrarian Reforms Committee had shown how the British through the permanent settlement in Bengal created a new class of Zamindars who had in course of time exploited the Ryots. The Zamindars of Bengal and their counterparts in other states known by various names were not the real owners of the land but were mere rent collectors. The real owners and the actual tillers of the land in most cases were reduced to the status of tenants. The Congress Party was therefore committed to restoring ownership of the land to the actual tillers of the land and thus put an end to the exploitative system. Indeed, Mahatma Gandhi and other leaders in the party pleaded that the agrarian question be given top priority. It is, therefore, not surprising that Bills for abolition of Zamindari and other intermediary tenures were pending before the legislatures in several states when the Constitution came into force.

The makers of the Constitution were fully aware of the need and significance of the agrarian reform. The objective resolution moved by Pandit Nehru in the first session of the



Constituent-Assembly had clearly spelt out the need and urgency of the programme. The Prime Minister in his independence day speech of the midnight of 14th August' 1947 had referred to the tryst with destiny and the desire of the nation to redeem the pledges. The preamble to the Constitution among other things gave pride of place to the goal of social and economic justice and equality of status and opportunity. The Laskyites and other socialists in the Constituent Assembly, while conceding the demand of guaranteeing right to property as one of the fundamental rights, saw to it that the programme of agrarian reform was not hit by the said guarantee.

The Constitution in Part IV thereof contains a well articulated charter of social revolution. The philosophy permeating through the provisions of Part IV could be termed as a major inarticulate premise of marxist socialism. Let us recall here what Marx said in his introduction to *Critique of Political Economy*. He observed:—

“The totality of these relations of production constitutes the economic structure of society, the real foundation on which rise legal and political superstructures and to which correspond definite forms of social consciousness. With the change of the economic foundation the entire immense superstructure is more or less rapidly transformed.”

Marx's friend and collaborator Engels improving upon Marx's notion of law being a superstructure explained the relation and interaction of law with society' He observed—

“Such ideological superstructures have a tendency to detach themselves from their economic origin and react in turn upon the economic bases of society.”

Karl Renner, the Austrian jurist, believed that law was not merely a superstructure but could actively express and



influence the trend of social development. Vyshinsky, the Russian jurist, has demonstrated how in the Soviet Union law was used as an effective instrument for abolition of capital and for bringing about socialism.

The instrument of law was, therefore used effectively in furtherance of our objective of bringing about structural changes in the feudal agrarian structure. Pursuant to the charter of social revolution implicit in the directive principles of state policy, a blue print on the social and economic planning was prepared by the Planning Commission in the form of the *Draft First Five Year Plan*. Laws were enacted to abolish all forms of intermediary tenures, vesting lands held by them in the state on payment of nominal compensation and conferring rights of tenure holders on certain kinds of tenants requiring them to pay the price in easy instalments. Far-reaching tenancy reforms were effected to ensure security of tenure and payment of fair rent by the tenants who could not immediately become tenure holders. It was envisaged that one day every tenant will acquire the ownership rights. The institution of private tenancy was to be abolished altogether. Only the tenure holders like a widow, a physically disabled person or a person employed in the armed forces could lease out. Apart from this, one could hold land as tenant only under the government and not from under a private person. The government lessee were eligible to eventually acquire ownership rights. In the matter of allotment of holdings as government lessees, the law provided a process of selection of lessees in such a way that relatively speaking the have-nots are given priority. The landless agricultural workers, people belonging backward classes, scheduled castes and scheduled tribes got priority in such matters.

As is well known, the twin objectives of the Indian Programme of Agrarian reforms was to ensure social justice with increased agricultural production. Measures were adopted to provide economic assistance and inputs to weaker



sections to help realise and achieve these objectives. In order to ensure that small holdings yield higher production, laws were enacted to promote voluntary consolidation of holdings. Besides, with a view to ensuring that all who are willing and who depend on agriculture for their livelihood get a plot of land as their own, laws imposing a maximum limit beyond which no one can hold land were enacted. Land beyond such limit was rendered surplus to be allotted among the landless agricultural workers and others.

All legal challenges to such laws were effectively met by parliament and the Supreme Court upheld the validity of such laws and the Constitutional amendments protecting such laws against any legal attack on any ground. When the Zamindars challenged the validity of Zamindari abolition laws in *Kameshwar Singh's* case, Parliament enacted the Constitution (First Amendment) Act, 1951 which came into force with effect from June 18, 1951. By this amendment, Articles 31A and 31B and the Ninth Schedule were inserted into the Constitution. All the Acts included in the Ninth schedule thus became immune from any attack in any court on any ground notwithstanding any judgement of any court to the contrary. The Zamindars then questioned the validity of the Constitution (First Amendment) itself in the *Sankari Prasad Singh Deo's* case (1951) wherein the Supreme Court upheld the same. Another unsuccessful attempt was made in *Sajjan Singh's* case (1964). The *Golak Nath* (1967) decision of 27.2.1967 which declared that even by an amendment of the Constitution the fundamental rights can not be taken away or abridged saved the agrarian reform programme by prospectively overruling the previous decisions. In *Kesavananda Bharati's* case (1973) the court overruled *Golak Nath* decision and thus helped further the cause of social revolution in general and the agrarian reform in particular. Finally in five landmark decisions rendered on May 9, 1980, the Court reiterated its earlier views on the need and



urgency of agrarian reform and upheld the validity of recent amendments to the various land reform laws.

Thus it will be seen from the foregoing decussion that the Constituent Assembly, the Union Parliament and the Supreme Court did its best to rid the agrarian structure of the exploitative element which was part of the legacy of the colonial heritage. The Planning Commission formulated the programme and placed the same before the National Development Council. The Union Ministry of Agriculture and the Land Reforms Division of the Planning Commission took initiative in organising national conferences and as a result guidelines of Chief Minister's Conferences were issued. Land reform in all its aspects was a state subject and as such it was left to the State Legislatures to implement the guidelines by enacting suitable legislation. The Panel on Land Reforms of the Planning Commission monitored the progress. A task force of the Planning Commission reviewed the situation from time to time. It was revealed that the guidelines though enacted in the legislation, the pace of their implementation was tardy and halting. Indeed, the group which faught for independence and which articulated the charter of social revolution and which formulated ihe programme of agrarian reform found itself unable to carry on the campaign to its conclusion as the course was not conducive to its own security of enjoyment of power.

Let us illustrate the point. After the Zamindari, Jagri-dari, malgujari, talukdari other intermediary tenures had been abolished and a ceiling was imposed on individual holding, the main issue in agrarian reform was to ensure security of tenure and conferring ownership right on the actual tiller of the land. The concept of personal cultivation assumed extraordinary significance in this context. Any one not personally cultivating land was not entitled to hold the same and a tiller under him became entitled to acquire the same. But the interests likely to be adversely affected by



the said measure managed to have the legislation in this respect considerably diluted. The expression "personal cultivation" was defined in such a way as to permit absentee landlords to carry on cultivation through hired labour and servants. Thus a large number of landless agricultural workers who tilled and toiled on land for their masters were exploited by the latter. The laws fixing minimum wages for the agricultural workers were observed more in their breach. The agricultural workers were not organised, The much maligned institution of bonded labour was widely prevalent in agricultural sector. The law abolishing the bonded labour besides freeing them from the clutches of their master rendered them uprooted and orphans. The facilities to rehabilitate them were scarce and did not reach the needy. In any case, the number of landless agricultural labour did not fall nor the incidence of exploitation of such workers could be controlled.

Be that as it may, the definition of the expression "personal cultivation" gave rise to a new problem in the realm of agrarian reform. This was the problem of sharecroppers. The magnitude of the problem could not be precisely measured for want of accurate record of rights. the government and the Planning Commission have shown concern for the sharecroppers from time to time but nothing concrete could be done for want of correct statistics. The absentee landlords in most case engage local cultivators to cultivate the land for them with their own bullocks and implements. The landlords by virtue of their ownership rights claim half the share of produce and thus exploit those who agreed to till the land under such an arrangement of produce sharing. The law prescribes that if an owner of a holdings falls to cultivate himself personally, the actual tiller would acquire the rights. To defeat the claim of the actual tillers, the tenure holders in whose name the holding stood would show fictitious documents to prove that the



actual tiller was not a sharecropper but a mere servant. The tillers being economically weaker would not be able to contest the claim of the absentee tenure holder. the state of West Bengal took a drastic measure in this respect and played a pioneering role. It was provided in the West Bengal Land Reforms Act that a person cultivating a particular holding for the time being shall be presumed to be a sharecropper until the contrary is proved and hence entitle to the ownership rights in due course. The person cultivating a holding for the time being shall be registered as such a sharecropper and the onus to prove that he is not a sharecropper shall be on the person who alleges that he is merely a servant and not a sharecropper. Such a provision deserves to be emulated by other States.

In sum, we may say that though the programme of agrarian reform was inspired by Marxist ideals of promoting social justice and ending exploitation of toiling masses in the agrarian sector, the landowning class succeeded in sabotaging the programme in its implementation. The bureaucracy, the legal profession and the judiciary., mainly drawn from elitist classes, failed to rise to the occasion and hindered the implementation of the programme in diverse ways. Owing to poor performance of the Revenue Officials and long drawn out litigation against the action of Revenue Officers in courts, the land likely to be rendered surplus as a consequence of ceiling legislation could not be acquired and distributed among the landless agricultural workers. Unless the law extends positive protection to the sharecroppers against the powerful tenure-holders, the institution of sharecroppers—who are worse than tenants at will—can not be abolished. The sharecroppers in certain cases are worse than tenants at will as the landlords keep them moving from one holding to another so as to ensure that they are not registered to have cultivated a particular holding for a number of years and thereby become eligible to security of tenure. In our



opinion, the programme of agrarian reform may help end exploitation of those who work and land and convert the actual tillers into landowners only when the definition of personal cultivation is so amended that nobody who does not personally cultivate is eligible to own it. Then only will the present system end where a person living in town and engaged in other business finds investment in agricultural land profitable. Indeed, investment in land for some has proved to be a tax haven. The taxation of agricultural income needs careful study so as to enable the states to tap this new source of revenue. The nature and extent of exemptions under the ceiling legislations have to be reviewed.

Thus to recapitulate, the programme of agrarian reform calls for urgent steps to ( a ) amend the definition of personal cultivation. ( b ) revamp the system of agricultural taxation ( c ) review the nature of exemptions under the ceiling legislation and ( d ) revise the states of land revenue where the land is used for mechanised farming, orchards, groves, plantations etc. But this could be achieved only when the landless agricultural labour and people belonging to other backward classes are organised to put up an effective fight against the powerful lobby of the landowning classes. Parliament and the Supreme Court have so far shown a spirit of understanding and accommodation for the need and urgency for the programme and have thwarted all attacks to the constitutional validity of various legislative measures adopted to give effect to the various policies. However, ways need to be devised to guard against the obstructions put in the implementation of the laws by the stay orders granted by the High Courts against the administrative orders passed by the Revenue officers. This could be avoided either by providing a systems of appeals or review outside the court systems or ensuring that the courts granting stay orders would expedite early hearing and disposal or vacate the stay order after a reasonable period.



Thus what is necessary is to organise the agricultural labour, reorient the outlook of the bureaucracy and to create awareness among the legal profession of the urgent need of the programme of agrarian reform.

## REFERENCES

1. Shankri Prasad Singh Deo V. Union of India, AIR 1951 SC 458
2. Sajjan Singh V. State of Rajasthan, AIR 1965 S.C. 845
3. Golak Nath V. State of Punjab, AIR 1967 S.C. 1643
4. Kesavannd Bharti V. State of Kerala. AIR 1973 SC 1461
5. Ambika prasad V. State of Uttar pradesh, AIR 1980 S.C. 1789
6. Nandlal V. State of Haryana, AIR 1980 S.C. 2097
7. T. Venkaish V. State of Andhra Pradesh, AIR 1980 S.C. 1568.
8. Sasanka Sekhar Maity V. Union of India, AIR 1981 S C. 522.
9. Waman Rao V. Union of India, AIR 1981 SC 271.
10. H.C.L. Merillat, *Land and Constitution in India*, 1970.
11. M.L. Upadhyaya, "Legal Aspects of Agrarian Reform in India," in Murphy and others ( ed ) *Law and Poverty: Cases and Materials*, 970.
12. M.L. Updhayaya, "Constitution and the Agrarian Reform", V. A. L. R. 82 ( 1973 )
13. M.L. UPadhyaya, *Judicial Process and Agrarian Reform*," 25 J.I,L,I. ( 1983 ) Pp. 238-261.



The Indian program is an integral part of the national development plan. It is designed to improve the living conditions of the Indian population and to promote their economic and social progress. The program is based on the principles of self-help and community development.

The program is implemented through a series of projects and activities. These include the construction of roads, bridges, and schools, as well as the provision of medical and social services.

The program is financed by the Government of India and the Indian States. It is also supported by the Indian people through their contributions to the program.

The program is a long-term project. It is designed to be continued for many years to come. It is a project that will benefit the Indian people for generations to come.

The program is a project of national importance. It is a project that will help to build a better India for the future.

The program is a project of national pride. It is a project that will show the world that India is a country that is committed to the welfare of its people.

The program is a project of national unity. It is a project that will bring the Indian people together and help them to build a better future for themselves.

The program is a project of national progress. It is a project that will help to improve the living conditions of the Indian people and to promote their economic and social progress.

The program is a project of national development. It is a project that will help to build a better India for the future.

The program is a project of national improvement. It is a project that will help to improve the living conditions of the Indian people and to promote their economic and social progress.

The program is a project of national betterment. It is a project that will help to build a better India for the future.

The program is a project of national advancement. It is a project that will help to improve the living conditions of the Indian people and to promote their economic and social progress.

The program is a project of national progress. It is a project that will help to build a better India for the future.

The program is a project of national development. It is a project that will help to improve the living conditions of the Indian people and to promote their economic and social progress.

The program is a project of national improvement. It is a project that will help to build a better India for the future.



# CO-OPERATIVES IN INDIA : THE LACK OF A MARXIST VIEW POINT

N. RAJARAM

## Introduction :

This paper brings out the lack of Marxist scholarship in India on a crucial but neglected area of importance—viz., co-operatives. It emphasizes the need for such a scholarship. We begin this analysis by highlighting the important viewpoints of Marx and Lenin on co-operatives, and also point out that their followers in Europe have made further contributions to it. All this is examined in Section 1. We then examine in Section 2, the various salient features of co-operatives in India and attempt to show the crucial lack of Marxist analysis and Marxist study of this area. And in Section 3, we conclude with a plea for such Marxist scholarship in the context of changing socio-political scenario especially during the last two decades.

## Section 1 :

For societies suffering from glaring inequities and where the overwhelming section of the population live below the poverty line, co-operatives and co-operative organisations<sup>1</sup> are considered to be a remedy and a solution to this problem, as these organisations not only attempt to mitigate the glaring inequities but also act as impulses to economic development. By a process of mutual aid, it has been argued, that the hitherto exploited would be able to overcome the obstacles on the basis of collective strength, and thus better not only themselves as individuals, but the collectivity as well.<sup>2</sup>

The position of Marx and subsequently that of Lenin has not been much different from the above. Even though



they have written copiously on this theme, whatever little they have said gives us sufficient insight into their viewpoint on this. Let us first see what Marx and subsequently Lenin has to say on co-operatives.

One of the earliest references we find in Marx's writings is when he refers to "co-operative labour" in the course of preparing instructions for the delegates of the Provisional Central Council ( later called General council ) sent to the First Congress of International Working Men's Association, held in Geneva on September 3-8, 1866. These instructions provided answers to questions which were to be discussed by the Congress ( Karl Marx : *Selected Works*, vol. II, 441, footnote 38 ). There were nine points issued as instructions by Marx and, of these, six including one on co-operative labour, were adopted as resolutions by the congress.

If we delve further, we can notice what Marx has to say about 'Cooperative movement'. Marx 'enunciates' a few general principles and has this to say :

"(a) We acknowledge the co-operative movement as one of the transforming forces of the present society based upon class antagonism. Its great merit is to practically show that the present pauperising, and despotic system of the *subordination of labour* to capital can be superseded by the republication and beneficent system of *the association of free and equal producers*.

(b) Restricted, however, to the dwarfish forms into which individual wage slaves can elaborate it by their private efforts, the co-operative system will never transform capitalistic society. To convert social production into one large and harmonious system of free and co-operative labour *general social changes* are wanted, *changes of the general conditions of society*, never to be realised save by the transfer of the organised forces of society, viz., the state power, from capitalists and landlords to the producers themselves.



(c) We recommend to the working men to embark in *co-operative production* rather than *co-operative stores*. The latter touch but the surface of the present economical system, the former attacks its groundwork" (Karl Marx : *Selected Works* : vol. II, 81-82 ).

Marx makes two more points—one is where he advocates that cooperative ought to propagate their principles by teaching and preaching; and he also adds that workers ought to share alike permitting "as a mere temporary expedient" a low rate of interest to shareholders.

The above arguments of Marx make clear the transformative potentialities of the co-operatives, and that it is preferable to capitalistic system of exploitation. But Marx also makes clear that co-operatives cannot transform capitalistic society. Although they bring out the limitations, Marx emphasises the potentialities of "cooperative production" as attacking the groundwork of capitalism. But then subsequently this theme is not elaborated. It is perhaps one of those statements of a great personality which has not been tied up into the whole argument of the transformation of capitalism to socialism.

One can only speculate here as to why this has not been done so. Perhaps cooperative form of organisation was only a notion yet to be realised on a large scale; and even the experience of the first co-operative in England was not very enthrusting, for the Rochdale experiment, which emerged in the 1840s, within a decade of its founding remained only a business organisation ( Cole, 1944, : 88-89 ). All this along with the difference between Marx and other well-known proponents of cooperatives,<sup>3</sup> did not result perhaps in Marx giving more attention to cooperatives.

Thus, it is not surprising to find when we turn our attention to present day socialist countries that the writings on co-operatives have drawn their inspiration from Lenin ( Erdei, 1963 : 1; Kowalak, 1972 : 35; Meszaros, 1972 : 32;



Klimov, 1969 : 16 ). Even though Lenin himself has not written much on co-operatives, the little he has expressed gives a sufficient insight into his attitude to co-operatives.

Writing in 1923 "on co-operation", Lenin distinguishes the role of co-operatives in different systems. He says :

"Under private capitalism, cooperative enterprises differ from capitalist enterprises as collective enterprises differ from private enterprises. Under state capitalism co-operative enterprises differ from state capitalist enterprises firstly, because they are private enterprises, and secondly, because they are collective enterprises if the land on which they are situated, and the means of production belong to the state i.e. the working class. (Lenin, *Collected Works* : vol. 33; 473).

Lenin also observes that co-operatives in post-revolution Russia had a very important role to play in the development to a new system. He deprecates the underestimation of the 'practical workers' "to appreciate their ( co-operatives) exceptional importance...from the standpoint of transition to the new system by means that are "*simplest, easiest and most acceptable to the peasant*" ( emphasis in original ). ( Lenin, *Selected Works*, vol. 3 : 705 ),

He adds later "Now we are entitled to say that the mere growth of co-operation...is identical with the growth of socialism and adds that previously their emphasis was "on the political struggle, on revolution, on winning political power, etc. Now the emphasis is changing and shifting to peaceful, organisational, cultural work. I should say that emphasis is shifting to educational work..." Later in the same page he adds that "the economic object of this educational work is to organise the latter in cooperative societies. If the whole peasantry had been organised in co-operatives, we would by now have been standing with both feet on the soil of socialism." ( Lenin, *Selected Works*, vol. 3 : 709 ),



The importance attached to co-operatives and the potentialities seen in it in the 'growth of socialism' by Lenin, influenced and inspired, as mentioned earlier, other writers in socialist countries. Amongst the numerous writers from the socialist bloc, the views of Oscar Lange ( 1970 ) might succinctly sum up the main attitude to co-operatives. Arguing and emphasising like others distinction between co-operative and socialist ownership, he adds that "cooperatives are a form of socialist accumulation and the basis of the development of a socialist country". (Oscar Lange, 1970 : 129 ).

#### Section 2 :

We now turn our attention to co-operatives in India and examine their salient features.

India has consciously adopted the co-operative approach right from the time of Nehru. Nehru had even declared "cooperative commonwealth" as a goal of India ( M. L. Sharma, 1971 : 2 ). Although co-operatives did not grow and mushroom as Nehru desired in post-independence India, still they occupy an important place in Government of India's plans. The sixth five year plan ( 1980-85 ) has earmarked Rs. 914.23 crores for this. The Planning Commission of the Government of India argues —

"The non-exploitative character of co-operatives, voluntary nature of their membership, the principle of one man one vote, decentralised decision making and self imposed curbs on profit, eminently qualified them as an instrument of development combining the advantage of private ownership with public good," ( Sixth Plan, Point 11.46 ).

One of the salient features of co-operatives in India is the dominance of credit co-operatives. In fact the first co-operatives that came into existence in India were credit co-operatives. The co-operative credit Society Act of 1904 saw their emergence to meet the credit requirements of that period. Even as recent as 1980-81, there were 94,019 primary



agricultural credit societies in a total of 3 lakh co-operative societies in the country,<sup>4</sup> constituting thus nearly a third of all co-operative societies.

Besides this feature of co-operatives in India, two other features that stand out—one of which is that co-operatives, by and large, have not done well. Statistical information published by the Reserve Bank of India<sup>5</sup> only show that large number of credit co-operatives suffer from overdues, dormancy, loss. The state of other types of nonagrarian co-operatives is no different from that of agrarian credit co-operatives (Rajaram, 1979: 42–92). So the remark of D. Thorner (1964: 1) “as a whole the first half century of co-operation (1904–1954) has been written off as a failure” would not be far off the mark.

This dismal picture is not uniform for India. There are certain states where co-operatives of certain types have taken roots and proved to be economically viable. Most obvious instances are the sugar co-operatives in Maharashtra and milk co-operatives in Gujarat especially in Kheda district. Bavis-  
kar (1900) has made one such systematic study of a sugar co-operative in Ahmednagar district of Maharashtra, although from a non-Marxian angle. In case of Gujarat, the milk co-operatives of kheda district have been considered such a success (the ‘Amul’ Story), so much so they are being replicated in many districts and in many states under operation Flood projects, at an estimated cost of Rs. 485 crores (IDC, 1983: 11).<sup>6</sup>

Besides these two well known instances, there are other individual instances of cooperatives, which have taken roots in other parts as well (Raghava Rao, 1974; T. K. Oommen, 1974).

Now the question that emerges is why do co-operatives take roots in certain areas? What type of class structures favours successful cooperative formation? And perhaps of more interest to a Marxian, do co-operatives emerge in a situ-



ation of glaring and worsening inequity ? Do cooperatives stem the exploitation ? An answer to all these would be of much interest—but which has not yet been attempted from a Marxian viewpoint.

### Section 3 :

Till now we have examined the main features of the cooperative situation in India. We now turn attention to scholarship on co-operatives in India. As such there are a large number of works and publications on cooperatives, but when we survey the literature, we notice the total lack of analysis from a Marxist viewpoint. There are no studies which discuss the role of cooperatives as Oscar Lange has done for cooperatives in Poland. The lack of such study is rather surprising especially in the context of changing political scenario in the country.

Right from the middle sixties, the decline of Congress rule in the states has accelerated. Outside the Hindi heartland, Tamil Nadu and West Bengal are two such instances. This process got accentuated from the latter half of seventies with the consolidation of power in some states like West Bengal and Tripura, by parties expressly professing adherence to ideas of Marx and Lenin. But in spite of this changing political scenario where CPM in October 1984 constitutes the largest opposition party in parliament, one finds the neglect of a Marxist perspective on cooperatives India, a bit baffling.

Of the vast number of writings, only Thorner's work ( 1964 ) had some shades of Marxist viewpoint. But Thorner only traced the cause of failure of cooperatives he visited to class factors; but his analysis was not an examination of this form of organisation from a perspective where cooperatives could play a role in a changing socio-polical environment.

In contrast to this is the viewpoint of those who are critics of Marx and who have formulated their position on cooperatives. I have Shri Charan Singh in mind and his



book *Joint Farming X-Rayed* when referring to this. Of course there are other publications by non-Marxian supporters of cooperatives as opposed to Shri Charan Singh who is a bitter critic of cooperative forming.

Thus to conclude. we can summarize our main arguments. Marx and Lenin had definite viewpoints on cooperatives which did influence numerous writings in the socialist bloc, but there is no Marxist study in India. The lack of such works in the context of changing socio-political scenario is surprising. The article is a plea for such studies.

**Notes :**

1. I. L. O. ( 1957 : 3 ) has mentioned four principles that govern cooperatives :

- ( i ) The primacy of association is of human beings and not of capital.
- ( ii ) The members of the association are equal, the accepted rule being one member one vote.
- ( iii ) The act of association is voluntary.
- ( iv ) The association has an objective in which the members have a common interest and the attainment of their interest requires the contribution of each.

The International Co-operative Alliance has formulated six principles—

- ( i ) Voluntary and open membership.
  - ( ii ) Democratic control.
  - ( iii ) Limited interest on capital.
  - ( iv ) Equitable distribution of surplus.
  - ( v ) Cooperative education.
  - ( vi ) Cooperation among co-operatives.
- ( P. E. Weeraman, 1973 : 6 ).

The first four set out the working methods, while the least two are considered essential for the continued progress of the movement.



2. The classic argument of this viewpoint is that of Peter Kropotkin ( 1972 ) in his celebrated book *Mutual Aid*. The other viewpoint of this same argument is the Indian Planning Commission, see *Sixth Plan* Point 11.6.

3. Amongst the well-known proponents of cooperatives were figures like Charles Fourier, P. J. Proudhon, Robert Owen, Saint-Simon, Phillipe Buchez, Friedrich Wilhelm Raiffeisen. Marx had differences with many of them.

4. See *India 1983 A Reference Annual*, Table 16.2, p. 290.

5. These statistical statements are now being published by the National Bank for Agriculture and Development, since the time the Bank came into being.

6. The figure of Rs. 485 crores is for Operation Flood II only. Operation Flood I had a budget of Rs. 116 crores. IDC, 1983 : 5 ).

#### REFERENCES

1. Baviskar, B. S. : 1980—*The Politics of Development : Sugar Cooperatives in Rural Maharashtra*. Delhi : Oxford University Press.
2. Cole, G. D. H. ; 1944—*A Century of Cooperation*. London ; George, Allen & Unwin Ltd.
3. Erdei, Ferenc : 1963—*Agriculture and Cooperation*. Budapest : Institute for Agricultural Economics of Hungarian Academy of Sciences.
4. Government of India, Ministry of Information and Broadcasting, Publication Division : 1983—*India 1983 a Reference Annual*.
5. Government of India, Planning Commission ; 1981—*Sixth Five Year Plan 1980-85*.
6. Indian Dairy Corporation ( I. D. C. ) ; 1983—*Operation Flood : A Reality*.
7. I. L. O. ; 1957—*An Introduction to Cooperative Practices*.
8. Klimov, Alexander ; 1969—*Cooperative Democracy Today*. Moscow : Novosti Press Agency Publishing House.
9. Kowalak, Tadeusz, ed. : 1972—*The Cooperative Movement of Poland*. Warsaw ; Publishing House of Central Agricultural Union of Cooperatives.



10. Lange, Oscar : 1970—"The Role of Cooperatives in the Construction of Socialism" in *Cooperatives in Peoples Poland*, ed. by T. Kowalak. Warsaw : Publishing House of Central Agricultural Union of Cooperatives.
11. Lenin, V. I. : 1922—"Consumers and Producers Cooperatives", in *Lenin Collected Works*, Vol. 32, Moscow : Progress Publishers, 1966, p. 370.
12. 1923—"On Cooperation", in *Lenin Collected Works*, Vol. 33. Moscow : Progress Publishers, 1966, pp. 467-475.
13. 1923—On Cooperation in *Lenin Selected Works*, Vol. 3. Moscow : Progress Publishers, 1976, pp. 704-710.
14. Marx, Karl, 1966—"Cooperative Labour", in *K. Marx and Engels Selected Works*, Vol. 2. Moscow : Progress Publishers, 1973, pp. 81-82.
15. Oommen, T. K. : 1974—*FAO Survey on Peasant Organisations in India : The Case of Alleppey (Kerala)*, N. Delhi : Jawaharlal Nehru University (Mimeo. ).
16. Raghava Rao : 1974—"Institutional Framework for Agricultural Development", in Hunter, G. and Bottrall, A. ed. *Serving the Small Farmer Policy Choice in Indian Agricultural Development*. London : Croom Helm in Association with Overseas Development Institute.
17. Rajaram, N. : 1979—*Cooperatives in India : Towards a Sociological Framework*. N. Delhi : Jawaharlal Nehru University, Unpublished M. Phil. Dissertation.
18. Sharma, M. L. ed. 1971—*Jawaharlal Nehru on Cooperation*. N. Delhi : National Cooperative Union of India.
19. Thomer, D. : 1964—*Agricultural Cooperatives in India*. Bombay : Asia Publishing House.
20. Weeraman, P. E. 1973—*The Cooperative Principles*. N. Delhi : International Cooperative Alliance.



# **SOCIAL REALITY OF DEVIANCE AND CONTROL : TOWARDS A MARXIAN PERSPECTIVE FOR INDIAN CRIMINOLOGY**

**R.S. SRIVASTAVA**

During the last decade or so there has been a resurgence of interest in the application of Marxian general theory to the analysis and explanation of a particular variety of social phenomena which have remained relatively neglected, namely, deviance and control. For long, deviance was equated with pathology and disorganisation, standing almost at the periphery of the social system. In recent years, there have been some developments, both within the discipline of sociology and outside, which have relocated the centrality of the problems of deviance and control in society. The explanations for these processes are now being sought by referring these questions to their wider social origins, and particularly, the structures of power, domination and authority. The analysis of pressures of historically-specific and changing economic and political contingencies and contradictions, and how men confront these in acts of crime and deviance, have led to a study of the political economy of crime and deviance. In attempting to ask, and answer, some of these broader questions, criminology has been successful in breaking its traditional "social reform" or "social work" imagery which, in not too insignificant ways, contributed to its insulation from sociology. It also helped in bringing questions asked in criminology or sociology of deviance nearer to social realities and events occurring in recent past and contemporary society.

It remains a fact, however, that the full implications of the applications of Marxian general theory to analysis of crime, law, and control have not been realised. The reason



is not only that Marx himself had very little to say explicitly about crime, concerned as he was primarily with the problem of political economy and capital-labour relations. The other reason was also that the traditional criminology's background assumptions prevented the possibility of seeing in Marx something of value or relevance to the problem of crime and deviance. Before seeing and evaluating these possibilities, however, it is necessary to put the problem in proper perspective by first examining some of the assumptions of traditional criminology. The greatest drawback of traditional criminology is that it accepts the state's definition of crime, and state itself, as 'given'. The state and its definitions of human behaviour and situations are not considered problematic. This unquestioning acceptance puts it off from a Marxian approach, which would regard state as part of the superstructure and thus problematic in itself. Its major conceptions and proposition are formulated within the broad Parsonian structural-functional framework. Taking the consensual view of society, and looking at deviance only as a 'strain in the social system, it emphasizes pragmatic, short range and correctional solutions ignoring human potentialities for social-political change. Its critical stance is restricted to the middle level legal-political agencies and hardly touches the 'master-institutions' of society, neither does its analysis extend to an analysis of macrocosmic and historical situations and factors. An analysis of the broad political economic organizations and structures of power in relation to crime has been alien to it. It has restricted itself to explaining crime and deviance in terms of certain "middle range" theories such as anomie, sub-culture etc. which fail to take account of the broader political and economic organization and power relations in society. By accepting the consensual view of criminal law and its agencies it not only attempts "mythification" of the real world (including crime and deviance) but also shares a complicity with the state to oppress its



citizens. It avoids the study of certain forms of institutionalized crimes and violence like exploitation, sexism, casteism, and state-linked crimes, such as violations of human rights of citizens. Finally, in supporting the status quo and "law-and order" approach, traditional criminology rejects or, ignores the possibility and implications of radical or revolutionary form of social and economic change, eliminating criminogenic conditions.

During the last ten or fifteen years there has been a growing disillusionment with the above approach to explaining crime and deviance, and increasing attention has been paid to Marxist and radical criminological thought.

This development can be attributed both to the developments within the discipline of sociology, and certain events outside the discipline. During the last two decades, there has been a resurgence of Marxist social theory not only in the form of translations of some of Marx's obscure works, but also in the works of some interpreters like Lukacs. Moreover, the 'pure' and 'formal' Marxism, paying slavish attention to the original writings of Marx, has given way to contemporary attempts at more thoroughgoing and flexible, confrontation of Marxism to general social theory. This has helped to develop theoretical propositions that are relevant to criminality in contemporary societies. The situation is summed up well by Bottomore who, while underlining the importance of debate with Marx's sociological thought, speaks of modern sociology as 'a science which has advanced some way towards freeing itself from the various philosophical systems in which it originated, and with which its founders were still embroiled' (1961:63)

It seems to be the case also that some events and development outside the discipline of sociology and criminology in 1960s and 1970s prompted attention towards the application of Marx's thought to emerging problems, particularly in the sociology of deviance, conventional sociology



gical theories, particularly deviance theories, failed to comprehend and were inadequate to explain, new empirical facts involving such occurrences as political dissidence and turmoils, rising militancy of various groups, emergence of youth culture, growing state violence, and social protest movements of various kinds, such as women and poor. There was surfacing a growing amount of white collar crime by upper class, almost with relative impunity and the awareness, of the role of the state in oppressing its masses through criminal law, was becoming clear through several developments. All these new facts and circumstances impelled criminology, steeped as it was in more "individualistic", or narrow "structural" explanations, to confront itself with new realities by turning to wider structures of power relationships and contradictions in society.

To appreciate how some of these issues have been confronted in modern criminology and sociology of deviance, it is necessary to explicate some of the Marxian views On crime and control, on which these explanations are supposed to be based.

As mentioned earlier, Marx did not produce a comprehensive theory of crime and his position on crime, from his brief discussion, is not fully spelt out. Obviously, he was more concerned with the broader issues of political economy and relationship between capital and labour. But some of the concepts and contentions of his general theory can be applied to the illumination of problem of crime and deviance. Further insights are provided by relatively more elaborate writings on crime by Engels. The basic point in their view of crime is that the capitalist systems is beleved to be the fundamental cause of crime. Crime is caused by imperfections and contradictions which are inherent in capitalist society. The criminal is seen as a man demoralized and brutalized by day to day experiences and conditions of the system, trying to grasp at the needs and necessities of life. This



demoralization is seen as index of individual as well as social decline under conditions of capitalist industrialization.

Describing the crime and the condition of the working class ( in England ) Engels wants every one to realize, that best qualities of human nature have been sacrificed to bring "all the marvels of civilisation" to pass. He sees in the crowding of the great city the dissolution of the mankind into the fundamental principle of narrow self-seeking. In this social war characterized by brutal indifference and unfeeling isolation where each regards the other as useful object to exploit, the powerful few, the capitalists, seize everything for themselves, while to the weak and poor, scarcely a bare existence remains. Engels says that as the proletariat has expanded, so has crime increased, for nearly all crime arises within the proletariat, all the disabilities fall on the poor since capital is the weapon with which the social war is carried on. That working man has no choices or options in this matter is expressed by Engels thus "The contempt for the existing social order most conspicuous in its extreme form—that of offences against the law. If the influences demoralising to the working-man act more powerfully, more concentratedly than usual, he becomes an offender as certainly as water abandons the fluid for the vaporous state at go degrees, Reaumur. Under the brutal and brutalising treatment of the bourgeoisie, the working man becomes precisely as much a thing without volition as water, and is subject to the laws of Nature with precisely the same necessity; at a certain point all freedom ceases." ( 1950 : 130 ) Engels had even spelt out what contemporary criminology calls institutional violence. If he ( worker ) does not get work it creates want, wretchedness, crime and stealing to keep his body and soul together. Or he may starve, in which case the police will take care that he does so in a quiet and inoffensive manner. The judiciary will also not speak the plain truth of 'death by starvation'. The working-men call this,



'social murder', and accuse whole society of perpetrating this crime perpetually. On the link of capitalism in producing crime and violence, apart from unemployment, bad housing, want and similar conditions associated with it, Engels has this to offer." These facts are certainly more than sufficient to bring any one, even a bourgeois, to pause and reflect upon the consequences of such a state of things. If demoralisation and crime multiply.....what will be the result ? Society is already in a state of visible dissolution..." ( pp 129-30 ). The precise capitalist situation is described thus : "In this country, social war is under full headway, every one stands for himself and fights for himself against all comers...all differences are settled by threats, violence, or in a law court...And this war grows from year to year as the criminal tables show, more violent, passionate, irreconcilable,.....This war of each against all, of the bourgeoisie against the proletariat, need cause us no surprise, for it is only the logical sequel of the principle involved in free competition. But it may very well surprise us that the bourgeoisie remains so quiet and composed in the face of the rapidly gathering storm-clouds, that it can read all these things daily in the papers without, we will not say indignation at such a social condition, but fear of its consequences of a universal outburst of that which manifests itself symptomatically from day to day in the form of crime." ( 1950 : 132 ) This perfect, 'mad blindness' of the bourgeoisie to the facts and consequences of their action is directly attributable to their class prejudice and preconceived opinions. And the bourgeoisie, of course, has means to tighten and fasten upon the workers : "Thus are the workers cast out and ignored by the class in power, morally as well as physically and mentally. The only provision made for them is the law, which fastens upon them when they become obnoxious to the bourgeoisie." ( 1950-129 ) Criminal action is viewed in terms of the demands and conditions of the structure of political economy. It is seen as a 'false cons-



cious' attempt at adjustment to the society, About the impact of such conditions on the consciousness of workers. Engels writes "There is, therefore, no cause for surprise if the workers, treated as brutes, actually become such; or if they can maintain their consciousness of manhood only by cherishing the most glowing hatred, the most unbroken inward rebellion against the bourgeoisie in power." (1950 : 129 ). It would superficially seem that this theory explains the causes of crime in terms of the conditions created by the capitalist system, leaving little choice or options for the individual. But Marx and Engels are not one-sided economic determinists and they see man, including criminal man, both determined and determining. The link between individual struggle and group struggle is seen in crime as an expression of "the struggle of the isolated individual against the prevailing conditions," and also being a struggle conditioned by those prevailing conditions. Individual struggle develops into group struggle once a class has emerged after the first stage of resistance to our social order, the direct rebellion of the individual by the perpetration of crime. As the class situation changes a more organised and sophisticated approach is followed,' involving a union approach, and perhaps crime in a highly purposeful way. Though for Marx, constraints of material conditions were the primary forces for crime, he was not an economic determinist in a crude way. He was aware of the role of social reaction and social control in defining and labelling deviance. This he mentioned in an article: "Violations of law are generally the offspring of the economical agencies beyond the control of the legislator, but, as the working of the juvenile offenders Act testifies, it depends to some degree on official society to stamp certain violations of its rules as crimes or as transgressions only. The differences of nomenclature, so far from being indifferent, decides on the fate of thousands of men, and the moral tone of society. Law itself may not only punish crime, but improvise it, and the law of profes-



sional lawyer is very apt to work in this direction." ( 1859: 92-3 ) There was enough hint in this not only of Marx's social explanation of crime, but also of what is called in contemporary sociology of deviance as the social reaction and labelling school. Engels had also anticipated this in his comments." "Society creates a demand for crime, which is met by a corresponding supply and the gap created by the arrest, transportation, or execution of a certain number of criminals is promptly filled by other criminal." (1967:176) However, in commenting on some empirical facts about crime, produced by Quetelet, Marx and Engels adopt a near economic determinist position in seeing crime as a more or less direct expression of material conditions and, "the fundamental conditions of modern bourgeoisie society in general which produce on average amount of crime in a given national fraction of society." (Bottomore, 1961 : 235) Marx and Engels assume a negative relationship between economic conditions and crime, a form of determinism which is replete with many complex factors. As the conclusions of various studies in modern criminology would show, "either positive or negative relationships with economic conditions may be supported with some show of statistical significance ( Vold, 1958 : 18 ). It will be hazardous to make any conclusive statement, whether positive or negative, about the relationship between economic conditions and criminality. As economic determinism alone cannot explain this relationship, the mediatory role of some other factors will have to be carefully evaluated. Labriola's interpretation and clarification of Marx's position further illustrate this: "The underlying economic structure, which determines all the rest, is not a simple mechanism, from which institutions, law customs, thought, sentiments, ideologies emerge as automatic and mechanical effects. Between this underlying structure and all the rest, there is a complicated, often subtle and tortuous process of derivation and mediation." ( Bottomore, 1961 : 51 ). Then also, Marxian theory does not



postulate a one-sided economic determinism, and economic determinism does not exclude the possibility of the superstructure having a considerable effect, though economic base is the ultimate determining factor. The implications of these statements for law, state, and crime remains to be fully explored and clarified in criminology. Some informative insights can be detected from Marx's writings on the concept of punishment. Taking issues with Kant and Hegel with regard to punishment, he criticized their views, particularly Hegel's, looking upon the criminal as a free and self-determining being, and punishment as a part of the rights of the free individual. Attacking this theory of 'punishment as the criminal's own will' as a metaphysical expression for the old *jus talionis*, eye against eye, tooth against tooth, blood against blood, Marx contends that: "Hegel, instead of looking upon the criminal as the mere object, the slave of justice, elevates him to the position of a free and self-determined being. Looking, however, more closely into the matter, we discover that German idealism here, as in most other instances, has but given a transcendental sanction to the rules of existing society," (Bottomore, 1961: 234). The view of individual with free will distorts, and rather obscures, the true picture, that of the 'individual with his real motives, with multifarious social circumstances pressing upon him, Marx also argues against the narrow and formal approach to crime and law, expressing general will: "The same visionaries who see in right and law the rule of an independent and general will see in crime a simple breaking of right and law." (1965 : 367) Clearly, Marx envisages law as reflection of general will only in a society in which the inequal and exploitative bases of material power have been abolished. About the real basis of state and law he remarks: "The material life of individuals... are the real basis of the state. This material life is at every stage in which the division of labour and private property are still



necessary, quite independent of the will of individuals. These real conditions are not created by the state power; they are rather the power which creates it." ( 1965: 366 ). Thus private property, and division of labour in general, were negative conditions for Marx in any conception of man and society, as they imprison his social nature and consciousness in narrow spheres of activity, imprison him in exploitative social relationships and alienation, and exacting from him a great human price for eventual emancipation.

Marx also takes the narrow-minded apologists for bourgeois society' to task for their conception of the 'productivity of all professions.' In some passages in the 'Theories of Surplus value,' the criminal is shown as one of the 'equilibrating forces' opening up a whole perspective of 'useful' occupations: "The influence of the criminal upon the development of the productive forces can be shown in detail... Crime, by its ceaseless development of new means of attacking property, calls into existence new measures of defence, and its productive effects are as great as those of strikes in stimulating the invention of machines." ( 1964 : 375 ) Marx ironically points out the productive value of crime. "A criminal produces crime. But if the relationship between this latter branch of production and the whole productive activity of society is examined a little more closely... There results an increase in material wealth... The Criminal produces an impression now moral, now tragic, and renders a service by arousing the moral and aesthetic sentiments of public... The criminal interrupts the monotony and security of bourgeois life. Thus he protects it from stagnation and brings forth that restless tension, that mobility of spirit without which the stimulus of competition would itself become blunted. He therefore, gives a new impulse to the productive forces." ( 1964 : 375 ) Crime brings about many other improvements also." Crime takes off the labour market a portion of the excess population, diminishes



competition among workers, and to a certain extent stops wages from falling below the minimum, while the war against crime absorbs another part of the same population." (1964 : 375) Marx, in fact, derides such attempts at seeing the productive or functional value of crime which can lead to the absurd conclusion that crime is a necessary feature of society. This is a clear attack on the position of some of the contemporary sociologists of deviance, who, following Durkheim, regard crime not only in functional terms, but also necessary in any kind of society. Marx not only attacks the 'bourgeois' view that society is divided into good and evil, by pointing out that most upright citizens are given employment and livelihood by crime and criminal classes, but he also points out to the absurdity of the claim of productivity of all professions (including crime), by quoting from Mandeville's 'Fable of the Bees' (1725 : 474): "That the moment Evil ceases, the society must be spoiled, if not totally dissolved."

Marx, in fact, has a marked disdain for the criminal classes, forming part of the Lumpenproletariat or the 'dangerous classes.' This group was condemned as it not only does not fit into the general theory of the nature of proletariat and political consciousness, but also because of their possible use for reactionaries as 'bribed tool of reactionary intrigue.' (Marx and Engels, 1973 : 118) As Taylor and Walton say, "The members of the lumpenproletariat were double parasitical. They did not contribute to the production of goods and commodities, and moreover, they created a livelihood out of the goods and commodities produced only (and exclusively) by the productive workers. Criminal activity was therefore necessarily an expression of a false and 'Pre-Political' form of individualistic consciousness." (1973: 217). Though criminal is seen as the "isolated individual struggling against the prevailing conditions," the conception of criminal is that of a dehumanized, brutalized individual, making a 'false conscious' attempt at



adjustment with the society. They are condemned and rejected because they are politically unreliable. As Makepeace observes, "Criminals are not to be blamed for their actions, as they are the product of the system, but on the other hand, because of their danger, political and otherwise to society, they are far from being a favoured group." (1980 287) This in brief, sums up Marx's attitude to crime and criminals in (Capitalist) society.

### REFERENCES

1. Bottomore T. B. Rubel M. (ed.) 1961, *Karl Marx*, Harmondsworth; Penguin.
2. Engels, F. 1950, *The condition of the working class in England*, London : Allen and Unwin
3. Engels, F. 1967, "Outlines of a Critique of Political Economy," in W.O. Henderson, ( ed. ) *Engels : selected writings*, London.
4. Gibbons, D., 1979, *The criminological Enterprise*, New Jersey : Prentice Hall.
5. Marx, Karl, 1859, "Population, Crime and Pauperism, New York, Daily Tribune, (16 September).
6. Mark K. Engels F, 1965 ( Tran ) *The German Ideology*, London : Lawrence & Wishart
7. Marx, K., 1964, *Theories of surplus value*, (Transl.) London : Lawrence & Wishart.
8. Marx K & Engels F. 1973, *Selected Works*, Vol. I, Moscow.
9. Makepeace, R.W., 1980, *Marxist Ideology and Soviet Criminal Law*, London : Croom Helm.
10. Taylor I, Walton P, Young J, 1973, *The New Criminology*, London: Routledge & Kegan Paul.
11. Vold, G., 1958, *Theoretical Criminology*, Oxford University Press.
12. Zeitlin I, 1969, *Ideology and the Development of Sociological Theory* ( Indian Ed. ) New Delhi : Prentice Hall.



## MARXIAN AESTHETIC HUMANISM

P. N. SINGH

The Marxian conception of history is essentially teleological. It is argued that history is not a meaningless chaos. It has an essential and immanent purpose. It has been conceived of as a process dialectically propelled towards "the actual act of creation of communism" and "the *comprehended* and *known* movement of its becoming."<sup>1</sup>

This means that the historical process, from the moment of communism onward, is self-conscious. That is to say, men as the real agents of history, in their day-to-day pursuits and struggles, conduct themselves as "thinking consciousness." They are assumed to become conscious of the dialectically transcendent nature of the historical moments. In short, at the communist moment of history, men are both the object and the subject of history at the same time. It is from this dialectical position that Marx criticizes Hegel's reactionary conclusions about history<sup>2</sup> and considers communism not as the ultimate goal but as a "self-superseding movement" of the historical process.<sup>3</sup>

In *Economic and Philosophical Manuscript* (1844) Marx further writes:

The whole of history is a preparation, a development for man to become the object of *sensuous* consciousness and for the need of 'man as man' to become (sensuous) needs. History itself is a real part of *natural history* and of nature's becoming man.<sup>4</sup>

Here Marx concludes of history as a movement towards the transformation of natural man into "sensuous consciousness." By "sensuous consciousness" is meant both the sensitization and the intellectualization of the senses. In



the course of history, says Marx, senses become "theoreticians."<sup>5</sup> Senses mediate between man and the objective world. In this process they grow sharper, wiser, and more and more human. The transformation of man into a human being presupposes the refinement and humanization of the senses. Man as human presupposes a long and sustained exposure to a variety of cumulative historical experiences congealed and experienced through different forms and institutions of culture.

Marx further seems to imply that it is only "man as Man," i.e. man as a human being, that he can have sensuous needs. The natural man has only biological needs. Furthermore, Marx does away with the dichotomy not only between senses and consciousness but also between man and nature. The goal of the historical process has been characterized as the process of "nature becoming man." He also speaks of nature as man's "inorganic body."<sup>6</sup> According to Karl Marx, at the communist moment of history, man is "realized naturalism" and nature is "realized humanism."<sup>7</sup> In other words, man is so fully conscious of the "necessities" of the objective world that he "appropriates" it most efficiently to serve human ends. Under communism, as visualized by Marx, all the contradictions which plague man under capitalism shall be naturally resolved in the process of history. In fact, communism is:

the genuine resolution of the conflict between man and nature' and between man and man, the true resolution of the conflict between existence and being, between objectification and self-affirmation, between freedom and necessity, between individual and species.<sup>8</sup>

In this way, in Marx's vision of communism man, having resolved and transcended the contradictions, enters into "the realm of freedom" in which "the development of human power is its own end."<sup>9</sup> Man himself becomes the



subject, object and purpose of history. Human functions become their own purpose. Human activity becomes "the true *appropriation* of the *human* essence through and for man." In short, under communism every human activity is visualized as simultaneously becoming "objectification and self-affirmation." Man transcends the conditions which produce alienation. Man's activities become truly human and therefore genuinely creative.

According to Marx, at the historical stage of communism, senses, needs and enjoyments lose their utilitarian and egoistic character. All human practice becomes its own essential purpose:

They (senses) relate to the thing for its own sake, but thing itself is an *objective human* relation to itself and to man, and vice versa. Need or enjoyment have therefore lost their *egoistic* nature, and nature has lost its mere *utility* in the sense that its use has become *human* use.<sup>10</sup>

In the communist society the entire individual activity is assumed to become not only "an organ of my *life expression*" but also "a mode of appropriation of *human* life." The objective becomes *human* in the sense that it is an objectified expression of human potential. According to Marx, as all the distinctions between individual and social life disappear, the individual becomes a particular expression of the social: "My *own* existence is social activity."<sup>11</sup>

This may create some flutter among the votaries of man's individuality. The purely aesthetic and the modernist movements may also stand stigmatized by this Marxian proposition. It may therefore be necessary to point out that Marx does not go in for the downright rejection of man's individuality *per se*. In *Economic and Philosophical Manuscripts* (1844) he dwells at length on Man's "essential powers" and also speaks of "the peaculiarity of each essential power."<sup>12</sup>



In *Capital* he writes about "the slumbering powers" in men.<sup>13</sup> In his *Critique of the Gotha Programme* ( 1875 ) Marx speaks of "unequal individuals" and attacks the *Programme* because it does not recognize that "one man is superior to another physically or mentally." He also regrets that the *Programme* regards all individuals "only as workers."<sup>14</sup> The first thesis on Feuerbach also asserts the active nature of man's subjectivity.<sup>15</sup>

It was clear to Marx that it would be utopian to think that in communist society every individual would be a Shakespeare or a Goethe or a Balzac. In Marx's view, in a communist society an individual will not be subject to alienation and he will be creative in the sense that his "essential power" and its "objectification" will correspond and affirm each other. In Marx's commentary on James Mill's *Elements of Political Economy* occurs this significant sentence: "Moreover, in my labour the *specific character* of my individuality would be affirmed because it would be my *individual life*."<sup>16</sup> Marxian social vision is antithetical to anarchic individualism and not to social individuality of others in its fulfilment. Anarchic individualism is assumed to be counter-productive.

Marx's hostility to capitalism stems from the assumption that capitalism inevitably produces alienation and dehumanization of man and thus denies his essential individuality. In a property-based stratified society man generally has negative needs and derives negative satisfaction. This may happen in two ways. *First*, the needs and satisfaction of the needs by the ruling class simultaneously thwarts the range and quality of the needs and satisfaction of the class it rules. Such a society tends to rob the worker of "human needs" and reduces "his activity to the mode of abstract mechanical motion."<sup>17</sup> Furthermore:

In the framework of private property ( my labour ) is the *alienation of my life* since I



work *in order to live*, in order to produce for my self the *means* of life. My labour is *not* life.<sup>18</sup>

Secondly, in the absence of real, human satisfaction, man runs after false and surrogate satisfactions. This leads to the fetishization of goods, commodities, art works, etc. The product begins to dominate the producer. This is what Marx meant by man's dehumanization. Men begin to enjoy their slavery to their own creations.<sup>19</sup> They are reduced to "productive slaves." Such an inhuman situation produces the self-denying ethics of the ascetic :

The less you eat, drink, buy books, go to the theatre, go dancing, go drinking, think, love, theorize, sing, paint, fence, etc., the more you *save* and the greater will become that treasure which neither moths nor maggots can consume - your *capital*. The less you *are*, the less you give expression to your life the more you *have*, the greater is your *alienated* life and the more you store up of your estranged life.<sup>20</sup>

Thus capitalism, according to Karl Marx, has an inbuilt tendency to subordinate all human senses to the sense of acquisitiveness. Money becomes "the universal and self-constituted *value* of all things."<sup>21</sup> Such a system produces too many "useful things" to ultimately produce too many "useless people."<sup>22</sup> (Marxian criticism of capitalism as an acquisitive, dehumanizing society closely resembles that of Carlyle. Ruskin and Arnold.) But, in Marx's view, genuine creativity is an enrichment and affirmation of the individual, rather than his alienation and dehumanization. Naturally, Marx holds that capitalism is antithetical to spiritual and aesthetic production; "capitalist production is hostile to certain branches of spiritual production, for example, art and poetry."<sup>23</sup>

To understand Marx's aesthetic humanism, it may be useful to point out that Marx sets great store by the human senses in relation to the humanization, i.e. sociali-



zation, of man. As has already been noted, Marx has spoken of "sensuous consciousness," of the senses becoming "theoreticians in their immediate praxis" under communism. Marx also speaks of the inevitability of the "abstract hostility between sense and intellect" in a class-riven society.<sup>24</sup> Marx's conception of sensuous intellection may also be interpreted as an artistic mode of appropriating reality. For Marx, the health of an individual is invariably judged in terms of the humanized richness of the senses :

The society that is fully developed produces man in all the richness of his being, the rich man who is *profoundly and abundantly enowed with all the senses*, as its constant reality.<sup>25</sup>

In this way, senses according to Marx, 'are the "real mode of affirmation" of the essential human powers. Appreciation of music is an affirmation of the musical sense in man. In Marx's view, the wealth of the subjective power of human being can be created and enriched only through a sustained process of sensuous objectification :

Only through the objectively unfolded wealth of human nature can the wealth of subjective human sensitivity—a musical ear, an eye for the beauty of form, in short, *senses* capable of human gratification—be either cultivated or created. For not only the five senses, the practical senses ( will, love, etc. ) . in a word the *human* senses, the humanity of the senses—all these come into being only through the existence of *their* objects, through *humanized* nature.<sup>26</sup>  
( emphasis original )

This means : first, only the senses constitute the wealth of human subjectivity ; second, this "subjective sensitivity" is historically created and cultivated only through the process of its objective expression in social practice; and third, the "humanity of the senses" can be understood only in relation to their corresponding objects which affirm and



realize those senses. This provides a very wide scope for human, i. e. creative, practice. Creative activity of man should cover all his social practices, both material and non-material. Thus, in the Marxian framework, the sensuous objectification of human powers as self-affirmation is, what may be called, an intense empathic activity which is fundamental to artistic creation. In other words, as a *human* being, man is essentially an artist in all that he does.

Furthermore, Marx speaks of the historicity of the senses. This means that the aesthetic sense is not an *a priori* category. According to him, "The cultivation of the five senses is the work of all previous history."<sup>27</sup> This further suggests that the human senses are not biological. They are products of human activity in history. The aesthetic sense is also a product of this historical process. According to Stefan Morawski,

"*homo faber* . . . in the process of becoming *homo ludens* . . . develops and refines his aesthetic sense while shaping work-skills, mastering the material world in practice and idea."<sup>28</sup> In this way, in the Marxian conception of the historical process man's aesthetic senses are created, developed and refined. Gradually the *homo sapiens* is transformed into *homo aestheticus*. But, in Marx's view, man is *homo aestheticus* only in so far as he is human, i. e. social being. At this stage of the humanized senses, man as individual, said Marx, is a "particular species-being." The individual experiences and responds to his outside reality as a particular humanity :

My own existence is social activity. Therefore, what I create from myself I create for society, conscious of myself as a social being.<sup>29</sup>

This proposition has direct bearings on Marx's conception of man as an artist. In the light of this proposition one can conclude that the artist's I is a condensed universal. This also explains why Marx in his personal life was



so much indulgent towards the poets in spite of their political vagaries. It further reminds one of Donne's emphasis on the universality of the artist's sensibility :

any man's death diminishes me, because I am involved in Mankinde; And therefore never send to know for whom the bell tolls; It tolls for thee.<sup>30</sup>

Marx, who himself had begun his career as a poet, was fully aware of the expansive nature of the artist's sensibility. But in Marx's view this essential expansiveness of the artist's sensibility does not operate in vacuum. It requires a human medium in which the dichotomies between the individual and the social fully disappear. The Marxian humanism assumes that every individual, when given suitable atmosphere for cultivation and expression of his senses, can transcend this commonly experienced dichotomy and conduct himself as a *human* being :

The eye has become a *human* eye, just as its object has become a social, *human* object, made by man for man.<sup>31</sup>

Marx is convinced that all the senses shall be emancipated and enriched with the "positive suppression" of the institution of private property. Under communism, argues Marx, man shall respond to objects and situations as a "total man": "Man appropriates his integral essence in an integral way, as a total man."<sup>32</sup>

This "integral" appropriation is the only *human* activity through which man can objectify and affirm the wealth of his subjectivity. Marx's early humanist critique of capitalism stems from this conception of the "total man." He held that the cultivation of this "total man" is not possible under capitalism. Capitalism is assumed to be hostile to man's activity as human. From the Marxian point of view three reasons seem to account for this failure of capitalism in human terms. First, under capitalism man is



structurally prevented from fully cultivating and humanizing all his senses Capitalism forces man to cultivate only "the sense of having" at the cost of all the other senses. Consequently, it impoverishes man in all other ways, *Second*, even though vastly superior to its preceding social formations, capitalism remains only "a realm of necessity," At the capitalist moment of history, man is too careworn to be fully human. He is therefore insensitive to art and literature.

For a man who is starving the human form of food does not exist, only its abstract form exists; it could just as well be present in its crudest form, and it would be hard to say how this way of eating differs from that of *animals*. The man who is burdened with worries and needs has no *sense* for the finest of plays.<sup>33</sup>

Finally, under capitalism, argues Marx, man's senses are still "restricted." because they are "prisoners of crude, practical need." The institution of private property makes man "stupid and one-sided." This stupid one sidedness goes as far as in cultivating a particular professional sense as.

the dealer in minerals sees only the commercial value, and not the beauty and peculiar nature of the minerals.<sup>34</sup>

Time and again, Marx emphasizes the distinction between human activity and animal activity. The distinction is crucial for Marx's vision of aesthetic humanity under communism. In *Economic and philosophical Manuscripts* (1844) he writes :

The animal is immediately one with its life activity. .... it is that activity. Man makes his life activity itself an object of his will and consciousness . . . conscious life activity directly distinguishes man from animal life activity,<sup>35</sup>



In this way man's life activity is self-conscious while the animal's is not. But Marx does not stop at this point. He further argues that while animal's activity is dictated by "immediate physical need," it is not true of man's genuine activities :

they (animals) produce only when immediate physical need compels them to do so, while man produces even when he is free from physical need and truly produce only in freedom from such need . . . . <sup>36</sup>

Furthermore, men produce "universally," animals only "one-sidedly." And finally :

Animals produce only according to the standards and needs of the species to which they belong, while man is capable of producing according to the standards of every species and of applying to each object its inherent standard ; hence man also produces in accordance with the laws of beauty. <sup>37</sup>

In Marx's view, therefore, man's life activity is not wholly confined to his immediate and physical needs. All his genuine human activities transcend the compulsions of the immediate utility. In fact, man "truly produces" only when he is free from such needs and when he produces "according to the law of beauty." This proposition places Marx in the line of classical German philosophers like Kant, Schiller and Hegel who looked at aesthetic creation as a disinterested pursuit.

In *Capital I* Marx lays emphasis on the imaginative capacity of man as a producer. Marx defines animal labour as "primitive instinctive forms of labour." Human labour is, on the other hand, self-conscious and imaginative : But what distinguishes the worst architect from the best of bees is this, that the architect raises his structure in imagination before he erects it in reality. <sup>38</sup>



Thus, human labour, according to Marx, is purposive and not instinctive. Man plans beforehand and then executes the plan in practice. Furthermore, this purpose cannot be understood in terms of the utility of the man who produce something. In Marx's view, a genuinely human activity is purposive only in the sense that it objectifies his "slumbering powers" and fully affirms them by the objectified product. Such a labour alone, thinks Marx can make the worker enjoy his labour "as something which gives play to his bodily and mental powers."<sup>39</sup> At the moment of creation, purpose and function become one. The process itself is all-absorbing and the purpose is naturally achieved without the producer ever being additionally conscious of it. Marx characterizes such an activity is truly *human* activity or genuinely *social* practice. It is only in this context, that Marx's observation that Milton "produced" *Paradise Lost* as "an activity of his nature" can yield full meaning.<sup>40</sup> In other words, only man's creative, i. e. human, activities can help him transcend the dehumanizing conditions which produce self-alienation. In fact, all creative activities presuppose this transcendence.

This is one of the crucial points for which Marx launches his attack on capitalism. Among many other things, capitalism implies microscopic specialization and rigid division of labour. Rigid division of labour forces man become servile to his job for the sake of his livelihood. "For as soon as the division of labour comes into being, each man has a particular, exclusive sphere of activity, which is forced upon him and from which he cannot escape."<sup>41</sup> This "fixation of social activity" ultimately leads man to produce "material power" which controls him. He becomes slave to his own products. In such a condition man's objectification only produces alienation rather than self-affirmation. This is crucial for the Marxian understanding of the nature of production under capitalism. Both Marx and Engels, therefore, visualize a communist millennium in which—



nobody has one exclusive sphere of activity but each can become accomplished in any branch he wishes, society regulates the general production and thus makes it possible for me to do one thing today and another tomorrow, to hunt in the morning, fish in the afternoon, rear cattle in the evening, criticize after dinner, just as I have a mind, without ever becoming hunter, fisherman, shepherd or critic.<sup>42</sup>

This Marxian communist millennium is actually an infinitely enriched replica of the undifferentiated primitive society mediated by thousands of years of cultural experience. Moreover, Marx and Engels were, in fact, Renaissance figures with many-sided accomplishments. Thus, the Marxian conception of man is rooted both in their dialectical materialist logic of history and in their intellectual biography. Their dialectical understanding of man in society suggests that every individual, given suitable material conditions, can cultivate himself into a many-sided personality of which is assumed to be potentially capable.

In *The German Ideology* Marx and Engels argue that under communism there shall be neither an "exclusive concentration of artistic talent in particular individuals" nor the "suppression" of talents in broad masses. In the communist society as visualized by them, there shall be "no painters but only people who engage in painting among other activities"<sup>43</sup> The dichotomy between work and play, i. e. between labour and creativity is assumed to completely disappear. All the activities are visualized to be human, self-affirmative and therefore creative.

The Marxian world view sets great store by the aesthetic vision of man because Marx strongly felt that even under the self-alienating and dehumanizing conditions of capitalism, the genuine artists still remained creative and human. In fact, the artists' self-affirmative objectification provides Marx an ideal paradigm of creative act with reference



to which he judges all kinds of production under capitalism and launches his attacks against its life-denying ethos. That is why both Marx and Engels conceive of a future society in which everyone who is potentially a Raphael shall also become a Raphael in actuality. It is in this sense that Robert C. Tucker's observation is significant; "Marx's conception of ultimate communism is fundamentally aesthetic in character,"<sup>44</sup> In the Marxian vision, according to Melvin Rader, "every man is an artist and every artist is a whole man." He is natural, passionate and many-sided being,<sup>45</sup> In this way, the Marxian vision of man is essentially aesthetic in character. Man is at the centre of the whole historical process. Man as *homo aestheticus* is the final cause of the dialectics of society.

## REFERENCES

1. Karl Marx, *Early Writings* ( Penguin Books, 1975 ) p. 348.
2. Karl Marx, *Capital*, Vol. 1 (Moscow: Progress Publishers, n.d), p.29
3. Marx, *Early Writing*, pp. 365,358.
4. *Ibid.*, P. 355.
5. *Ibid.*, p. 352.
6. *Ibid.*, p. 328.
7. *Ibid.*, p. 350.
8. *Ibid.*, p. 348.
9. Karl Marx, *Capital*, Vol.3 ( Moscow Progress Publishers, n. d. ) P. 828.
10. Marx, *Early Writings*, p. 352.
11. *Ibid.*
12. *Ibid.*, p. 353.
13. Marx, *Capital*, Vol. 1, p. 173.
14. Marx and Engels, *Selected Works* (Moscow: Progress Publishers,1975) p. 320
15. Marx and Engels, *Collected Works* ( Moscow: Progress Publishers, 1976 ), p. 6. For detailed discussion see Erich Fromm, *The crisis of Psychoanalysis: is Essays on Freud, Marx and Social Psychology* ( Penguin Books, 1970 ), pp. 68-84.
16. Marx, *Early Writings*, p. 278.



17. *Ibid.*, p. 360
18. *Ibid.*, p. 27.
19. *Ibid.*, pp. 244, 323-4.
20. *Ibid.*, p. 361.
21. *Ibid.*, p. 239.
22. *Ibid.*, p. 362.
23. Marx and Engels, *On Literature and Art* ( Moscow : Progress Publishers, 1976 ). p. 141.
24. Marx, *Early Writings*, p. 364.
25. *Ibid.*, p. 353.
26. *Ibid.*
27. *Ibid.*
28. Stefan Morawski, "Aesthetic Views of Marx and Engels," *Journal of Aesthetics and Art Criticism*, Vol. 28, No.8 (1970), 305.
29. Marx, *Early Writings*, p. 350.
30. John Donne, *Devotions upon Emergent Occasions*, ed. John Sparrow ( Cambridge, 1923), p. 98. Quoted in Raymond Southall, *Literature and the Rise of Capitalism* ( London : Laurence and Wishart, 1973), p. 94.
31. Karl Marx, *Early Writings*, p. 352.
32. *Ibid.*, p. 351.
33. *Ibid.*, p. 353.
34. *Ibid.*, pp. 353, 351, 353.
35. *Ibid.*, p. 328.
36. *Ibid.*, p. 329.
37. *Ibid.*
38. Marx, *Capital* I, p. 174.
39. *Ibid.*, pp. 173-4.
40. Marx and Engels, *On Literature and Art*, p. 144.
41. Marx and Engels, *Collected Works*, Vol. 5, p. 47.
42. *Ibid.*
43. *Ibid.*, p. 394.
44. Robert C. Tucker, *Philosophy and Myth in Karl Marx* (Cambridge: Cambridge University Press, 1968), pp. 57-8.
45. Melvin Rader, "Marx's Interpretation of Art and Aesthetic Values," *British Journal of Aesthetics*, Vol. 7, No.3 ( July 1967 ) 241.





# GRAMSCI'S CONCEPT OF INTELLECTUALS

## AN OVERVIEW

ADITI MISRA

Antonio Gramsci,<sup>1</sup> one of the major Marxist theoreticians since Marx and Lenin, evolved the concept of intellectuals to facilitate the understanding of the interplay of objective-subjective forces in social change. It is a unique contribution to post-Leninist thought; and of late it has assumed tremendous significance both in Marxist literature and in general debate. The concept effectively exposes the fallacious impression created by those who look at Marxism from a deterministic, fatalistic perspective and discount the role of ideas in social change. Gramsci's exposition of intellectuals is not an advocacy of idealism or revolution in thought alone. It is again, not a means to strengthen the unjust dictatorship of a handful over the masses. As such, the burden of this paper is to evaluate the concept of intellectuals and establish its rightful place in the Marxist thought.

The point to be noted first is the comprehensive meaning Gramsci attributed to the term 'intellectual' as against its popular usage in a somewhat confined sense. The popular belief attaches the label to those who perform certain mental tasks. For Gramsci everyman is an intellectual in so far as he has an intellect and uses it for his work. Pooh-poohing the popular usage of the term, Gramsci says: "When one distinguishes between intellectuals and non-intellectuals, one is referring in reality only to the immediate social function of the professional category of intellectuals, that is, one has in mind the direction in which their specific professional activity is weighted."<sup>2</sup> For him, on the other hand, all men are intellectuals and they fall in various categories.



Gramsci conducted his preliminary studies on the subject before his imprisonment, in *Notes On Southern Questions*. Here he tried to analyse the reasons for the poverty of Southern Italy as compared to North's relative prosperity. This analysis not only emphasised the effect of economic factors in the development of superstructure, but also highlighted the fact that intellectuals are evolved and absorbed by the ruling classes. Gramsci found that the South, being primarily agricultural, is divided into 3 layers (a) of disintegrated mass of peasantry, (b) of intellectuals of petty and rural bourgeoisie, and (c) big landlords and great intellectuals. The big intellectuals perpetuate the ideological reaction in the peasantry. They belong to the 'traditional' type. The intellectuals of petty-bourgeoisie act as mediator between peasants and administration in general by joining the bureaucracy. The Southern Intellectuals come from rural bourgeois layer and are not peasants. They exploit farmers through rent, etc. The clergy of South is also different from North and does not command any great moral control over masses. The southern intellectuals try to preserve the status-quo and "represent a dead weight on our revolutionary movement".<sup>3</sup> There is no organization of middle culture. There exists "great accumulation of culture and intelligence in single individual or small groups of great intellectuals."<sup>4</sup> The activities of these intellectuals dampen the revolutionary fervour of peasants and subjugate them to the ruling ideology. However, it helped to invest the socialist movement in Italy with a national character, as the peasants without any intellect of their own, became convinced that their redemption lies only in an alliance with the proletariat. This analysis of Italian scene is the key to understand the notion of intellectuals. It can be summed up in these lines—"Intellectuals develop slowly, far more slowly than any other social group by their very nature and historical function. They represent the entire cultural tradition of a people, seeking to resume and synthesize all of its hist-



ory. This can be said especially of the old type of intellectual: the intellectual born on the peasant terrain. To think it possible that such intellectuals en masse, can break with the entire past and situate themselves totally upon the terrain of a new ideology, is absurd. There is a need for 'organic' break in the mass of intellectuals to form a left tendency".<sup>5</sup> The capitalist development in the Northern Industrial Italy produced another kind of intellectual. The evolution of this modern intellectual is closely bound with the class structure. In fact, "Every social group, coming into existence on the original terrain of an essential function in the world of economic production, creates together with itself, organically, one or more strata of intellectuals which give it homogeneity and an awareness of its own function not only in the economic but also in the social and political field."<sup>6</sup> This category of 'organic' intellectual does not have function of Intellectual in society. Along with this, every 'essential' social group which emerges with history out of the preceding economic structure finds categories of intellectuals already in existence; and these represent a historical continuity. This group of 'traditional' intellectuals assumes the posture of an independent group.

Dwelling on the extent to which the term 'intellectual' can be used Gramsci realised the fundamental error committed for long by other thinkers. They searched for criterion in the "intrinsic" nature of intellectual activities, rather than in the ensemble of system of relations in which these activities have their place within the general complex of social relations."<sup>7</sup> This emphasis on analysing the social relations' on the ensemble of system of relations' (emphasis-added) clearly indicates how Gramsci is always conscious of the tenets of classical Marxism. This also indicates how certain strata of society specialize in producing intellectuals and others like peasantry do not have their organic intellectuals. Gramsci's analysis also revealed another distinction



of intellectuals on the basis of area. Rural and urban intellectuals, on account of differing social set up and background, have different roles to play. Intellectuals of rural area are mostly traditional, and belong to the petit-bourgeoisie not yet integrated with capitalism but urban intellectuals, steeped in industrial atmosphere are mostly organic intellectuals of either the working class or the bourgeoisie. These intellectuals work within a certain division of labour and do not have the function of an independent disinterested creator. They provide cohesion to their own class.

The class that dominates society tries to assimilate the intellectuals of all the other classes. Intellectuals function essentially on the level of superstructure that can broadly be divided into two layers of civil society and political society. These two major superstructural levels broadly so identified are not clearly demarcated. The 'civil society' is the instrument through which ideological domination is exercised and the consent of the masses secured for the world-view of the dominating classes so that such groups have 'hegemony' in society. The political society based on 'coersion' exercises direct domination through the 'state' and the 'juridical' government. The intellectuals are the dominant group's 'deputies' exercising the subaltern function of social hegemony and political governments. In order to change the system, the overthrow of instruments of exploitation-covert as well as overt-is necessary and a new system with its own values is to be established. The role of intellectuals is vital in both the stages of overthrow and the construction of a new order; they also provide continuity between the two phases. The intellectuals perceive the needs of a new social order and educate the masses for it. They also try to win over intellectuals of other classes to their own side.

The function of making acceptable the ideology of the ruling class to the peasantry rests on rural intellectuals,



In the urban areas, however, things are different. There the existence of organic intellectuals provides cohesion. The actual 'degree of co-operation' between 'traditional' intellectuals and the social group that dominates economic production is not direct but "mediated by many elements in society's superstructure".<sup>8</sup> These intellectuals may or may not share completely the world-view of socially dominant class, but by virtue of perpetuating the traditional system they strengthen the status-quo. The organic intellectuals, on the other hand, are directly related to the economic structure by their very definition and inception.

It is thus evident that every new class needs its own intellectuals to develop and assimilate the traditional intellectuals and thereafter dominate the society and establish its hegemony. The hegemony is the main function performed by the intellectuals. The concept of hegemony, a unique contribution of Gramsci, envisages a system in which civil society is used to elicit the consent of the masses, and ideological superemacy is maintained with political society or coercive instrument at a distance to be used only when there is a crisis of hegemony. There is thus, a need for organic intellectuals to evolve and establish hegemony in civil society before the actual conquest of state takes place. But since it is not possible in view of bourgeois monopoly over instruments of civil society, the dictatorship of proletariat is required after revolution to provide intellectuals time and means to erect apparatus of hegemony. Nor are they the sole makers of revolution. "They are not the salt of the earth who see workers as the material instruments of social transformation rather than as conscious and intelligent protagonists of revolution."<sup>9</sup> The organic intellectual of the proletariat is political also. At the stage of capitalist development they can no longer work as individual and need a party for articulation, a case vastly different from intellectuals of the bourgeoisie. This is due



to their origin and due to the sophisticated system of exploitation of the bourgeoisie that they need to be organized for survival. They are related in a dialectical way to the proletarian masses, thus uniting consciousness with spontaneity. The spontaneous feelings of masses against oppression are made conscious and given direction by the intellectuals.

Gramsci's 'double orientation of research "historical and sociological in includes agents producing ideology, technicians, etc., organic intellectuals and functionaries in state administration i.e. middle classes including petit-bourgeoisie. But at the same time, the emphasis on the functional basis of identifying intellectuals extends the concept of intellectuals. Gramsci does not define different degrees of intellectual activities even when specifying a hierarchy of intellectuals. Another difficulty in Gramsci is his emphasis on intellectuals as 'organisers and mediators' of consent which transforms them into ideologists.<sup>10</sup>

A third problem is that intellectuals constitute a mass and have contradictory consequences i. e. standardization of intellectuals. Gramsci's intellectuals tend to become industrial staff etc. and do not fully conform to their role as deputies of ruling class. These difficulties can be overcome by relating the concept of intellectuals to the greater terrain of state and society. But the question is : why is Gramsci so interested in intellectuals. ? The answer is that they are the little cog needed to come to grips with the double-headed Machiavellian centaur force and consent, in other words-the state; So the need is to conquer the state apparatus through a gradual assault on civil society followed by a frontal attack on the state.

To attack the state and civil society the proletarian intellectuals need an understanding of the nature of hegemony. Marx's echo is found in the traditional intellect-



ual. According to Marx : Men never relinquish what they have won, but this does not mean that they never relinquish the social form in which they have acquired certain productive forces. On the contrary, in order that they may not be deprived of what they have achieved and forfeit the fruits of civilization they are obliged, from the moment when the form of their intercourse no longer corresponds to productive forces acquired, to change all their traditional social forms.<sup>11</sup> This highlights the relationship between base and superstructure. Man is the maker of history and not a reflection of structural determinants. 'Historical materialism can incorporate a crucial role for consciousness without losing in the process the essential economic core that constitutes its uniqueness. It was Gramsci's achievement to fashion just such a synthesis.'<sup>12</sup> Distinguishing the area of superstructure, Marx held that it is on the terrain of ideology that men become aware of economic conflict and that 'they pursue them to their conclusions'. This discounts any direct relationship between base and superstructure.

Gramsci provided "more room for the influence of ideas and indeed of individual men in the process of history".<sup>13</sup> He denied the idea that every fluctuation of politics or ideology can be directly related to change in the base of economic structure of society. There is a vast scope for ideas and men in changing the society, both political and civil. This entails the existence of an ever conscious group of intellectuals to create a climate for change. The new organic intellectuals of the proletariat who are to effect this change exist in a different mode than was the case with bourgeoisie. The mode of being of the new intellectual can no longer consist in eloquence which is an exterior, but in active participation in practical life as constructor, organizer 'permanent persuader', etc. This implies that the working class needs to be thoroughly educated by its intellectuals to combat modern ideologies. This can only be done by



comprehending the tenets of Marxism, the world view of the proletariat. The scientific, analytical methods of Marxism are required to propagate the ideology of the working class.

This brings the problem of spreading the principles of Marxism. Gramsci effectively utilized '*L'Ordine Nuovo*' his newspaper during the period 1917-21 for the indoctrination of workers. It was the only support of workers when they were desperately holding on to the occupation of factories in Italy. The daily articles, queries of public, etc. were used to fire people's determination, arouse and guide them in the proper direction. Its stress to educate and involve the masses also led to the strengthening of organic intellectuals of proletariat. The newspaper adopted a programme to educate the masses. Gramsci never lost his faith in the use of education as a means to make the worker conscious. Even during his imprisonment, he organised a school of all prisoners and in its curriculum were subjects like history, class struggle, language, etc. Throughout his journalistic career, he achieved to a large extent, another imperative of establishing proletarian world-view-the function of assimilation of intellectuals of other groups. But this experiment made him conscious of the fact that individuals scattered all over, and not bound by any central organ, are not much effective. The Political party or collective intellectual is the solution to the problem of evolving and assimilating intellectuals for the working class.

The party, the collective intellectual, required to hasten the revolution, is an entity distinct from the mass of social group not politically conscious or active but organically linked to it in a subsequent phase, that of political consciousness and hegemony.<sup>14</sup> It consists of three layers - (A) a diffuse element or masses; (B) a principal cohesive factor, or the leadership; and (C) a middle element that articulates the first with the second element and putting them into not only physical but moral and intellectual contact (cadres). The middle level is the stable element to carry out educational reforms and policies and is the most important layer.



There is an organic, dialectical relationship between leadership, intellectuals and masses. Masses feel and leaders know, masses provide spontaneity and leaders give direction. Marxism, thus, is an intellectual and moral reform of masses. The party of the proletariat has the functions similar to those of *The Prince* of Machiavelli<sup>15</sup> who wanted to educate the masses (those not in the know of political process) and lead them towards change. Gramsci felt that this all-encompassing role of *The Prince* cannot be performed by any single individual but by a collectivity or the party.

The concept of intellectuals reinforces the Marxian dictum that men become conscious of class-conflict in the ideological field. The intellectuals play a central role in revolutionary process and the elite are responsible for evolving them. This elite is nothing but the vanguard political party. The political party is constituted by the active participation of masses in the political decision-making. The dialectical relationship between masses and intellectuals ensured the interdependence of essential elements of consciousness-leaders and the led. There does not exist any independent class of intellectuals. Intellectuals of a historically progressive class in given conditions exercise tremendous attraction and subjugate intellectuals of other classes and create a system of solidarity between all the intellectuals.<sup>16</sup> The proletarian Party strives to be just such an intellectual organization.

The relevance of Gramscian theory in the age of modern capitalism and imperialism can not be ignored. The ideological hegemony is delaying the demise of capitalist state. Even when economic factors are in favour of the proletariat, a semblance of stability and progress, a faith in the status-quo, is being perpetuated by capitalist intellectuals. The organic intellectuals of the proletariat, now equipped with the theory of intellectuals and hegemony, are in a better position than ever to undermine this state of



affairs. Gramscian studies are the key not only to understand the continuation of the bourgeois rule but also to quicken the pace of its ultimate annihilation by the proletariat as a conscious, organised progressive force of society.

### REFERENCES

1. Antonio Gramsci, (1891-1937) a philosopher claimed by various new currents of Marxism (New Left, Eurocommunism etc.), has generated lot of interest for his wide-ranging studies in practically all aspects of society and state. His works translated into English are :
  - (a) *Selections from Prison Notebooks*, (London : Lawrence and Wishart, 1971). Henceforth *SPN*.
  - (b) *Selections from Political Writings*, two volumes 1910-'920, 1921-1927, (London : Lawrence and Wishart 1977). Henceforth *SPN*.
  - (c) *Modern Prince and other writings*, (New York : International Publishers, 1959).
  - (d) *Letters from Prison* (London : Quartet books, 1979).
2. *SPN*. p. 9.
3. Gramsci quoted by Buci-Glucksmann. *Gramsci and the State*, (London : Lawrence and Wishart, 1980), p. 4.
4. *SPW* II p. 459.
5. *Ibid.*, p. 462.
6. *SPN* p. 5.
7. *Ibid.* p. 78.
8. *SPW* II p. 362.
9. Glucksmann, note (3) p. 33.
10. *Ibid.*, p. 37.
11. Marx, *Selected Works*: (Progress Pub.)
12. Femla, *Gramsci's Political Thought* (Oxford : Clarendon press, 1981).
13. Joll. Gramsci (Glasgow : Fontana, 1977). p. 82.
14. *SPN* p. 14.
15. Machiavelli, the sixteenth-century thinker, was Gramsci's favourite for his forthright attempts to propound a concept of state that radically differed from the prevalent mode. He was never deluded into attributing false or modern concept of nationalist state to Machiavelli but he judged him in the category of an activist, a practical revolutionary of his times.
16. *SPN* p. 60.



## A MARXIST'S CRITICISM OF MARX

H. N. TRIPATHI

M. N. Roy played a very significant and dynamic role in Mexico, in the politics of the Communist International, and on behalf the Communist International in the communist movement of China. He came in close personal contact with all the important leaders of the communist world. As a matter of fact, it was the foreign policy of Soviet Russia in the immediate post-war period which created doubts in his mind about the revolutionary role of communism and Marxism. Disappointed and terrified by the spectre of communism, Roy, instead of accepting the philosophy of liberalism and the practice of representative democracy, tried to evolve a new philosophy as an alternative to Marxism.

As an adviser of the Bolshevik Party on colonial problems, Roy tried to apply the Marxist doctrines to the conditions of the colonial and underdeveloped countries, particularly India. Immersed in the Marxist concept of the economic man and the class division of society, Roy tried to find out an economic motive behind the struggle.<sup>1</sup> In his understanding of the Indian society, Roy analysed the position and role of five important classes of it, namely, the landed aristocracy, the bourgeoisie, the petty bourgeoisie, the peasants and workers. His interpretation of the role of the bourgeoisie in the colonial countries is found for the first time in the supplementary thesis on the national and colonial question which he prepared for the colonial commission of the second congress of the Communist International at the suggestion of Lenin who was much impressed by the conversation which he had with him on this subject.<sup>2</sup> His viewpoint was presented as supplementary rather than as an alternative thesis to that of Lenin. But as a result of Roy's



criticism, Lenin's thesis was modified and in the Final Draft of the Thesis the communist parties were advised to support the "revolutionary liberation movements" rather than "bourgeois-democratic liberation movements" as recommended in the preliminary draft.<sup>8</sup>

M. N. Roy discussed three basic social phenomena in his book 'India in Transition'—the rise of Indian bourgeoisie, pauperisation of the peasantry, and the impoverishment of the urban proletariat. His thesis went directly counter to nationalism and could make no headway in the period of a national struggle for independence. Towards the end of 1922, he published "India's Problems and its Solutions." In a thoroughly Marxist temper, he criticised Gandhi's social ideology as medieval and conservative, and characterised the proceedings of the Ahmadabad Congress of 1921 as a betrayal by the bourgeois leadership of the revolutionary forces. Against Civil Disobedience he argued for militant action of the masses. In his book 'One Year of Non-Cooperation' published in 1923, he compared Mahatma Gandhi to St. Thomas Aquinas, Savonarola and Francis of Assisi. In 1926, he wrote 'The Future of Indian politics' wherein he dealt with the significance of a 'people's party'. He believed that the future of Indian politics would still be dominated by the interests of students, petty intellectuals, artisans, small traders and peasantry.

Roy was the head of the Oriental Department of the Moscow Institute. He was even sent to China at the end of 1926 along with Borodin and Blucher as the representative of the Communist International. He regarded Sun-Yat-Sen as an apostle of essentially reactionary pseudo-radicalism, having a desire to bolster a 'New Confucian State.'<sup>4</sup> In late twenties, he was opposed to the monopolization of the leadership of the Third International by the Russian Communists.<sup>5</sup> Roy's criticism of Stalin's red sectarianism and extreme leftism led to the final break between Roy and the



Communist International in 1928-29. According to M. N. Roy there existed in Russia state-capitalism and Stalinism adopted his policy of war against the peasantry (*The Russian Revolution*) pp. 384-89).

In the late thirties, M. N. Roy headed an anticomunist Marxist group. In 1937, he founded his weekly 'Independent India' which later on was renamed the 'Radical Humanist' in 1949. In June 1939, he organised the league of Radical Congressmen. He had joined the INC and left it after his defeat for its presidency in 1940 by Abul Kalam Azad and organised Radical Democratic Party in December, 1940 with a new orientation towards 'scientific politics.' During the second world war he was in favour of helping the Allies and argued for an agrarian revolution in India.<sup>6</sup> Roy condemned the Indian revolution of 1942 as a fascist attempt of Indian nationalists and a movement organised by the industrial and financial patrons of the Congress.<sup>7</sup> Supporting Cripps' proposals he argued for a people's government and ridiculed the demand for a national government as "fashionable but fraudulent"<sup>8</sup>. Gandhism appeared to him fascist because it was a clever device to manipulate mob psychology and the rampant illiteracy and dogmatism of the people. If Gandhi was the champion of national capitalism, Jawaharlal Nehru was "a thoughtless, vain, egocentric, popularity-hunting demagogue, who was popular among congressmen with a "modern outlook, because his demagoguery rationalised Gandhi's irrationalism."<sup>9</sup>

In order to promote a Renaissance Movement, Roy began to examine the cultural heritage of India and developed certain ideas. He found that the intellectual atmosphere of nationalist India was dominated by the anti-Western revivalist outlook which was a positive danger,<sup>10</sup> though psychologically natural. The Renaissance Movement launched under the banner of reason developed its own dynamism and started a process of intellectual exploration which



proved fatal to Marxism itself. The movement which was against Gandhism ultimately ended in liquidating Roy's Marxism. From the conception of the Renaissance Movement to the birth of New Humanism the process was continuous and full of philosophic adventure.

M. N. Roy lost his faith in the predominant role of objective forces in the making of history and began to consider human ideas as more fundamental. Developing humanist historiology, M. N. Roy argued that history is not providentially ordained, nor economically determined nor is it a simply an unfoldment of the universal spirit. Man has the power to make as well as to mar history.<sup>11</sup> The history of man is not an inevitable or predetermined process. History is not a chaotic conglomeration of fortuitous events but it is a science, a determined or rational process of development in which human will is the most powerful factor. Hence, Roy tried to combine free will and determinism in his philosophy of history.<sup>12</sup>

Even when Roy had been a Marxist he had stated that there was nothing inevitable in history.<sup>13</sup> Human history is composed of physical or material and human or mental factors.<sup>14</sup> According to Roy, both human as well as social, economic and political institutions have a common origin in man's urge for freedom,<sup>15</sup> and processes influence each other. But in no particular point of the process of the integral human evolution, can a direct causal relation be established between historical events and the movements of ideas.<sup>16</sup> History, in other words, is determined by the integral interaction of both the processes and any one of them should not be treated as the fundamental. Human history, Roy pointed out, is made more by the human brain than by brawn.<sup>17</sup>

In spite of his recognition of the vital role of ideas he tried to maintain the position of materialistic monism. He wrote: "Ideas are not *Sui generis* metaphysical entities which



somehow interject themselves into the material make up of man; nor are they a priori etherial forms pre-existing or existing simultaneously with the events of the material world".<sup>18</sup> Again he wrote: "philosophically, I am not an idealist. But one need not believe in the metaphysical sovereignty of ideas, and yet admit that once formed spontaneously ( ideation is a psychological process ) or instilled artificially into consciousness, ideas determine human action to a very large extent. Hence there is the decisive role of ideology in the development and ultimate success of any political or social movement".<sup>19</sup>

Although ideas have a physical origin, yet after being born in human minds they attain autonomy and become an independent force. "Mind and Matter", Roy observed, "can be reduced to common denominator, but as such, they are are two objective realities."<sup>20</sup> Once the ideas are formed, they exist by themselves governed by their own laws.<sup>21</sup> Ideas have a history and a development, their own, independent of the changes in society. The relation between the growth of a new ideology and the rise of a new social class is not causal, either way, it is accidental.<sup>22</sup> Faced with a new problem, man, led by the urge for freedom, tries to develop a new idea out of the existing store of human thoughts. A new idea, therefore, must be referred back to the old ideas.<sup>23</sup> If the ideas of man were wholly determined by the environment or economic mode of production, man would have remained a slave of the latter while men can also shape their environment.<sup>24</sup>

The philosophical, sociological and political writings of M. N. Roy indicate a progressive breaking away from his Marxian antecedents and affiliations. He supported a critical approach to Marxism from the very beginning. He maintains that there are pragmatically proved errors and inadequacies of the Marxist political theories and social doctrines.<sup>25</sup> He wanted to restate the humanist, libertarian,



moralist, kernal of Marxism after freeing it from the dogmatics of economic determinism.<sup>26</sup> So far as the teachings of Marx are concerned, either he repudiated them or made substantial modification in them. He writes: "Marx's proposition that consciousness is determined by being has placed materialist metaphysics on a sound scientific foundation. His subsequent thought, particularly sociological, however, did not move in the direction indicated by significant point of departure. Marxism, on the whole, is not true to its philosophical tradition. In sociology, it vulgarises materialism to the extent of denying that basic moral values transcend space and time. With the impersonal concept of the forces of production, it introduces technology in history, grossly contradicting its own belief that man is the maker of his destiny. The economic determinism of its historiography blasts the foundation of human freedom because it precludes the possibility of man ever becoming free as an individual. Yet, contemporary sociological thinking has been considerably influenced by the fallacious and erroneous doctrines of Marxism which do not logically follow from his philosophy."<sup>27</sup>

Ideas are created by men, and as such belong to the entire race, and not to any particular class. They have their autonomy and a logic which is not dialectical, but dynamic. Therefore, political doctrines of the bourgeois revolution, theories of the classical capitalist economics and the principles of the Hegelian philosophy could all go into the making of Marxism, which called itself the ideology of the proletariat, but the positive elements of which will survive the proletarian revolution. Marxism was not a negation, nor a negation of negation, of older ideas that it took over; without those ideas, there could be no Marxism. Therefore, the laws of the dynamics of ideas cannot be called dialectical.<sup>28</sup>

He refuses to accept that matter and forces of production move dialectically. The dialectical materialism of Marx



is materialist only in name; it is essentially an idealistic system. No wonder that it disowned the heritage of the eighteenth century scientific naturalism and fought the humanist materialism of Feuerbach and his followers.<sup>29</sup> In fact dialectic is a category of idealist logic. To equate this process of subjective idealistic with the process of movement of the total objective reality is an unfounded belief. The transition of ideas from democracy to socialism was "not dialectical but continuous". Hence ideas have their autonomy and logic which is not dialectical but dynamic.

The materialism of Marxism is dogmatic and unscientific which neglects the creative role of the human subjects. Marx under the influence of Hegelian dialectics had rejected the eighteenth century materialism of Diderot, Helvelius and Holbach and repudiated the humanist materialism of Ludwig Feuerbach by whose *Essence of Christianity* he had been influenced. Marx did not pay adequate attention to the work for a revolt against the fatalism implicit in the prophetic sociology of Karl Marx.<sup>30</sup>

In this perspective, the Marxian interpretation of history is defective according to Roy, because it ignores the role of mental activity in social process. The intelligence of human being and cumulative actions are very powerful social forces. M. N. Roy accepts two parallel processes—ideal and physical. No specific historical context can a causal relation be traced between social hunch and movements of ideas. Philosophically, the materialist conception of history must recognise the creative role of intelligence.<sup>31</sup> Once the biologically determined process of idealism is complete, ideas are formed, they continue to have an autonomous existence. The two parallel processes, ideas and physical, compose history. Both are determined by their respective logic or dynamics or dialectics. At the same time they are mutually influenced. That is why history becomes an organic process.<sup>32</sup> There is no direct specific correlation between a system of ideas and a set of events.<sup>33</sup>



Criticising the economic interpretation of history, he explains that before man became a *homo economics* in quest of economic amenities, he was guided by biological considerations. An anthropological study of the primitive history of man indicates that the early history was directed and motivated by the drives and urges of man which were biological in nature. Thus biology and not economics dictated the early activities of mankind. Hence the early even later history of man cannot be comprehended under the rubric of 'economics'.

Thus, economic determinism does not necessarily follow as a logical corollary from the philosophy of materialism. It is possible to be a materialist and accept divergent criteria of historical interpretation, for example, power determinism or climatological determinism or anatomical physiological determinism, because political power, climate and the physiological system of the inhabitants are also material forces. Hence there is no necessary and inevitable connection between philosophical materialism and the economic interpretation of history.

According to Roy, the ethical foundations of Marxism are weak because they are relativistic and dogmatic and their psychological basis is untenable. Marx states and expounds the radical behaviouristic doctrine that in process of struggle with nature man changes his own nature. There is nothing stable in human nature. He thus accepts the total malleability of human nature. The same is with the psychological foundation of Marx. The negation of a permanent element in human nature would imply the negation of ethics. No sane ethics can be built in human nature which make essential the realisation of some permanent values. In opposition to Marxism, Roy accepts that there is something stable and permanent in human nature which is the basis of duties and rights. The subordination of man to the overwhelming dominance of the forces of production is a neutral-



ization of his autonomy and creativity. Moral consciousness is not a product of economic forces. Contrary to Marx, Roy has put forward humanist ethics which exalts the sovereignty of man and believes in the axiological hierarchy of freedom and justice.

Under the influence of the Hegelian thesis of moral positivism, Marx denounced the liberal individualism. This positivism may also become a foundation for a philosophy of "Machtpolitics".<sup>34</sup> The Marxist concept of freedom means slavery for the individual, and a society composed of voluntary slaves can never be free.<sup>35</sup> In his neglect of the value of individual autonomy, Marx proved himself disloyal to his humanist Feuerbachian antecedents and betrayed his earlier humanism.<sup>36</sup> The moral degeneration of the movement of international communism results from upholding the relativism of ethical criteria and the exaltation of the Hegelian type of moral positivism.<sup>37</sup>

The failure of contemporary society to get bifurcated into antithetical polarised sectors as prophesised in the Communist Manifesto adds additional material for doubt upon the Marxist Thesis. The decline of capitalism spells the destabilisations of the middle classes. Roy regarded socialism as an ideology conceived by middle class intellectuals. Against Marx's prophetic declaration, the cultural and political leadership of the middle class is a potent fact of post 1919 world history.<sup>38</sup>

Like Karl Mannheim, Roy also accepts that there is an element of voluntaristic romanticism in revolution which is antithetical to dialectical materialism. The contradiction in Marxist historiography arises from the attempt to combine the belief in history and cosmos as a process with the enunciation of the teleological concept of freedom of revolutionary will and action in changing the texture of that process. Thus, Roy feels that materialistic determinism and revolutionary teleology cannot be reconciled. Marxism



contained elements of contradiction.<sup>39</sup> The simultaneous juxtaposition and teleological revolutionary romanticism led to their mutual neutralisation and Marxism degenerated into the cult of collective irrationalism. The later aberration and violent practices of totalitarian communism are to be traced to this original fallacy of Marxism.<sup>40</sup>

Roy followed Lenin in the view that the researches in modern physics did not neutralise materialism but only deepened it. The repudiation of the substantiality of matter by Schroedinger and Heisenberg does not neutralise the objectivity of an extrapercipient reality. Modern physics subtilizes our conception of atom, passes even beyond atom to the recognition of electron and proton, but it does not pulverize the notion that at the root of our cognitions there is some basic existent which is non-mental.

Roy's stress on an extra-percipient reality would distinguish his position from that of F. C. S. Schiller who pleads for the potency of human desires, ideas, and cognitive enterprises in transforming reality. Roy even dogmatically asserted that modern physical researches demonstrate the materiality of the experienced world. Matter remains for him an objective category. Hence, towards the end, Roy even pointed out that the name 'physical realism' should be substituted for materialism.

Although Roy repudiated the metaphysics of dialectical materialism, he stuck to the sensationalistic epistemology. All knowledge has its root in the physical substratum. Roy regards sensation and perception<sup>41</sup> as the source of knowledge. To him, perception is not caused by external agencies, as the old causal theory held; external stimuli cause sensations which are perceived by the mind. This was very sympathetic appreciation of Calvin's sensationism<sup>42</sup>.

He, however, gave more importance to conceptual thought than the later Marxians like Engels and Lenin had



done. Lenin had stressed the immediacy of thought. But Roy shows Hegelian influence in stressing also the conceptualistic non-perceptualistic elements of thought.<sup>43</sup> Perception is automatic organic reaction, while cognition involves an interpretative, denotative and selective act.

Roy accepted that part of the Marxian Thesis which propounds the necessity of the congruence of thought and practice. Any action, to be successful must be in consonance with a clearly thought-out plan.<sup>44</sup> They would need a philosophy which would harmonise thought and action.<sup>45</sup> The congruence between the structure of thought and the objective patterns of the situational structure is essential.

He regarded the theory of surplus value as fallacious. He writes: "the theory that production of surplus value is the specific feature of capitalism and represents exploitation of the working class, is the fundamental fallacy not only of Marxist economics, but of the entire philosophy of revolution ... Social progress, particularly development of the means of production, since the dawn of history, has been conditional upon the fact that the entire product, at any time, of the labour of the community was not consumed. The margin can be called social surplus, which has through the ages been the lever of all progress."<sup>46</sup> The fallacious doctrine of surplus value and particularly of the experience of its appropriation, provided the theoretical foundation of the dogma of class struggle.<sup>47</sup>

He does not give any evidence of being conversant with the Marxian theories of accumulation of capital, capitalist reproduction and the possible contradiction in the labour theory of value propounded in volume one of the Capital and the price of production theory in volume three of Capital. This is also said that as a Marxist critic, he could have drawn additional strength from the writings of Bohm-Baweski, Ludwig Von Mises, and Tugen-Baranovsky.<sup>48</sup>



According to Roy, Marx introduced the element of romanticism into Marxism through the incorporation of the word dialectic. Marx and Engels took over from Hegel much more than "the revolutionary side of his philosophy." The dialectic process of history can never be independent of the dynamics of thought. Therefore, the founders of dialectical materialism inherited from Hegel a considerable element of idealism together with the dialectical method. As a matter of fact there is little of essential differences between Hegel's idealistic conception of the evolutionary process of history and the Marxist doctrine of historical determinism. Hegel's philosophy of history was essentially humanist. The dynamic concept of Idea in dialectic relation to nature and history showed the escape out of the vicious circle of metaphysical speculations, and provided a basis for action with high ideas for participation in the affairs of the secular world with the objects of remaking it, and with the conviction that the thinking man had the power to do so.

To delink materialism from the idealist tradition, Engels traced the origin of thought to "matter in motion." Logically, he admitted that the two were co-existent in the process of biological evolution, and as such were bound to be mutually influenced and determined. Otherwise man could not possibly be the architect and maker of the social world. The ad hoc concept of matter in motion does improve upon the Newtonian natural philosophy which, notwithstanding its mechanical view of the physical universe, makes room for a deus ex machina. Nevertheless, as "motion" (later on conceived as energy of the vital forces) God interferences in the physical process of the evolution of matter in that case, man must be deprived of any creative power; and the Marxian philosophy of action would have no leg to stand on. Therefore, Marxist Materialism, to be a self-contained system of philosophical thought, necessarily, though not always explicit, recognises the sovereignty of



ideas, and admits that they are as real as physical and social process.

Identity of thought and being, taken over from Hegel by Marx and Engels in their dialiectical Materialism, is an essentially idealistic doctrine. Identity of two things implies the notion of their co-existence. If thought is identical with being, then it must be admitted that consciousness in which thought originates is not conditional on life; that there is such a thing as cosmic consciousness co-existent with the physical universe. That admssion logically compelled by the doctrine of the identity of thought and being, thoughtlessly incorporated in Marxist materialism, strikes at the root of the materialist philosophy.<sup>49</sup>

On the other hand, according to Roy, if the doctrine of that thought is identical with being, from a certain level of biological evolution, then it cancels the other Marxist doctrine that ideological systems are mere superstructures of economic relations. In the context of materialist philosophy, which associates consciousness with life and traces the origin of life in organic matter, the doctrine of the identity of thought and being only means that in the biological process of evolution, including social evolution and history, thought is co-existent with physical being. With this doctrine, shared by both, idealism flows into Materialism.<sup>50</sup> Karl Marx did not stop at the materialism of the eighteenth century; he also advanced philosophy. He enriched it with the acquisition of German classical philosophy, specially of the Hegelian system.<sup>51</sup>

Marx's belaboured exposition of the inadequacies of the "machanical Materialism" did not make dialectic more acceptable to the opponents of the post-Hegelian German materialists. Representing the democratic spirit of post-Hegelian scientific Materialism, Buechner, for example, wrote in the preface to his famous book (Kraft and staff): "It lies in the nature of philosophy that it should



be a common property. Expositions which are not intelligible to an educated man are scarcely worth the ink they are printed with. Whatever is clearly conceived can be clearly expounded." The "mechanical materialist" also wanted, as did Marx, to bring philosophy down from the clouds of speculative thought on this earth to reflect experience of the realities of life. The last sentence of the passage quoted above meant a total rejection of philosophical dealing with abstractions such as the univers of the Realists, extra-sensual categories of the metaphysics and vague concepts about their nature,

Those intellectual efforts marking a highly significant stage in man's endless struggle for spiritual freedom were not appreciated by Marx, whose philosophy inherited rather the objectionable features of the Hegelian system than its progressive and revolutionary tendencies. The philosophical foundation of Marxism was laid in years preceding the publication of the Communist Manifesto. During that period Marx, ably seconded by Engels, carried on a bitter controversy with the young Hegelians and the philosophical radicals who called themselves "German Socialists" all disciples of Feuerbach. In that controversy, which has become an integral part of the Marxist system, its founders defended Hegel against all his pupils who represented the materialistic and naturalist tendencies in his system against mystic idealism.

The implications of Hegel's memorable reference to the French Revolution as the first effort of Man to be guided by reason was put in plain language by Heine. Heine declared "If we can weaken people's faith in religion and traditions, we will make Germany a political force." The spirit of the Renaissance at last challenges the deep-rooted influences of the Reformation in Germany. David Strauss, Feuerbach, the Bauer brothers, Moses Hess, Gutzkow, Mundt, Marx, Graen, Cylde and a whole host of Radical thinkers followed Hegel's lead.<sup>62</sup>



In the earlier years of his career, until he chose to assume the role of the prophet of an inevitable revolution, Marx also belonged to that distinguished company. In those early days, he believed that an industrially and politically backward country like Germany in the middle of the nineteenth century could contribute nothing to the advance of European civilization except a philosophical understanding of human aspirations and historical process. Yet, later on he bitterly attacked the German Socialists actually for holding this view.

Marx started his career as the editor of the 'Rheinische Gazette'—an organ of the Hegelian labour bourgeoisie. As a liberal, he was critical of socialist ideas coming from France. In 1840, the young Hegelian Moses Hess returned from a visit to Paris full of enthusiasm for the sacred cause of the liberation of the 'dehumanised humanity.' Marx gave a sympathetic hearing to the glowing account of the socialist movement in France which had by that time reached the high water-mark. But he pointed out that the socialist idea that society should be built from the bottom did not fit in the Hegelian dialectics of history; that the creation of a society free from the curses of money, profit and poverty presupposed self-negation of the established order. Only then a higher synthesis could result from the negation of the negation. Until then, the true Hegelian must be guided by the dictum that the actual is rational. Where were the indispensable conditions for a great change?<sup>53</sup> Changes do not happen simply because they are desirable, but of necessity. A revolutionary reconstruction of society is not a matter of human desire, human will, human aspiration and human endeavour; it takes place of necessity.<sup>54</sup>

With these Hegelian arguments which have subsequently been used by conservative defenders of the status quo. Marx came to the conclusion that the socialist had postulated the end of the system of money, profit and poverty without



proving that it was inevitable. Therefore, he characterised the socialist movement, which was inspired by the tradition of the French Revolution and the doctrines of the earlier moralist as utopian. However, compelled by other considerations also, he agreed to go to Paris to study the socialist movement and its ideas. There he reached the second source of his system. Under the influence of the romantic tradition of the French Socialist Movement, young Marx's philosophical ideas began to outgrow the conservative implications of Hegel's philosophy and oriented towards revolutionary activism. But even then his criticism of Hegel's political philosophy was not directed against the Hegelian state. Roy is confident that Marx's conception of the state remained Hegelian; only it was to be established not by the German nation but by the proletariat.<sup>55</sup>

Feuerbach made a considerable contribution, according to M. N. Roy, to the solution of the problem of materialism, and in that sense his humanist materialism was really the "outcome of the classical philosophy," as Engels characterised it. Breaking away from its admitted source of inspiration, the Marxian dialectical materialism dehumanised humanity subordinating its entire history, political, social, cultural and intellectual, to a secular telos, and rested on an ill-conceived romantic view of life on a soulless mechanistic materialism which it claimed to have rejected. A criticism of Feuerbach's humanist materialism by Marx was a wrong start and put an indelible stamp on the entire Marxist system.<sup>56</sup>

Marx was very proud of the historical sense of his philosophy. But the criticism with which he began formulating it reveals a woeful lack of appreciation of the historical significance of a whole period of intellectual development, simply because he wanted to assert the superiority of his philosophy of an immaculate conception of a whole system of ideology sucked out of his thumb, so



to say, without any past, but claiming the monopoly of the future. If he applied historical sense to the appraisal of his philosophy, he would be compelled to admit that he did not conceive one single idea, philosophical, political or economic, which had not been known previously; that in short, his philosophy was only a continuation of past philosophies. Otherwise, his materialist interpretation of history of society as well as philosophy would be untenable.

Roy blames that in his controversy with the young Hegelians and the followers of Feuerbach, Marx allowed no place to mental activity in the process of social evolution, indeed not even in the process of development of man himself. "Man can be distinguished from animal by consciousness, by religion, or anything else you like. They themselves begin to distinguish from animals as soon as they begin to produce their means of subsistence—a step which is conditioned by their physical organisation." The brain is indeed a part of the physical organisation; and sensation and perception can be explained as physiological functions. But conceptual thought is a purely mental phenomenon, and it distinguishes the most primitive man from the highest animal.

The substratum of human nature is stable; otherwise, the world of man could not be differentiated from the world of animals ruled by the laws of the jungle. The rock-bottom of human antedates the economic and political organisation of society. The origin of mind is there. In that sense, mental activities are determined in the earlier stages by physical existence and therefore by social conditions. But the becoming of man involves the parallel process of mental and physical activities.

Finally, Marx did not carry the analysis of phenomenon far enough, beyond the dawn of social history. Therefore, his Materialism is dogmatic and unscientific. On the other



hand, the negation of a constant element in human nature leads to the negation of morality. Without the recognition of some permanent values, no ethics is possible. If they are not to be found in human nature, morality must have a transcendental sanction. The choice for Marxian Materialism, therefore, was between the negation of abiding moral values and relapse into religion. Theoretically it chose the first, although in practice, dogmatism eventually also put on it a stamp of religious fanaticism, Roy concludes.

### REFERENCES

1. J. P. Bhattacharya, *Evolution of Political Philosophy of M. N. Roy*, p. 28.
2. Roy Memoirs ( January 24, 1954 ), p. 43.
3. Jane Degras ( ed. ), *The Communist International, Documents*, Vol. 1, pp. 138-144.
4. M. N. Roy, *Revolution and Counter Revolution in China*, p. 302.
5. M. N. Roy, *The Communist International*, pp. 48-49.  
R. C. North and M. J. Hudin, M. N. Roy and the Theory of Decolonisation; *The Radical Humanist*, July 12, 1959.
6. M. N. Roy, *War and Revolution*, p. 20.
7. *Ibid*, p. 96.
8. M. N. Roy, *National Government or People's Government*, pp. 45-58.
9. M. N. Roy, *The Problem of Freedom*, pp. 36-46.
10. M. N. Roy, *Indian Renaissance Movement*, p. 28.
11. M. N. Roy, *Principles of Radical Democracy*, p. 15.
12. M. N. Roy, *Reason, Romanticism and Revolution*, VIII. p. 287.
13. M. N. Roy, *The Future Socialism*, p. 14.
14. M. N. Roy, *Beyond Communism*, p. 49.
15. *Reason, Romanticism and Revolution*, II, p. 287.
16. Principle No. 6
17. *Reason, Romanticism*, 1. p. 13.
18. *Beyond Communism*, p. 48.
19. *Indian Womenhood*, (Fragments of a prisoner's Diary, Vol. II), pp. 103-104.



20. *Beyond Communism*, p. 49.
21. *Principle* No. 6.
22. *Beyond Communism*, P. 52.
23. *Reason, Romanticism and Revolution*. 1, p. 13.
24. M. N. Roy, *Politics, Power and parties*, p. 127.
25. *Ibid*, p. 3.
26. *New Humanism*, pp. 25-26.
27. *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II, pp. 216-2 217.
28. *Ibid*, p. 190.
29. *Ibid*, p. 186.
30. *Ibid*. p. 21.
31. *Ibid*. Vol. II. p. 309.
32. *Ibid*, Vol. I. p. 11.
33. 22 Theses : Principles of Radical Democracy, Calcutta, 1946, p. 6.
34. M. N. Roy, *New Humanism*, p. 28.
35. M. N. Roy, *Politics, Power and Parties*, p. 8.
36. M. N. Roy, *New Humanism*, p. 28.
37. *Ibid*, p. 29.
38. *New Humanism*, p. 35.
39. *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II. p. 204.
40. *Ibid*, p. 223.
41. M. N. Roy, *Science and Philosophy*, p. 196.
42. M. N. Roy, *Reason, Romanticism and Revolution*, p. 110.
43. M. N. Roy, *Science and Philosophy*, p. 205.
44. M. N. Roy, *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II p. 292.
45. *Ibid*, p. 293.
46. *New Humanism*, p. 31.
47. *Ibid*, p. 33.
48. Dr. V. P. Verma, *Modern Indian Political Thought*, P. 503.
49. M. N. Roy, *Reason, Romanticism and Revolution*, p. 162.
50. *Ibid*, p. 163.
51. Lenin, Teachings of Karl Marx.
52. M. N. Roy, *Reason, Romanticism and Revolution*, Vol. II, p. 172.
53. *Ibid*, p. 173.
54. *Ibid*.
55. *Ibid*, p. 174. When the Prussian army was marching on Paris in 1970, in a letter to Engels Marx wrote : "German supremacy over that of the French on the world stage would be at once mean the supremacy of our idea over Prudhan's,
56. *Ibid*, p. 177.







# **MATERIAL INTERESTS, CLASS COMPROMISE, AND THE TRANSITION TO SOCIALISM**

**ADAM PRZEWORSKI**

This essay examines the conflict between capitalists and wage earners over the realization of material interests in advanced capitalist societies. The central question is whether wage earners' pursuit of their material interests will necessarily lead them to opt for socialism.

This is an old question and the responses to it are familiar, emphatic, and confused. One response is attributed to Marx and is, in fact, found in some of his writings, particularly in *Wage, Labour and Capital*. There Marx maintained that since the national product generated by the capitalist sector of economy is divided into a part appropriated by capital as profit and part paid in exchange for labor power as wages, the shares of capital and labor are inversely related. That much is obviously true, since the product is by definition constant at any instant of time. But Marx went much farther. He claimed that even when accumulation is viewed in dynamic terms in fact, even when workers' conditions are improving, the conflict over distribution retains an essentially noncooperative character. For Marx this conflict is irreconcilable within the confines of the capitalist society.

The political conclusion Marx and most of his followers drew from this analysis is that workers, pursuit of material interest must lead them to realize that these interests can be advanced if and only if the entire system of wage labor is abolished. As Luxemburg put it in 1900, "as a result of its trade-union and parliamentary struggles, the proletariat becomes convinced of the impossibility of accomplishing a fundamental social change through such activity and arrives



at the understanding that the conquest of political power is unavoidable."<sup>1</sup> From the "objective conflict of material interests" one can proceed to the political, equally objective, "fundamental interest in socialism" by means of a syllogism.

This response found a mirror image among those defenders of capitalism who claim that the capitalist system is essentially cooperative, that it constitutes a "non-zero-sum game," and the workers are better off when they cooperate with capitalists to increase the size of the pie rather than fight over relative shares. Marx is said to have been blinded to see only the seamy side of history, grim side of conflict rather than the radiant promise of cooperation.<sup>2</sup> The alleged deradicalization of working-class movements constitutes in the eyes of anti-Marxist proponents of economic determinism a sufficient proof that in the course of economic development workers have themselves discovered the advantages of compromise and abandoned all thought of transformation.

The issue is ideological which is to say important, and it would be naive to expect that we can reach a consensus. Nevertheless, I will show immediately that its present formulation is muddled and that if we can agree to some assumptions we will arrive at unambiguous answers. I will therefore, proceed deductively, from assumptions to their logical consequences.

#### **The Problem Defined**

I will approach the issue in its narrowest possible formulation since it is in such a narrow formulation that the question has been traditionally posed. Specifically, I will assume that workers under capitalism have an interest in improving their material welfare, and I will base the entire analysis of their political preferences and strategies on this narrow assumption.

Note that it might be true that workers are, in fact endowed under capitalism with some needs that transcend



this system and that by definition can be realized only under socialism for example, "an eternal striving for freedom and justice."<sup>3</sup> This kind of an assumption, however, would reduce the question of workers, preference for socialism to an immediate tautology. The question here is not whether human kind is endowed as a species with some kind of a transcendental need for socialism but only whether the needs that workers seek to satisfy under capitalism would necessarily lead them to opt for socialism as a better system for satisfying these needs.

Secondly, even under capitalism workers may have many needs: a need for autonomy in the work place, for free time, for sex, or for beauty. The quest for satisfaction of this needs may lead workers to reject capitalism. I will return to such eventualities, but for the moment the analysis will be limited to material interests, that is, those needs that can be satisfied through the consumption or use of objectifications of socially organized activities of transformation of nature which, under capitalism, are commodities. Again, the question is not whether under capitalism workers experience any need that would lead them to opt for socialism but only whether those needs that in principle can be satisfied as the result of the socially organized process of production would inevitably lead them to opt for a socialist organization of this process.

Furthermore, not all material needs become organized as interests. Following Heller, I will treat as interests such needs that can be satisfied by consuming or using commodities and for which the barriers to satisfaction are (in a particular society) external to the needs of a particular individual.<sup>4</sup> If I can not consume more cake and wine because I want to be beautiful, that is, if the only barrier to satisfying a need consists of my other needs, then this need is not a referent of interests. Hence needs that can be satisfied by objectifications turn into interests under conditions of scarcity.



I assume, therefore, that workers under capitalism have an interest in improving their material conditions. The question is whether the pursuit of this interest, and only of this interest, would necessarily lead workers to opt for socialism as a superior system for satisfying material needs. Writing at the turn of the century, leader of the United Mine Workers posed the following choice for organized workers: "Trade unionism is not irrevocably committed to the maintenance of the wage system, nor is it irrevocably committed to its abolition. It demands the constant improvement of the condition of the workingmen, if possible, by the maintenance of the present wage system, if not possible, by its ultimate abolition."<sup>5</sup> The question is whether the demand for "the constant improvement of the conditions of the workingmen" would necessarily lead workers to opt for the ultimate abolition of the wage system as a whole.

Imagine a situation in which capitalists appropriate profit and consume it entirely. Under such conditions workers would certainly be better off—immediately or at some time in the future—if they did not consent to the private appropriation of profit. They would be better off immediately if they were the ones who consumed this part of the product; alternatively, they would be better off in the future if they withheld this part from current consumption and invested it. Or suppose, more realistically and in the spirit of Marx's analysis, that capitalists do invest some part of profits they withhold and that they themselves consume the remaining part of the increment that resulted from past investment. In this situation the process of accumulation would continue, but workers would not at any time be the beneficiaries of it. Hence, although the game would no longer be a zero-sum one, workers would perpetually be as badly off as they could physically be. Under these conditions workers would again be better off if they did not tolerate the private appropriation of profit but instead kept the



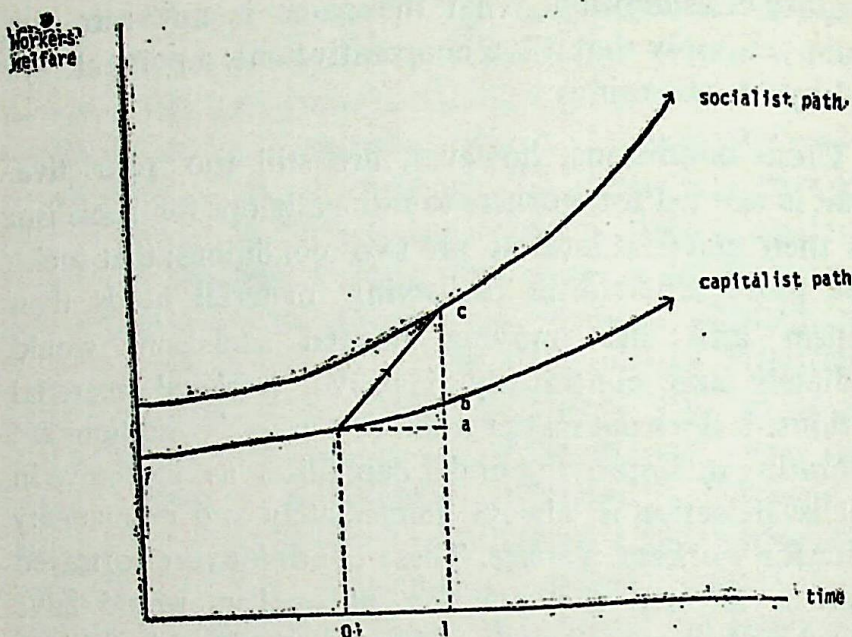
entire product and either consumed it or invested it for their own future consumption. That the game is not zero-sum does not yet imply that it is a cooperative one: a point always missed by Marx's critics.

These conditions, however, are still too restrictive. All that is needed for workers to rationally opt for socialism out of their material interest are two conditions: that socialism be more efficient in satisfying material needs than capitalism and that moving toward socialism would immediately and continually improve workers' material conditions. It does not matter whether workers' conditions are deteriorating or improving under capitalism as the move in a socialist direction is always immediately and permanently superior for workers' welfare. These conditions are portrayed in figure 1. Even if the situation of workers would have improved under capitalism from level  $a$  to level  $b$ , workers would be better off by the amount  $c$ -minus- $b$  if they had taken the socialist path at time  $t=0$ . Hence, even if their material conditions were improving under capitalism, rational workers would opt for socialism as a necessary consequence of their material well-being. In this situation, it is indeed true that "even the most favorable situation for the working class, the most rapid possible growth of capital, however much it may improve the material existence of the worker, does not remove the antagonism between his interests and the interests of the bourgeoisie, the interests of the capitalists."<sup>6</sup>

The very possibility that such a situation may exist is sufficient to demonstrate that empirical studies that relate the improvement of workers' conditions ("embourgeoisement") to their "deradicalization" rest on invalid epistemological premises, as do all empirical studies that do not specify the possible alternatives to the observed history. Even if it were empirically true that workers' organizations became deradicalized at the same time as improvements of their material



Figure 1



welfare occurred, one could not draw from this observed historical covariation any causal inferences unless it was possible to prove at the same time that a better alternative was not available.<sup>7</sup> If workers are said to have been deradicalized *because* their conditions improved, then one must admit the possibility that they would have become more radical if these conditions would have improved even more by making a step toward socialism. Empiricist epistemology is intrinsically ideological since it implicitly denies the existence of any historical alternatives: while the proposition that deradicalization coincided historically with embourgeoisement is capable of being judged true or false, the proposition that workers became deradicalized *because* their material conditions improved is not subject to such a test unless the other possibilities are explicitly denied. The observation that workers' conditions improved in the course of the history of capitalism is not sufficient in itself to draw any inferences about their preference for a particular form of social organization. For, if Marx was right, workers are always better off by moving in the direction of socialism.



Before going any further, it might be useful to clarify what moving toward socialism means here and what other options we have. As a first approximation, suppose that workers have three options. One, they can claim the entire capital stock ( "means of production" ) from capitalists and reorganize the system of production in such a way that the directions of investment and the decision to withhold from current consumption would be made by all citizens rather than by owners of capital or their delegates. Investment funds would thus be deducted directly from the gross product, profits being abolished as a juridical and as an economic category. This claim for reorganizing the process of accumulation I consider to be a step toward socialism.

Two, workers can claim the entire current product or even a part of the capital stock without reorganizing the process of withholding from current consumption. This is a purely economicist strategy.

Three, they can claim less than the entire product, thus leaving a part in the hands of capitalists as profit. This strategy opens room for class compromise and cooperation with capitalists.

The hypothesis that material interests lead necessarily to an interest in socialism asserts that *if* workers are interested in a continual improvement of their material conditions and *if* they are rational, they must opt for socialism. This hypothesis would be false if its premises are true and one or both of the following could be shown to be also true: socialism is inferior to capitalism in efficiently allocating resources to socialism is inferred uses ( uses to be chosen by all citizens through some reasonable balloting system ), a la von Mises and his followers, and/or conditions exist under which a move the socialist direction makes workers worse off than a move along the capitalist direction.

I will immediately reject the first possibility and will assume throughout that as a system of organization of



production socialism would not be inferior to capitalism in satisfying material needs. Let me only note that this assumption does not refer to the historically realized performance of either system, about which there has been a fair amount of discussion, but to the potential capacity inherent in both systems, again a subject of recurrent debates. In particular, it would be a mistake to compare the historical record of capitalism with the potential envisioned in socialism, since such an approach would imply that workers are at all times as well off as they possibly could be at these times under capitalism. Hence, this procedure would exclude the possibility that capitalism could be reformed to improve workers' welfare.

Suppose, therefore, that socialism is superior to capitalism. The crux of the problem is whether this superiority is sufficient for workers to opt for socialism. If it can be shown that conditions exist under which a move in the socialist direction would be inferior to a move along the path of capitalism, then one could no longer deduce workers' socialist orientation from their material interests.

Let us first imagine what such conditions would be like and only then inquire about their existence. Suppose that socialism is potentially superior to capitalism at any moment of capitalist development (or at least after some threshold, if one believes that conditions must be "ripe") but that immediate steps toward socialism leave workers worse off than they would have been had they advanced along the capitalist path.<sup>8</sup> The equivalent of figure 1 would then look like figure 2. Under these stipulated conditions, moving from the full potential capitalist path to the full potential socialist path involves a temporary deterioration of workers' welfare. During their period  $t=0$  to  $t=1$ , the conditions of workers deteriorate below their past level and below the level that they would have attained under capitalism,  $c_1$ , and only



then they begin to improve. Although the level of welfare eventually attained on the socialist path,  $s_3$ , is higher than the level workers would have reached along the capitalist path,  $c_3$ , during the entire period until  $t=2$ , these workers would have been better off following the capitalist path. Between the capitalist path and the socialist one there is a valley that must be traversed if workers move at any time toward socialism. If such conditions indeed exist and if workers are interested in a continual improvement of their material welfare, then this descent will not be undertaken or, if it is undertaken, will not be completed by workers under democratic conditions.

At any time workers would thus face a choice between climbing upward toward the best situation they could obtain under capitalism and a temporary deterioration of their conditions on the road to socialism. At a fixed moment of time, we could portray this structure of choices as in

Figure 2

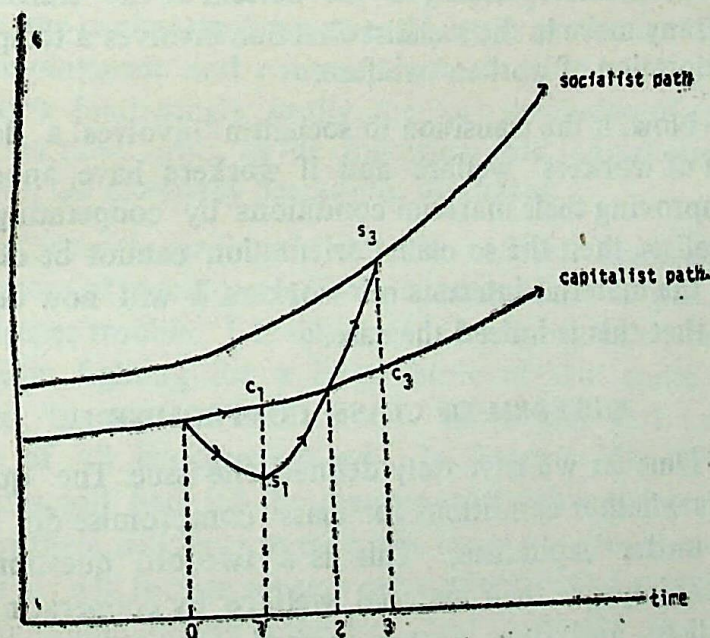




Figure 3

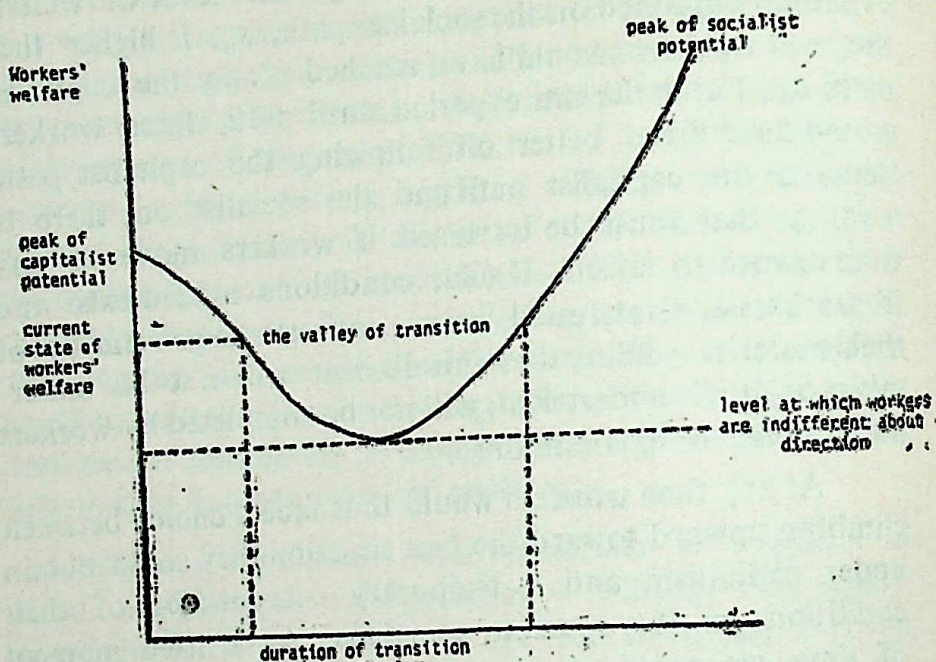


figure 3. As long as their current state is above the indifference level corresponding to the bottom of the transitional valley, any move in the socialist direction involves a temporary deterioration of workers' welfare.

Now, if the transition to socialism involves a deterioration of workers' welfare and if workers have an option of improving their material conditions by cooperating with capitalists, then the socialist orientation cannot be deduced from the material interests of workers. I will now demonstrate that this is indeed the case.

### THE FORM OF CLASS COMPROMISE

Thus far we have only defined the issue. The question now is whether conditions for class compromise do in fact exist under capitalism. This is a twofold question. Can workers improve their material welfare by cooperating with capitalists, and does a step toward socialism necessarily involve a temporary deterioration of workers' welfare? Before we answer this question, however, it is necessary



to understand what class compromise would look like under capitalism.

In a capitalist society profit is a necessary condition of investment, and investment is a necessary condition of continued production, consumption, and employment.<sup>9</sup> As Chancellor Schmidt put it; "the profits of enterprises today are the investments of tomorrow, and the investments of tomorrow are the employment of the day after," and in place of "employment" he might as well have said "production" or "consumption."<sup>10</sup> In any society some part of the product must be withheld from current consumption if production is to continue and consumption is to increase, but the distinguishing characteristic of capitalism is that most of the investment occurs out of profits, that part of the product that is withheld from the immediate producers. Hence under capitalism private profit is the necessary condition for the improvement of material conditions of any group in the society. Unless capitalists appropriate profits, the capital stock becomes depleted, production falls, and employment and consumption fall with it. In fact capitalists increasingly justify the very institution of profit exactly in these terms, as the following paid advertisement by Mobil Oil Company beautifully illustrates:

"Corporate earnings have to rise to levels substantially above those of recent years if our country is not to get into even deeper trouble. [ If this does not occur ] every group will begin fighting for a larger piece of that static pie. Women, blacks, and other racial minorities, and young people of all backgrounds will be hardest hit. College graduates will find job hunting even tougher. More and more of them will have to take jobs lower in the economic scale. This will further squeeze every minority and everybody else. Economic growth is the last, best hope for the poor and for all the rest of us. Sheer redistribution of income cannot do the job. We must create a steadily larger income



pie. This can be done only through economic growth. And only profitable private businesses can make the capital investments that produce economic growth and jobs and tax revenues".<sup>11</sup>

This dependence of accumulation upon profit can be formally described in many ways, among which I will choose a very simple macroeconomic model of the form :

$$Y(t+1) = (1+s/c)P(t) + W(t),$$

where  $Y(t)$  stands for the net national product,  $P(t)$  for net profit,  $W(t)$  for wages,  $s$  for the rate of saving out of profit, and  $c$  for the capital/output ratio and where the rate of saving out of wages is assumed to be negligible. At any time  $t$  the part  $s$  of profits  $P(t)$  is saved and invested into an economy in which  $c$  units of capital are needed to produce one unit of output. The rate of growth of such an economy depends upon the rate of profit and the rate of saving out of profit

$$\Delta Y(t)/Y(t) = sP(t)/cY(t) = sP(t)/K(t) = sp(t),$$

where  $\Delta Y(t)$  stands for the increase of the product between time  $t$  and  $t+1$ ,  $K(t) = cY(t)$  for the accumulated capital stock, and  $p(t) = P(t)/K(t)$  for the rate of profit. Hence the rate of growth varies proportionately to the rate of profit and the rate of saving out of profit. The rate of saving,  $s$ , characterizes the behavior of capitalists, since, given the share of profit in the national product, their decisions to invest and thus to save determine the rate of growth of the economy.

While profit is a necessary condition of development, it is not a sufficient condition for the improvement of material conditions of any particular group. First, capitalists may not invest the profits to increase productivity: despite constraints they may instead consume profits, invest them unproductively, hoard them, or export them elsewhere.



Second, even if capitalists do invest profits to increase productivity, no particular group can be in any way assured that it will be the beneficiary of this investment. Capitalists may themselves retain the increment, or they may enter into a number of alternative political alliances. Their market relation with workers ends as the cycle of production is completed and the wages are paid, and there is nothing in the structure of the capitalist system of production that would guarantee that workers be the ones to benefit from any part of the product being withheld from as profit,

These structural conditions limit any possible compromise between capitalists and workers. Since the appropriation of profits by capitalists is a necessary but not a sufficient condition for an improvement of the material welfare of workers, a class compromise is possible only on the condition that workers have a reasonable certainty that future wage will increase as a function of current profits. Any compromise must have the following form: workers consent to the perpetuation of profits as an institution in exchange for the prospect of improving their material well-being in the future. In terms of such a compromise capitalists retain the capacity to withhold a part of the product because the profits they appropriate is expected by workers to be saved invested, transformed into productive potential, and partly distributed as gains to workers.

This general logic of cooperation is not always stated explicitly. Indeed, during the early period of the development of the working class movement this compromise was based only on the right of workers to associate, to bargain collectively, and to strike. Eventually, explicit norms did appear pegging wages to prices, to the competitive position of an industry in the international system, and, especially during the expansionist period between 1950 and 1970, to increases of productivity. Nevertheless whatever the explicit



norm cementing a particular "social pact" the underlying logic of co-operation must relate future wages to current profits. The only conceivable reason for workers to consent voluntarily not to claim the entire social product is not treat current profits as a form of workers "delegated" investment.

Hence a class compromise must rest on some norm of the form :

$$\Delta w(t) = F[P(t-1)], t=0, 1, \dots, k \dots,$$

where  $\Delta w(t)$  stands for the increase of wages between time and time  $(t+1)$  expected under a particular agreement  $p(t-1)$  for the history of profits, and  $F$  for the rule that relates past profits to current wage increases under a particular agreement. For the sake of simplicity, and without much loss of generality, let the rule be simply of the form:

$$\Delta w(t) = r p(t).$$

The coefficient  $r$  represents, therefore, the proportion of current profits that must be immediately transformed into wage increases in the light of a particular agreement.

Note that a compromise is possible only on the condition that  $0 < r < (1+s/c)$ . Clearly,  $r$  must be larger than zero if this rule is to have any meaning. It may be less obvious why it should be less than  $(1+s/c)$  rather than simply 1 if the compromise is to be at all tolerable for capitalists. If  $r=1$ , then at time  $(t+1)$  capitalists pay as wage increases all of the profits they appropriated at time  $t$ . In the meantime, however, they would have invested these profits with the marginal rate of return  $(s/c)$  and after one period they would still be left with the amount  $(s/c)p(t)$ . Hence only when  $r=1+s/c$  are the entire profits confiscated at  $(t+1)$ . This level of  $r$  is thus immediately "confiscatory" with regard to the reinvested current profits, although it still leave; in the hands of capitalists the accumulated capital stock.



The coefficient  $r$  indicates the rate of transformation of profits into wage increases under which workers enter into a specific compromise. This coefficient can be treated, therefore, as representing the economic militancy of organized wage earners.

An agreement concerning the rate of transformation of profits into wage increases, however, would be still too tenuous from the workers' point of view because it leaves open the question whether capitalists will save and invest enough to make wage increases at all possible. The perennial complaint of working-class movements is that capitalists are too lazy or too inefficient to be entrusted with control over investment. Already in 1910, a French socialist noted the "timidity," the "uncertainty," the "lack of initiative" of capitalists. "We ask the French employers," he continued, "to resemble the American employer class . . . We want a busy, active, humming country, a veritable beehive always awake. In that way our own force will be increased"<sup>12</sup> And again in 1975, Chiaramonte complained in an official report to the Central Committee of the Italian Communist Party (P.C.I.) about "a disconcerting lack of ideas on the economic and industrial future of the country and on the productive prospects for their [capitalists'] own industries. They continue to cling to productive technical, and organizational policies adopted several dozen years ago . . ."<sup>13</sup>

Investment cannot be left to the control of capitalists: this is the second condition of a full-fledged compromise. While in the early stages of the development of capital-labor relations the conflict focused narrowly on the right to struggle for wage increases, the essential feature of the social democratic, Keynesian compromise has been the attention of working-class organizations to the actual investments out of profits.<sup>14</sup> Having announced the austerity policy having repeated that the P.C.I. "not aiming at a worsening of the situation; . . . or an aggravation of the crisis," Chiara-



monte continued, "this does not mean that we in any way think it would be sufficient to limit the workers' pay claims and demands for greater control over working conditions to automatically obtain an increase in investment and productive reconversion."<sup>15</sup> What the P. C. I. demands in exchange for "austerity" is control over investment. Or, as the 1973 Conference of the Irish Trade Union Confederation put it, "all workers must be guaranteed that their wage restraint will lead to productive and beneficial investment and not towards even further increases in the personal incomes of the privileged section of society ..."<sup>16</sup>

Given the uncertainty whether and how capitalists would invest profits, any class compromise must consist of the following elements: workers consent to profit as an institution, that is, they behave in such a manner as to make positive rates of profit possible; and capitalists commit themselves to some rate of transformation of profits into wage increases and some rate of investment out of profits.

### CONDITIONS OF CLASS COMPROMISE

Thus far we have only specified what a class compromise would look like if one was to be concluded. We can now proceed to the central question of this essay, namely, whether organized workers pursuing their material interests would opt for such a compromise or choose to struggle for a transformation of the system of production.

How would organized workers rationally make such a decision? Assume that workers seek to maximize the sum of wages they expect to obtain in some foreseeable future. Assume further that they discount the future on the basis of risk. Let  $W^*$  be the level of workers' welfare associated with a particular level of economic militancy and a particular rate of saving by capitalists, with the capital/output ratio and the level of uncertainty taken as given. Given this definition, workers will choose the level of economic mili-



tancy,  $r$ , that would maximize  $W^*$ , given the rate of saving by capitalists associated with this level of economic militancy. In other terms, workers will choose a level of militancy that constitutes a compromise if and only if this is the level that maximizes their welfare, given the expected response by capitalists.

The question then is what will be the response of capitalists to a particular level of workers' militancy. Capitalists can be expected to choose the rate of saving,  $s$ , that will maximize their own welfare given the level of militancy by workers. Assume that capitalists seek to maximize their own expected future consumption  $C^*$ , where  $C(t) = (1-s)P(t)$  is the consumption by capitalists at time  $t$ . Capitalists will thus choose the rate of saving that maximizes  $C^*$ , given the expected response by workers.

Now, the outcome of the conflict between capitalists and workers will be a pair of values of  $r$  and  $s$ ,  $(r^*, s^*)$ , which are associated with such values of  $W^*$   $[r, s]$  and  $C^*$   $[s, r]$  that both workers and capitalists would be worse off if they chose any other value of the parameter they respectively control. Suppose, then, that if workers behave in a noncooperative fashion, with  $r \leq 1+s/c$ , and capitalists respond in a noncooperative way, with  $s \leq 0$ , then workers obtain some amount  $W^*[g, 0]$  and capitalists some amount  $C^*[0, g]$ . Now, the question is whether both classes can improve their welfare by making some agreement in which  $r < 1+s/c$  and  $s > 0$ . If workers' welfare associated with the compromise solution is higher than their welfare associated with the conflict-oriented strategy then workers should rationally opt for class compromise, and  $r^*, s^*$  will be the terms of this compromise. Our problem, therefore, is to discover whether such a solution exists and whether the relation between  $r^*$  and  $s^*$  constitutes a compromise in the sense that  $r^* < 1+s^*/c$  for reasonable values of  $c$ .



Mathematical analysis, which I will not reproduce here, leads to the following conclusions.<sup>17</sup> There exist basically two types of situations depending upon the risk workers face as to whether an agreement will hold. If the risk is high that capitalists will not be able to deliver or will deliberately renege on their wage commitments, workers' welfare is the function of their economic militancy as shown in figure 4. When workers face a fair amount of uncertainty—when the institutionalization of capital-labor relations is limited to the right to organize and the state remains in hostile hands—their strategy depends upon their current level of economic militancy. If workers are not highly militant to begin with, that is, if  $r < r_m$ , they are better off moving to a relatively low level of militancy,  $r^*$  equal to about 10 percent of current profits. Suppose that  $r = r_1$ . Workers then face a choice of improving their conditions by obtaining from capitalists a commitment to a higher rate of savings in exchange for going down to  $r^*$  or of

Figure 4

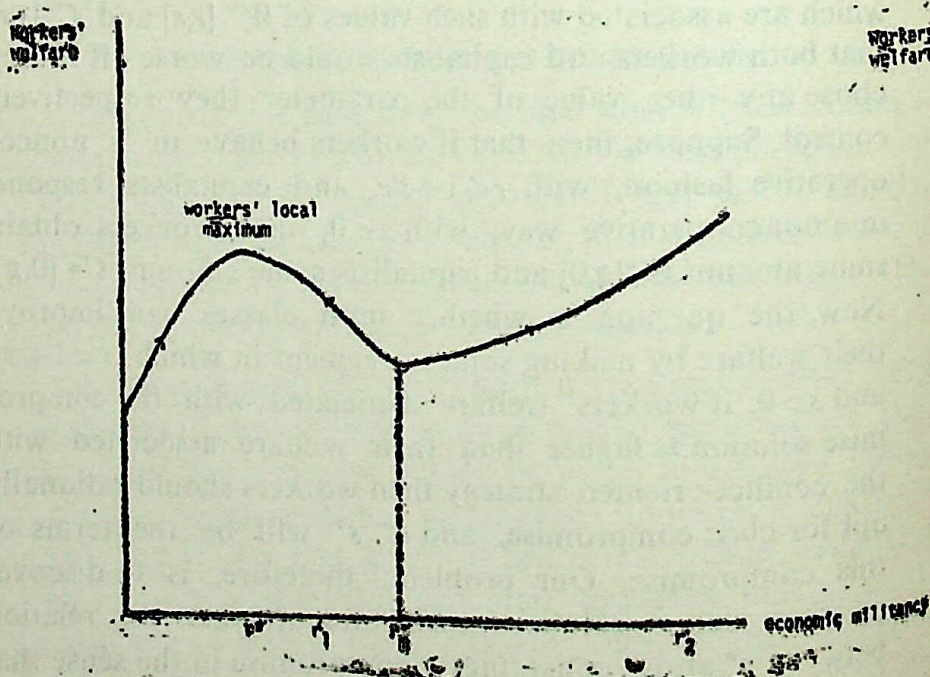
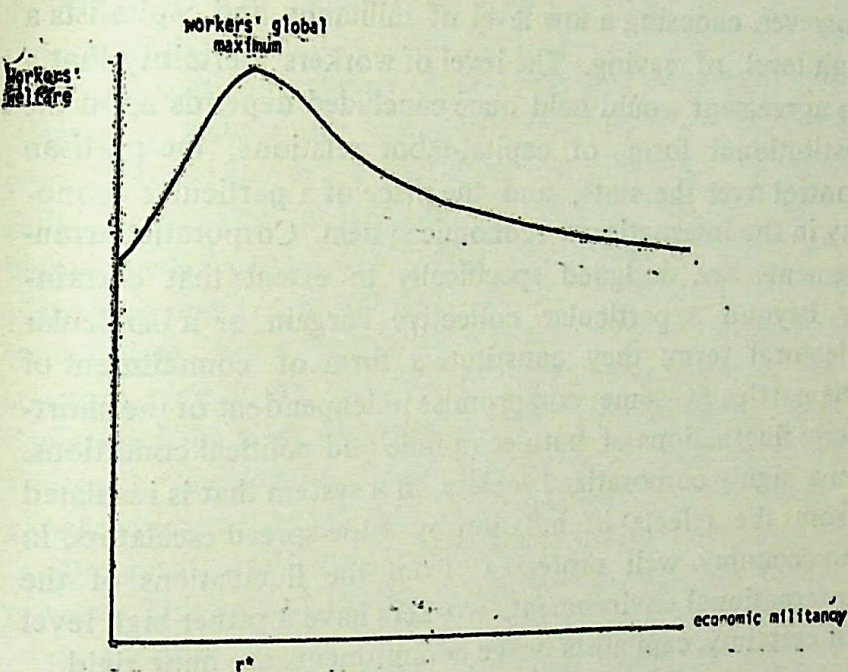




Figure 5



temporarily worsening their situation by moving toward  $r_m$ . Clearly if workers could suddenly jump from their current level of militancy,  $r_1$ , to some level  $r_2$ , which  $W^*[r_2]$  is larger than  $W^*[r_1]$ , they would do so. But increasing militancy requires mobilization and mobilization is a slow and a costly process that requires organizations as well as time and resources. Hence, the threat that workers would suddenly make any compromise conditional upon a high level of  $r$  is not very persuasive if workers are not militant at the moment.

If workers are already militant and they face high uncertainty, then they would travel along Luxemburg's road all the way to confiscating profits entirely. This is indeed the case in which organized workers would choose an anticapitalist strategy in pursuit of their material interests.. When any compromise would be quite tenuous, once workers pass some threshold of militancy, they are best off making a claim to the means of production.



When the institutional conditions for a relatively certain compromise are developed, workers are better off, however, choosing a low level of militancy and capitalists a high level of saving. The level of workers' certainty that an agreement would hold once concluded depends upon the institutional form of capital-labor relations, the partisan control over the state, and the place of a particular economy in the international economic system. Corporatist arrangements are designed specifically to extent that certainty beyond a particular collective bargain or a particular electoral term: they constitute a form of commitment of the parties to some compromise independent of the short-term fluctuations of both economic and political conditions. In a highly corporatized society, in a system that is insulated from the effects of inflation by wide-spread escalators, in an economy well protected from the fluctuations of the international environment, workers have a rather high level of certainty, capitalists' wage commitments are quite rigid.

If we think of workers' certainty in this fashion, it seems very likely that their risk has decreased during the course of the last one hundred years. The history of collective bargaining arrangements is quite different across countries but at least in some Western European societies the trend is unmistakable. In Sweden, collective agreements began to be concluded at the turn of the century and by 1905 a significant proportion of workers was covered by them. These agreements were not binding, however, until a decision by the Supreme Court in 1916. In 1920 labor courts were established, and by 1926 parties could be sued in these courts for unfair bargaining. In 1938 a system of collective bargaining was centralized country-wide, and this system continues with some modification to today. This evolution must have increased the binding power of agreements and hence workers' certainty.

This certainty is affected not only by collective-bargaining arrangements in the narrow sense but also by the



general organization of conflicts in a society. Extensions of suffrage, reapportionment, public financing of elections, on one hand, and regulation of wages, prices, and profits by the governments, on the other hand, all constitute reforms that reduce the uncertainty of distributional outcomes. Their effect is to reduce the power of capitalists to deviate from outcomes specified by a particular compromise, that is, to shift the a priori distribution of wages from one highly biased toward capital and highly indeterminate to one that sharply reduces the variance of this distribution around some norm. Since anecdotes are often more telling than statistics, here is an example of what is considered to be a deviation from class compromise: "In one important respect a majority of delegates outdid the Eppler Commission. They voted to increase the top rate of income tax - now 53 percent to 60 percent, while the Commission proposed the rate of 58 percent. This caused Professor Schiller [German Democratic Party minister of the economy at the time] to remark to his cabinet colleagues: 'Obviously these people are trying to set quite a different sort of Republic from the one we have.'"<sup>18</sup>

Under such conditions, when worker can be reasonably certain that a compromise would hold, the best strategy of capitalists is to voluntarily offer high rates of saving and the best response of workers is to accept this offer in exchange for a low rate of transformation of profits into wages, about 5 percent (see figure 5). Moreover, workers are much better off as they gain certainty and become less militant than they would have been by becoming more militant under the conditions of high risk. Institutionalization of capital-labor relations, coupled with a low degree of economic militancy is the best situation workers can obtain under capitalism.

This then is the essence of the social democratic compromise. Workers are better off moderating their wage



demands in exchange for a higher rate of saving and a higher rate of certainty rather than intensifying their demands and facing a fall of investments. Economic militancy results in lower investment and hence in a deterioration of workers welfare. Rational, self-interested workers therefore opt for a compromise that, in turn, demobilizes them even further, since, as Habermas observed, "class compromise weakens the organizational capacity of the latently continuing classes."<sup>19</sup>

#### CLASS COMPROMISE, THE TRANSITION TO SOCIALISM, AND THE THREAT OF DISINVESTMENT

The entire analysis presented thus far was based on the assumption that while capitalists respond to increased militancy by lowering their investments, the net rate of savings never becomes negative, that is capitalists always restore the used-up capital stock. In fact, this is not a strategy feasible for capitalists. If the expected rate of profit is zero or negative, capitalists would be better off letting capital stock become depleted, that is, disinvesting. Indeed, under extreme conditions capitalists may find it preferable to disinvest at the highest possible rate, exporting liquid assets and even trying to liquidate fixed assets.

The threat of disinvestment, in turn, has the effect of pushing workers towards a compromise unless they can transform the entire system of economic and political organization almost instantaneously. "If production does not continue," wrote Kautsky in 1925, "the entire society will perish, the proletariat included."<sup>20</sup> Let us see, therefore, what should be expected to happen as workers attempt to nationalize the means of production.

Suppose that workers follow a militant strategy, claiming the entire profits and at least a part of the capital stock. The crucial question now is one of political power specifically, the power to socialize the means of production, abolish profits as a form of withholding from current consu-



mption, and to organize a system in which all persons qua citizens could participate in deciding the volume and the direction of investment. At this moment the road sharply bifurcates. If economic militancy is not accompanied by a transformation of economic relations, then capitalists disinvest, an economic crisis emerges almost instantaneously, and workers must be sharply worse off. Moreover, economic militancy not backed by political power opens the threat of political reaction. Varga's warning of 1927 must be remembered: "If the working class creates conditions in which the profits of the capitalists becomes impossible but at the same time the bourgeoisie is not defeated politically and the doctrine of the proletariat has not been established, the bourgeoisie, by means of implacable terror, crushes the working class in order to maintain the economic basis of the capitalist system and make possible the exploitation of labor."<sup>21</sup> Hence a militant pursuit of economic interest is not sufficient to pass smoothly to socialism. Indeed, economic militancy must result in an economic crisis that will leave workers worse off for some time.

Suppose instead that socialist parties win an overwhelming mandate in an election to legislate a society into socialism and that they follow the recipe of Lange, nationalizing a large part of the means of production "in one stroke."<sup>22</sup> Both Kautsky and Lange emphasized that nationalization of the means of production must occur without unleashing an economic crisis, and they both thought that this could be accomplished by creating guarantees for those firms that would not be nationalized and by nationalizing the rest "resolutely" and "at maximum speed." Yet Lange himself observed that financial panic would occur even before the election, that is, before the socialist government could nationalize anything. As an Italian industrialist put it on the eve of the elections of 1976, "we should have stayed and fought but our money is already in Switzerland." Hence, some disinvestment cannot be avoided, even if a



part of the industry is already public. The question is only how much.

Transformation of the relations of production must be accompanied by an economic crisis. While Lenin thought that "any cook can be taught how to administer a socialist society," in the aftermath of the council movement capitalist production became reorganized in such a manner that immediate producers as a class-and not only as individuals, a la Braverman-lost the capacity to run the system of production on their own. The working class as Marx saw it was characterized not only by its exploitation but at the same time by its capacity to organize, at the social scale, the socialist system of production.<sup>23</sup> But if this was ever true, it is certainly not possible now for the immediate producers to instantaneously assume control over the process of societal production. Nationalization of industries, distribution of land, centralization of credit, and other economic transformations require an organizational and administrative capacity that cannot be acquired overnight. There are no blueprints and experience is limited. Learning by trial and error is inevitable. This is true even when the transformation consists merely of "capitalist socialization," a replacement of individual capitalists by the state.<sup>24</sup> The transformation of social relations beyond those of property, a "socialist socialization," is a task for at least a generation. And the dilemma involved in this period is precisely one between continuing the transformation of social relations and continuing the improvement of the conditions of material life, between "high rate of capitalist growth or low rate of socialist growth," to use the formulation of Chang Chun Chiao.<sup>25</sup>

Unless, therefore, a dictatorship is established over the proletariat, unless one shares Lenin's unfortunate dictum that "industry is necessary, democracy is not,"<sup>26</sup> workers will discover that socialist transformation is a costly project



for them. Under democratic conditions-and today one cannot envisage any other ones-the support for socialist transformation is likely to be eroded if this support is sought in terms of economic demands and economic promises. One cannot continue to maintain that "the socioeconomic revolution [ will ] take place simultaneously with an uninterrupted economic expansion," as did Allende in describing the political model of his government.<sup>27</sup> The transition to socialism will not begin with "une augmentation substantielle des salaires et traitement"-the promise of point I. 1. 1 of the French Common Program of the Left of 1972. The rationale for socialism cannot be sought in an immediate improvement of economic conditions. The material interests of workers under capitalism do not lead them to opt for socialism because the process of transition must involve a deterioration of the material conditions of workers.

The threat of disinvestment, and of the resulting economic crisis, is not limited, however, to those rare moments when socialist parties stand at the threshold of power. This threat is permanent: it is a structural feature of the capitalist organization of society. Since profits are private, the decisions of individual firms concerning the volume and the direction of investment condition the actions of all groups and institutions of society, including the state. The state that intervenes in the economy depends upon capitalists for its fiscal resources, for information, for the capacity to elaborate policies, for the capacity to maintain incomes and provide social services, and so on. Moreover, electoral support for any particular government depends upon actions of capitalists. People do not vote exclusively for the public good when they vote for a party: they vote against the incumbent government when their personal income falls or unemployment increases.<sup>28</sup> Hence any party is dependent upon private capital even for its electoral survival in office. Any government in a capitalist society is dependent upon



capital. The nature of the political forces that come to office as a result of elections does not affect this dependence, for it is structural, a characteristic of the system and not of the system and not of the occupants of governmental positions, the winners of elections. Being "in power" gives little power; parties representing workers are subject to the same structural dependence as any other party.

The social democratic compromise with private capital is thus an expression of the very structure of capitalist society. As the foremost Swedish architect of the social democratic project put it, "because Social Democracy works for a more equal and more just distribution of property and incomes, it must never forget that one must produce before one has something to distribute,"<sup>20</sup> and as long as the process of accumulation is private this means that profitability must be protected. The policies pursued by the state in capitalist countries—the policies designed to strengthen and to invigorate the capitalist system of production—are not an expression of some mysterious "functions" of an autonomous state facing the threat of a revolutionary working class. They are a reflection of compromise: they express the interests of a class coalition that includes important segments of the working class. These policies tend to reproduce capitalist relations because crises of capitalism are not in the interest of workers, who bear their costs, and because the socialist alternative is a costly one even when capitalists behave simply as profit-motivated, rational individuals. A vigorously developing capitalism in which workers can reasonably expect to benefit from past exploitation is the second best for workers as well as for capitalists. The struggle for the improvement of material conditions under capitalism is precisely that. It is not a struggle for socialism.

#### MATERIAL, NEEDS, RADICAL NEEDS, AND THE TRANSITION TO SOCIALISM

A transition to socialism is unlikely when socialism is treated merely as a superior instrument for satisfying



material needs. This assertion can also be formulated differently: transition to a socialism that would be merely a superior instrument for satisfying material needs is not possible under democratic conditions. Under what conditions and to what kind of socialism is transition possible?

I am persuaded that the only honest answer we can give at this moment is that we do not know. Afraid to dream up utopias, pressured by the poverty, repression, and injustice of everyday life, we tend to stake our fortunes on the worsening of each crisis, as if the crises of capitalism would of themselves lead to socialism. Every time capitalism enters a crisis—and it does so often—we claim that it has arrived at the limit of its potential. Every time we are surprised when it rises reformed and healthy from the debris of human suffering and all we can do is claim that once again the workers' "true" interests were betrayed by the leaders who sought to protect them from this suffering. Every time a new conflict appears we discover a new mortal contradiction—economic, racial, sexist, ecological, or what not. And we continue to live under capitalism.

All I can do is to sketch, without originality, mainly as a reminder, one way of looking for an answer. With Heller, I will seek what the terms the "radical needs" in the belief that any answer must satisfy the following requirements.<sup>30</sup> One, it must identify a human need that is shared across class divisions of the capitalist society, that is being generated by capitalism and can be satisfied by the cannot conditions developed under capitalism, and yet a need that cannot be satisfied under capitalism. Two, the satisfaction of this need must be both a necessary and a sufficient condition for socialism.

Material needs will not do, for they can indeed be satisfied under capitalism. Moreover, their satisfaction is not sufficient for socialism; neither the Soviet dream project of "council power plus electricity," nor the Social Demo-



cratic elusive goal of full employment plus equality, brings us closer to the constitution of a socialist society.

Instead of going on a systematic search for the likely candidates, I will posit immediately that the conditions stated above are satisfied by the need for free time. By free time I mean the time during which anyone is free from labor without any relation whatsoever between this freedom and the capacity to satisfy material needs. Free time is simultaneously the freedom from toil and the freedom from scarcity; it means freedom. Since the issue is important, it will not hurt to be pedantic. I will show below that while the capacity for satisfying this need is generated under capitalism, this need cannot be satisfied unless capitalism is abolished, and that the freedom from toil and scarcity is a necessary and a sufficient condition for socialism. Only then will I examine whether this need is generated under capitalism.

A society in which people are free from labor cannot be a capitalist society. In order to demonstrate the validity of this assertion, it is sufficient to show either that a society free from labor cannot be based on private profit or that, even if such a structure were possible, a capitalist society could never arrive at it. I will use only the second argument.

With Marx imagine first a society where labor in which a human being does what a machine could do has ceased. All processes of production, maintenance, and distribution are performed by machines unassisted by directed labor. Oil is searched for by sensitive robots, which upon finding it instruct other machine to install self-operating wells and lay pipes to various other machines, some of which transform oil into thread, mix it with automatically grown and picked cotton, and produce neatly packed shirts. Once distributed, these shirts are washed by machines, dried, folded, reposted in their proper place. Machines are produced by machines



according to instructions of metamachines, which are programmed to produce a basket of goods while minimizing physical resources. Labor time necessary to produce these goods (including machines and meta-machines) is zero. Some human activities ("indirect labor") eventually enter this production process, but they need not occupy us at the moment.

Second, suppose that this process operates in such a way that the output (measured as a vector of physical quantities) always be strictly larger than it was previously.

Third, all individuals, regardless of particular characteristics, obtain what they need.

Now, the question is whether these three features—automation, accumulation, and independence of need satisfaction from labor—can be jointly generated by a society based on private profit.

Capitalists choose techniques of production that maximize output and minimize cost, whether the cost is machines or living labor. It is a characteristic of capitalism that machines and labor power have a common measure and, albeit not without rigidities, are mutually substitutable. Since under normal circumstances, particularly under wage pressure, it is rational for capitalists to increase productivity per unit of labor rather than increase employment, the general trend is to "deepen" capital and to reduce dependence upon living labor. As a result, the proportion of the total available labor power that is used as labor falls over time. This does not necessarily imply a secular growth of unemployment as defined for compensation purposes, since labor power freed from the wage relation assumes various forms. Yet under capitalism the opportunity to satisfy material needs ("income") is closely related to employment. The unemployed, partially employed, the aged, and students are typically much worse off materially than those fully employed. Hence under capitalism liberation of labor power



becomes unemployment, and as such it constitutes one of the major social problems. In fact, the struggle for "full employment" is one of the central goals of working-class organizations, to the point that socialism becomes defined as a system that would guarantee everyone a chance to become what used to be called a "wage slave." It appears as if the socialist goal of capitalist accumulation would be to find such techniques of production that maximize output by maximizing labor.

Capitalism is seen as an obstacle to this goal, which it is, since as productivity drives wages high, capitalists search for production techniques that use relatively less labor. Government policies designed to bring about full employment are unfeasible for this reason: unemployment is necessary to regulate wages and protect profits.

But if capitalists continue to gradually substitute capital for labor, would it not be not true that increasingly more labor time would be liberated and the need for free time would be satisfied under capitalism? Free time is increasingly abundant under capitalism—this much seems to be true. But this is the freedom to sleep under bridges: this freedom is not accompanied by a guaranteed satisfaction of material needs. If time were to be freed under capitalism, it would have to be freed in such a manner that material well-being would be independent of labor. If the capitalist "double freedom" is to become one, then the freedom not to labor must be simultaneously the freedom to live as well as if one did. Let us thus see what would happen under capitalism if the relation between employment and income disappeared.

Suppose, not at all unreasonably, that workers succeed in making the state intervene in the economy in such a manner that each unit of labor power that is liberated obtains a transfer equal to the wage rates paid for those units that continue to be expended as labor. Note that this case also presupposes some conditions about techniques of prod-



uction: specifically, it assumes that those techniques are chosen that generate a larger output with less labor. These are the kinds of production techniques that would be necessary to liberate labor power from wage relations without universalizing the status of capitalist unemployment to a socialist virtue. We have seen that capitalists choose these techniques when wages are high and the incomes of people not participating in production are low. But if capitalists were forced to pay for all the labor power not employed as labor they would rush to provide full employment, since labor would then be a constant cost, and maximization of profit would require minimizing the use of machines. If Volkswagen continues to pay compensation for unused labor power, it will eventually return to techniques under which this labour would be marginally productive. The effect of a "minimal income allowance" or a "negative income tax" would be the same unless the amounts are so pitiful that they do not cover the costs of training the labor power.

Hence we arrive at the following dilemma, if wage-earners push for full employment, production becomes more capital intensive; if wage-earners, push toward liberation of labor power, production becomes more labor intensive. This response is impersonal: it is a response dictated by the logic of the system, not by the intentions of workers, capitalists, or the state.

This dilemma implies that capitalism generates the capacity for liberation of labor power while it cannot provide it. This capacity clearly depends upon the feasibility of finding techniques of production that would satisfy the conditions of a "socialist socialization" of the means of production, that is, techniques that would increase output while requiring less labor. Such a possibility may be limited. Yet it is clear that techniques of production are not "given." They become available as the "existing" techniques among which capitalists choose because a society, a capitalist soci-



ety, seeks the particular techniques necessary for liberating labor power: we all know how many people would have been working in the banks today had computers not been invented and introduced. I.B.M. is right: "Machines should work, people should think." Yet under capitalism the liberating potential cannot be realized, since the introduction of such techniques is resisted by workers struggling against unemployment and since capitalists have the option of seeking labor intensive techniques when they are forced to pay for liberated labor power.

Socialist accumulation can be accomplished only when it becomes a goal of a society of associated producers. Such a process of accumulation must be based on two principles. First, the forces of production must be organized so as to generate a capacity for an almost instantaneous satisfaction of material needs of everyone while reducing direct labor to a historically possible minimum. Second, besides a minimum of mutual claims no other institutions should exist, Scarcity, labor, and socially organized repression must be abolished. Free time is necessary and sufficient for socialism because it constitutes basic freedom-from want, labor, and socially induced constraint.

Without going into details, let us see what free time implies. First, note that several problems of capitalism become simply irrelevant. "Unemployment" is no longer the fate of free labor power. Conditions of work lose their importance as work under such conditions disappears. Equality ceases to be a meaningful term: it is an issue only in an unfree society. Freedom from scarcity and labor means that needs become qualitatively heterogeneous, and their satisfaction no longer reducible to a single dimension. Under socialism those people are rich who have rich needs.<sup>31</sup> Even democracy is no longer problematic: democratic participation in the making of binding decisions loses its urgency when few decisions made by anyone are binding upon



others. A democratic family is a family where all members are equal; a socialist family is one in which they are free. The problem is no longer one of extending democracy from the political to the social realm—the quintessence of social democracy under capitalism—but of reducing mutual constraint. Hence, of the needs and problems of capitalism little if anything remains. “Free time—which is both idle time and time for higher activity—has *naturally* transformed its possessor into a different subject.”<sup>83</sup>

Time free from labor is free. While certain ways of dividing activities may emerge as a result of freely formulated choices, this division is no longer an institution. Choices are not only freely made: they are freely formulated. When direct labor is not necessary, places-to-be-occupied in the division of labor no longer exist. We are no longer born, as Sartre put it, in the image of our dead grandfather.<sup>84</sup> The choice is no longer “what will I become,” where the “what” is prior and given as “a pilot,” “a nurse,” or “a garbage collector.” The “what” itself becomes the object of individual making; it is continually reinvented by each individual for him-or herself.

These choices may result in specialization of activities, as some people push the frontiers of molecular biology while others push those of tennis. Some people may like to teach others while other people may be captivated by watching trees grow. This freedom obviously poses the question upon which Carr reflected in the seclusion of his Oxford study: would labor (indirect, that is, scientific and direct to the extent to which it is still necessary) happen to be performed as a result of free choice?<sup>84</sup> I do not know; we are too far away to speculate.

Free time, from labor and scarcity, also implies that the society, to coin a horror, become “defunctionalized.” A particular manner of organizing one activity would no longer be necessary for reproducing other activities. Socialist



society, to follow Sartre again, would be organized without being institutionalized. "The family" is no longer an institution: people organize cohabitation as and if they cohabit. Since functions of the family are no longer given when labor is no longer necessary, sex nurture, and maintenance need not be associated according to any prior pattern.<sup>35</sup> Sexual repression loses its social basis.<sup>36</sup>

Needs no longer assume the form of "interests," that is, the limits of their satisfaction are no longer objectifications of human activity. Their dynamic is driven and restricted only by their internal structure. Objectification occurs if and only if it responds to a need for objectification: I paint or split genes because I like to see painting or the truth of hypotheses. No "end of history" occurs here, as is sometimes supposed in the argument that Marx was inconsistent when he posited simultaneously that needs are dynamic and that scarcity can be abolished. We must think dialectically: scarcity is abolished because the capacity to satisfy material needs asymptotically converges to their dynamic path.<sup>37</sup> Whether material needs would continue to grow under socialism I again do not know. As long as the satisfaction of needs is externally constrained, we cannot tell what human needs are.

Speaking of the Paris Commune, Marx emphasized that the working class has no ready-made ideals to realize, it has only to set itself free.<sup>38</sup> This statement should not be taken as an injunction against utopian fantasies and even less as one against utopian analyses. All it asserts is that we cannot tell today what a socialist society would be like precisely because we do not know that what human beings would want and what they would do if they were free. Socialism is not yet another social order, it is the end of all social orders: this statement should be taken seriously. "Socialism" singular is a contradiction in terms, for socialism means freedom and thus variety. It means freedom,



not democracy, equality, creativity, or happiness. Socialism is not a new form of coercion to make everyone "creative."<sup>39</sup> A free individual may be uncreative; "realization of human potential" may show that it would have been better if this potential remained dormant. Freedom may turn into universal misery; it may bring forth the truly human sources of repression, if indeed the finite nature of life underlies the aggressive and repressive forces.<sup>40</sup> We do not know. Socialism is not a millennium, not a guarantee of happiness. It is a society free of alienation—if this term can still be restored to its meaning rather than be used as a generalized lament—a society in which objective conditions have been abolished, in which people are at every moment free, in which nothing is prior and given, in which life is not an instrument of survival and things not instruments of power, in which all values are autonomous, in which the relation between a person and oneself is not mediated by things. Abolition of capitalism is a necessity not because such are the laws of history or because socialism is superior to it in any way, neither for reasons of Newton or Kant, but only because capitalism prevents us from becoming whatever we might become when we are free.

Having arrived at an unknown destination we must, unfortunately, return to the very first step. We have seen that capitalism develops the conditions for liberation but it cannot free. We have seen that freedom is necessary and sufficient for socialism. But does capitalism generate the need for freedom, a need that could underlie a political transition towards socialism?

This is not a question to be resolved theoretically. The only way to know is by practice, political practice in the broadest, Greek, sense of the word "political." Unity of theory and practice does not have a unique repository in political parties. The need for freedom is integral. Socialist democracy is not something to be found in parliaments,



factories or families: is not simply a democratization of capitalist institutions. Freedom means de-institutionalization: it means individual autonomy. Socialism may perhaps become possible, but only on the condition that movement for socialism regains the integral scope that characterized several of its currents outside the dogmas of the Internationals, only on the condition that this movement ceases to make the socialist project conditional upon the continual improvement of material conditions of the working class. It may become possible when socialism once again becomes a social movement and not solely an economic one, when it learns from the women's movements, when it reassimilates cultural issues.

This time is not near. There is every reason to expect that capitalism will continue to offer an opportunity to improve material conditions and that it will be defended by force where and when it does not, while conditions for socialism continue to rot. This is why dreams of a utopia cannot be a substitute for the struggle to make capitalism more efficient and more humane. Poverty and oppression are here, and they will not be alleviated by the possibility of a better future. The struggle for improving capitalism is as essential as ever before. But we should not confuse this struggle with the quest for socialism.

#### REFERENCES

1. Rosa Luxemburg, *Reform or Revolution* ( New York: Pathfinder Press, 1970 ). P. 30,
2. Kenneth Boulding, *A Primer on Social Dynamics: History as Dialectics and Development* ( New York: Free Press, 1970 ), chap. 5.
3. Erik Fromm, *Marx's Concept of Man* ( New York: Frederick Ungar, 1961 ).
4. Agnes Heller, *The Theory of Need in Marx* ( London: Allison and Busby, 1974 ).
5. John Mitchell, President of the United Mine Workers, cited by Werner Zombart in *Why Is There No Socialism in the United States?* (White Plains: M. E. Sharpe, 1976 ) p. 19.



6. Karl Marx, *Wage Labor and Capital* ( Moscow: Progress Publishers, 1952 ), P, 37.
7. See Adam Przeworski, "Social Democracy as a Historical Phenomenon," *New Left Review*, vol. 122 ( July-August 1980 ), for evidence that it is not true that workers in any way became deradicalized as their material conditions improved.
8. This is true whether this path is upwardly or downwardly sloped. Even if workers' conditions are deteriorating under capitalism, the transition path may still deepen the crisis.
9. See Adam Przeworski, "Material Bases of Consent Politics and Economics in a Hegemonic System," *Political Power and Social Theory* 1 ( 1980 ); 23-68, for a more extended discussion.
- 10 *Le Monde*. July 6, 1976, p. 5.
11. *New York Times*, May 6, 1976, p. 17.
12. Victor Griffuelhes, "L'Inferiorite des capitalistes francais," *Movement Socialiste* 226 ( 1910 ): 331
13. Gerardo Chiaromonte, Report to the Central Committee of the Italian Communist Party, October 29-30, 1975, p. 31.
14. For an historical description of this compromise see Przeworski, "Social Democracy as a Historical Phenomenon."
15. Chiaromonte, Report to the Central Committee of the P.C. I., p. 34.
16. Cited in John K. Jacobien, "Chasing Progress" ( Ph. D. diss, University of Chicago, 1980 ), p. 268.
17. See Adam Przeworski and Michael Wallerstein, "The Structure of Class Conflict in Advanced Capitalist Societies" ( Paper presented at the Annual Meetings of the American Political Science Association, Washington, D.C., 1980 ).
18. *Manchester Guardian*, November 27, 1971, p. 1.
19. Jurgen Habermas, *Legitimation Crisis* ( Boston: Beacon Press. 1975 ), p. 69.
20. Karl Kautsky. *La Revolution Proletarienne et Son Programme* ( Bruxelles: L'Eglantine. 1925 ). p. 273.
21. Theo Pirker, ed , *Komintern und Faschismus* ( Stuttgart: Deutsche Verlags-Anstalt, 1976 ).
22. Oskar Lange, *On the Economic Theory of Socialism*, ed. B. E. Lipincott ( Minneapolis: University of Minnesota, 1938 ), p. 125.
23. Ernest Mandel, *The Formation of Economic Thought of Karl Marx* (New York: Monthly Review Press, 1971 ), p. 23.



24. For concepts of "capitalist" and "socialist" socialization see Karl Korsch. "What is Socialization?" *New German Critique* 6 (1975): 60-82.
25. Cited in Tang Tsou, "Mao Tse-Tung: The Last Struggle for Succession and the Post-Mao Era" (Paper prepared for the Conference on "What is Communism," University of Chicago, April 7-9, 1977.)
26. V. I. Lenin, *Soshinnyaya*, 32 (Moscow. 1965 ): 37.
27. Cited in Stefan De Vylder, *Allende's Chile: The Political Economy of the Rise and Fall of the Unidad Popular* (Cambridge: The University Press. 1976 ), p. 53
28. Gerald Kramer, "Short Term Fluctuations In U.S. Voting Behavior, 18'6-19 4," *American Political Science Review* 65 (1971 ): 131-43; George Stiegler, "General Economic Conditions and National Elections," *American Economic Review* 33 (1973): 160-67.
29. Ernst Wigforss cited by Timothy Tilton, "A Swedish Road to Socialism: Ernst Wigforss and the Ideological Foundations of Swedish Social Democracy," *American Political Science Review* 73 (1979): 516.
30. Heller, *The Theory of Need in Marx*
31. Ibid.
32. Karl Marx, *Grundrisse* (New York: Vintage Books, 1973), p.712.
33. Jean-Paul Sartre. foreword to Andre Gorz, *The Traitor* (London: Calder, 1969), p 15.
34. Edward H. Carr, *The New Society* (Oxford: Oxford University Press, 1958 ,chap. 3.
35. See Juliet Mitchell, 'Women: The Longest Revolution'" *New Left Review*, vol. 40 (1966).
36. Herbert Marcuse, *Eros and Civilization* (New York: Vintage Books, 1962).
37. Differential calculus is only an application of the dialectical method to mathematics at least this is what Engels said somewhere in *The Anti-Dühring*
38. Karl Marx, *The Civil War in France*. The relevant passage is reprinted among many places in David McLellan, ed., *Karl Marx: Selected Writings* (Oxford: Oxford University Press, 1977 ). p. 545.
39. See Marcuse's splendid polemic against Fromm in the epilogue to *Eros and Civilization*, pp. 216-51.
40. Norman O. Brown, *Life Against Death: The Psychoanalytical Meaning of History* (New York: Vintage Books, 1959 ).





# VOLUNTARISM AND REVOLUTION IN NEO-MARXIAN THOUGHT

RAJENDRA PRASAD DUBE

Determinism, the view that social and historical processes are predetermined and follow certain laws which can be and have been discovered, and voluntarism, the view that history is dependent on the will and action of the people who influence its course, are not mutually exclusive views. Even in a determinist theory like Marxism voluntarism may be found present as a middle term in the dialectic of revolution. A shift in emphasis, though has always raised hot debates in the revolutionary circles, and rightly so. Because an extreme form of determinism may bring paralysis in the arms of revolution, i. e., party and its members while an extreme form of voluntarism, under compulsive impulse to action may become blind to objective factors.

Marxism has been the leading determinist revolutionary theory for over a century now. It claims to have discovered the dialectical laws of social and historical process, no less scientific than those of the physical sciences. This determinist aspect of Marxism has been variously criticised from outside as well as from inside of the Marxist movement.

Liberal philosophers like Karl Popper, disprove the law of causality, rule out the possibility of prediction, deny any universal validity to the laws in human sciences and reject all these basic assumptions of any determinist theory. Popper finds determinist theories illogical, self-contradictory and empirically wrong. Sir Isaiah Berlin, on the other hand, finds moral grounds for rejection of determinism, "To accept this doctrine is to do violence to the basic notions of our morality, to misrepresent our sense of the past, and to ignore the most general concepts and categories of the normal thought."



Inside the marxist movement itself there have been heretical trends which have undermined the determinist aspect of the theory. In this paper we shall consider only one marxist concept, that of revolutionary class and see how the voluntarist elements have been inherent in the original 'scientific' theory itself and how the new historical developments necessitated novel formulations in which voluntarist aspect became more explicit. Under the pressure of new circumstances determinism had to pave way for a new voluntarism. Even though determinism may survive in the 'official' version of the doctrine, it has had a virtual eclipse in almost all non-orthodox writings on the subject, and it had no influence on the practices of the official orthodoxy, itself, as well. And not for worse. To the extent determinism is sabotaged, not in all spheres of knowledge, but specifically in revolutionary theory, an increase in moral commitment of the individual and in his sense of responsibility for social situation may be achieved.

## I

Marxism supposedly discovered 'unalterable' laws of social and historical processes, to explain the progression of society from one stage to a still higher stage and to identify the class which was agency of this revolutionary transformation of society. Revolution was the resultant of a material situation, crisis in economy and state power and subjective readiness, i. e. consciousness of the revolutionary class. Proletariat, in the epoch of bourgeoisie, in the manner of the universal spirit of Hegel, was unfold of the next act of history. They could not have escaped the role assigned to them by history. Their fortune was predetermined by history. There was some inevitability about it.

"Our epoch, the epoch of the bourgeoisie, possesses, however, this distinctive feature; it has simplified the class antagonisms. Society as a whole is more and more splitting up in two great hostile camps, into two great classes directly facing each other : bourgeoisie and proletariat...



"But not only has the bourgeoisie forged the weapons that bring death to itself, it has also called into existence the men who are to wield those weapons the modern working class—the proletariat ..

"Of all the classes that stand face to face with the bourgeoisie today, the proletariat alone is a really revolutionary class. The other classes decay and finally disappear in the face of modern industry; the proletariat is its special and essential product...

"All previous, historical movements were movements of minorities; or in the interest of minorities. The proletarian movement is the self-conscious, independent movement of the immense majority, in the interests of the immense majority. The proletariat, the lowest stratum of our present society, cannot stir, cannot raise itself, without the whole overlying strata of official society being sprung into the air .

"...What the bourgeoisie, therefore, produces, above all is its own grave diggers. Its fall and the victory of proletariat are equally inevitable."<sup>8</sup>

The historical roles are predetermined. In the epoch of the bourgeoisie proletariat is the real revolutionary class; it is self-conscious of its role and it prepares itself, organising itself into a movement, a party, so that it can fulfil its historical destiny.

Problems of proletarian movement, formation of a party of the proletariat and generation of selfconsciousness of the class immediately raise issues where 'voluntarism' becomes the middle term in the dialectic. The crucial terms which determine the fate ( from inside ) of historical determinism as a theory are 'class-consciousness' and 'party.' As our discussion is placed inside of Marxist theory, we will first seek the clarification of these concepts in the writings of founders of Marxism themselves.



## III

Whatever opinion founders had on the problematic of class-consciousness party were always specific to a particular situation on which they were commenting. If these opinions are brought together and compared, many contrary statements are found. At one point the necessity of a party of proletariat is stressed, at another, class as such, is sufficient unto itself. Once they write—"Against the collective power of the propertied classes the working class cannot act as a class except by constituting itself into a political party distinct from, and opposed to, all old parties formed from the propertied classes." But Engels wrote later in 1885—"Today the German proletariat no longer needs any official organisation either public or secret. The simple self-evident interconnection of likeminded class comrades suffices, without any rules, boards, resolutions or other tangible forms."

In Marx's own descriptions of class struggles in France and Germany classes are described, no importance is given to party. Shortcomings of these struggles are analysed rarely as a lack of party organisation. In the Communist Manifesto itself it was stated: "The Communists (being internationalists) do not form separate parties opposed to other working class parties. They have no interests separate and apart from the proletariat as a whole." The Communists were merely "the most advanced and resolute section of the working class parties of every country, that section which pushes forward all others."

Monty Johnston in a study of Marx's and Engel's writings on the subject has found five models of the party corresponding to 'a stage or stages in the development of the working class movement in a given period or in given countries.' These were ( i ) Small international cadres organisation ( the League of Communists, 1947-52); ( ii ) the party without an organisation ( 1850's and early 60's ); ( iii ) International Federation of Worker's Organisations ( First International



1964-72; (iv) the Marxist national mass party (German Social Democracy, 1870's, 80's and early 90's); (v) the broad national labour party (Britain and USA-1880's and 90's) based on Chartist model. In the first three models, as we have already seen in the Communist Manifesto, the supremacy has been accorded to communists only because of their superior theoretical consciousness. In the fourth and fifth models, the mass of workers get developed from an amorphous, fragmented, 'virtual' class, into a fulfilled national 'actual' class with the antecedent self-consciousness of the class in progress (The words 'virtual' and 'actual' in the context of class have been used by Henri Lefebvre). Various stages of the development of the model also make it clear that the founders of Marxism always wanted a broadening of the mass base in consonance with the evolving consciousness in the working class. They also expressed, at various times, their abhorrence for elitistic, conspiratorial or secret organisations, supposed by voluntarist trends.

#### IV

The other problem we are concerned with is related to the concept of 'consciousness'. If the revolution is inevitable then at which specific moment this inevitability arises and how does the revolutionary class gain self-consciousness to actualize the inevitable. In a famous passage in the preface to *A Contribution to the Critique of Political Economy* Marx said;

"In the social production of their existence, men inevitably enter into definite relations, which are independent of their will, namely relations and production appropriate to a given stage in the development of material forces of production. The totality of these relations of production constitutes the economic structure of society, the real foundation, on which arises a legal and political superstructure and to which correspond definite forms of social consciousness. The mode of production of material life



conditions the general process of social, political and intellectual life. *It is not the consciousness of men that determines their existence, but their social existence that determines their consciousness.* At a certain stage of development, the material productive forces of society come into conflict with existing relations of production or—this merely expresses the same thing in legal terms—with the property relations within the framework of which they have operated hitherto. From forms of development of productive forces these relations turn into their fetters. Then begins an era of social revolution *No social order is ever destroyed before all the productive forces for which it is sufficient have been developed, and new superior relations of production never replace older ones before the material conditions for their existence have matured within the framework of the old society*" (our underlining)

Marx here gives two crucial clues to his theory. First, the objective situation, i. e., material condition must have matured, meaning capitalism must have exhausted its capacities for further development, and, second, it is the social existence that determines the consciousness.

Here Marx rejects voluntarism. But there may appear situations where, long before the 'material conditions' mature, a crisis develops, a crisis of political institutions as well as of economy, and consciousness too may transcend the limits imposed by the social existence of a particular class. When the revolutionary class forms itself into a party, it has to deal with such situations, and thus voluntarism finds a way inside the theory.

#### Lenin and Hegemony of the Vanguard

##### I

Such problems arose in Russia where following the Marxist prescriptions Lenin's Guru, Plekhanov, countered the voluntarist Narodniki arguments saying that "any



attempt to establish socialism in Russia without modern industry and a concentrated enlightened and organised proletariat would result in the discrediting of the very idea of socialism, and in the creation of a new class, something like the Inca rulers of ancient Peru". Lenin; who had accepted Plekhanov's ideas about the nature of impending revolution in Russia as bourgeois one in which proletariat will collaborate to win only democratic rights and not the State power itself, later on, came to reject it when the need of an early capture of State power dawned on him in 1902.

Lenin, in fact, found that "working men were not revolutionary-minded, and that their class consciousness had to be brought to them from without a new organisation of professional revolutionaries, led by educated but estranged representatives of the propertied classes—the intellectuals—who had mastered the theory of socialism".

After split in the Russian Social Democratic party Lenin set down his ideas about the role of theory and vanguard, correct strategy in a revolutionary struggle, relationship between spontaneity and consciousness. between party centres and party apparatus. About the working class he wrote :

"We have said that the workers *could not yet possess* social democratic consciousness. This consciousness could only be brought to them from the outside. The history of all countries shows that the working class, solely by its own forces, is able to work out merely trade union consciousness".

And again :

"Class political consciousness can be brought to the worker only from without, that is, from outside the economic struggle, outside the sphere of relations between the workers and the employees."



Therefore, the need for the vanguard, the party with its centralised, bureaucratic structure :

“The movement must be led by the smallest possible number of the most homogenous groups of trained and experienced revolutionaries...Now we have become an organised party and that means the creation of power *the transformation of the authority of ideas into the authority of power, the subordination of local party organs to the higher ones*”.

Now, in dialectical materialist theory, the ideas are parts of superstructure intimately related to the economic base. Bourgeoisie, given its class interest and ideology, can only give expression to a bourgeois consciousness. Whether its estranged sections could lead the proletariat against their own ideology in any real sense and could generate revolutionary ideas is a valid question with which Marxism must come to terms. Suffice it to say here that with Lenin's success, the supremacy of the party over the class itself was established. This new element in theory should have necessitated a disavowal of determinism. It was not done in theory for the sake of maintaining a facade of unity but a step was taken in action forward to voluntarism. This voluntarism exceeded itself when, under Stalin, it took the form of what Trotsky called substitution of the party for the class and ultimately, substitution of the General Secretary for the party though even then, the determinist garb was not discarded.

## II

George Lukacs, the Hungarian philosopher, too worked out a theory about the problematic of vanguard and class consciousness after the abortive Hungarian revolution of 1919. In his much criticised, yet influential book, *History and class consciousness*, he gave clearer than Lenin's formulations, giving the vanguard the role of an independent historical entity which alone embodies the true consciousness



of the revolution. As Lichtheim has commented—"An elite which embodies a consciousness denied to the class is a concept which Marx would not have accepted." But Lukacs went further than Lenin. Abandoning the materialist theory of cognition as mirror-image of external world, he gave the consciousness and the party, its embodiment, a decisive role, "so far from the party viewing its relationship to the class as a mere 'moment' with a dialectical totality, it was supposed to incarnate the true self-consciousness of the epoch. By the same token its leaders had to appear infallible...".

### III

Russian revolution put a seal of authority to the Soviet version of Marxism, and voluntarist aspect of Lenin's parxis was explained in terms of strategy and tactics. In fact, wide divergence appeared between theory and practice and Lukacs' like attempts at theorization of practical experiences were frowned at. Orthodox Marxist ways of dealing with new developments in economy and society, in Bourgeois, Socialist as well as Underdeveloped countries left many things to be desired. As if every new situation could be understood by turning over the pages of Marx-Engels and Lenin.

It was left to Marxists in Western and some underdeveloped countries to break the *bonds of orthodoxy* and reflect over the problems unforeseen by the founders of Marxism, who wrote almost a century ago. In the process, new concepts were added to the main corpus. Traditional notions of revolutionary class, vanguard, internationalism were challenged and the task of redefinition started. Most of these new conceptual innovations show a passage away from original determinism to a new voluntarism. In fact, Lenin's revolutionary practice has won more adherents than Marxist theory even when the original impulse is provided by Marxist ideals.

#### Marcuse and Industrial Society

The end of Second World War coincided with a great change in the mood of the world. The idea of a social



progress, gaining currency in the wake of industrial revolution and enlightenment, was the bedrock of Marxist notion of stage of society. It began to lose credence in the aftermath of the first World War and now it survives only as a popular sectarian belief. Scarcity of earth's resources, industrial pollution, ecological imbalances are now world issues creating a doomsday mood which gets enforced by the daily advancement in the technology of destruction, from atomic, chemical and biological warfare to Inter-continental Ballistic Missiles and multiple nuclear bombardment systems in space. Hope of the proletarian revolution itself has dimmed in the advanced bourgeois countries, while, paradoxically, it is the one hope offered to the underdeveloped non-industrialised nations. Colonies which contributed enormously to the rapid industrialisation of Western world have become free but still are victims of international exploitation and have to contend with the same imperialist phenomenon in different garbs. Economists like Galbraith and sociologists like Daniell Bell and Raymond Aron now talk of the convergence of Communist and Capitalist state discovering similarities in their bureaucratic and productive structures. Technological changes, immense power of the state apparatus, international disparities, colonial relations and new social formations prompt a reconsideration of old ideas about revolution. Herbert Marcuse and Frantz Fanon can be taken as representatives of this reconsideration because they have shown radical departures from the old concept, have been influential in more ways than merely theoretical.

# I

If Marx is a critic of bourgeois era of history, Herbert Marcuse provides a critique of advanced industrial society. He has diagnosed the ills and achievements of high capitalist societies like that of USA and Western Europe (where capitalism has survived all internal contradiction and the working class, in spite of its numerical superiority and class organisations, has been unable to bring about revolution);



as well as of a communist society like Soviet Union. For his purposes he performs an act of recovery of critical Hegelian core of Marxism and integrates it with radical Freudian concepts an integration of critical-psychoanalytical and Marxist concepts to envision the Vantage society of his dream to criticise to present day society. He discovers internal relationship between economic exploitation and repression of instincts, bourgeois rationality and reality principle. communist society and a society of libidinal overflow. His criticism of the industrial society is both from the point of view of past ( 'What it has lost' ) as well as from a utopian vantage point [ I What it could not become' ).

According to Marcuse, the industrial society with its technological means has been successful in satisfying the material wants to the extent that 'utopia, has become a possibility. "The dynamic of their productivity deprives 'utopia' of its traditional unreal content: What is denounced as 'Utopian' is no longer that which has no place in the historical universe but rather that which is blocked from coming about by the power of established societies". This repression, so different from that which characterized the preceding, less developed stages of our society, operates today not from a position of natural and technical immaturity, but rather from a position of strength. "The capabilities ( intellectual and material of contemporary society are immeasurably greater than ever before. Our society distinguishes itself by conquering the centrifugal social forces with technology rather than terror, on the dual basis of an overwhelming efficiency and an increasing standard of living."

"Contemporary society seems to be capable of containing social change-qualitative change which would establish essentially different institutions, a new direction of the productive process, new modes of human existence. This containment of social change is perhaps the most singular achievement of advanced industrial society....." Marcuse



accepts that in the capitalistic world the bourgeoisie and the proletariat are still the basic classes. However the capitalist development has altered the structure and function of these two classes in such a way that no longer appear to be agents of historical transformation."

Accepting that the bourgeois and the proletariat are "still the basic classes", and the qualitative change has been contained, Marcuse also observes that "forces and tendencies exist which may break this containment and explode the society." But he is hesitant to consider the proletariat as the agency of this explosion, because "the highest productivity of labour can be used for the perpetuation of labour, and the most efficient industrialisation can serve the restriction and manipulation of needs. When this point is reached, domination in the guise of affluence and liberty - extends to all spheres of private and public existence, integrates all authentic opposition, absorbs all alternatives."

Marcuse is, in effect, pointing out at the disappearance of material basis of proletarian consciousness. He finds that in advanced industrial society the relationship of capital and labour is no longer the same as was outlined in Marxist theory. Their integration with bourgeois makes them politically apathetic. His contention is reinforced by what he observes of the working class parties in the advanced industrial societies, the societies of 'total mobilisation.'

"In the political sphere, this trend manifests itself in a marked unification a convergence of the opposites..... ( which ) bears upon the very possibilities of social change where it embraces those strata on whose back the system progresses - that is the very classes whose existence once embodied the opposition to the system as a whole." The strong communist parties of France and Italy adhere to "a minimum programme which shelves the revolutionary seizure of power and complies with the rules of the parliamentary game. They are foreign in as much as they are witnesses



of a past ( or future ? ) history in the present reality... These national communist parties play the historical role of legal opposition parties 'condemned' to be non-radical."

Communist States, supposedly proletarian States, too are not spared of this criticism. There, as in Soviet Union, it is not Marxism which is directing the decision making apparatus, Marxism is revised to fit the Soviet reality. State, a part of superstructure, is not determined by the economic base, but it is the State which directs and controls economic system and its activities. Bureaucracy has developed divisive special interests. "Bureaucracy by itself, no matter how huge it is, does not generate self-perpetuating power unless it has an economic base of its own from which its position is derived, or unless it is allied with other social groups which possess such a power base. Soviet bureaucracy, through its control of economy has such a power base, and it rules Soviet society.

If in the capitalist world the working class parties have become 'doctors at the bedside of capitalism' and in the communist countries a new class of bureaucrats have taken over then surely the prospects of a proletarian revolution anywhere in the world are dim. The mechanisation, resulting in qualitative change in the labour process, increases the number of nonproductive workers, and social and cultural integration makes the working class no longer revolutionary. But Marcuse, the visionary, has not lost all hope,

## II

Events in France in May-June 1968 and student movements elsewhere in industrial societies made Marcuse, again, revise his generally pessimistic conclusions. In an interview in 1967 he expressed the opinion that "in the capitalist countries of the European continent the precondition for the efficacy of a serious opposition remains the political revitalisation of the working class movement on international scale." But his main hope, now reinforced,



for revolution was in the young rebels whose 'guru' he became in the following years.

In *One Dimentional Man* he had written :

"However, underneath the conservative popular base is the substratum of outcasts and outsiders, the exploited and persecuted of other races and other colours, the unemployed and the unemployable. They exist outside the democratic process; their life is in the most immediate and the most real need for ending intolerable conditions and institutions. Thus their opposition is revolutionary even if their consciousness is not."

In an interview he stated that the young rebels may have no effective organisation and may be incapable of exercising decisive power but "if these young people detest the prevailing system of needs and its ever increasing mass of goods, this is because they observe and know how much sacrifice, how much cruelty and stupidity contribute every day to the reproduction of the system. These young people no longer show the repressive need for blessings and security of domination. In them perhaps new consciousness is appearing, a new type of person with another instinct for reality, life and happiness, they have a feeling for freedom that has nothing to do with, and wants nothing to do with, the freedom practiced in senile society. *In short, here is the "determinate negation" of the prevailing system*".

The 'great refusal' of these young people which gave hope to Marcuse of a 'break into the repressive continuum' was in fact an 'invalidation of the concept of utopia'. They have denounced a vicious ideology. "No matter whether there action was a revolt or an abortive revolution, it is a turning point. In proclaiming the 'permanent challenge' the 'permanent education', the Great Refusal, they recognise the mark of social repression, even in the most sublime manifestation of traditional culture, even in the most spectacular manifestations of technical progress. "they have again



raised a spectre ( and this time a spectre which haunts not only the bourgeoisie but all exploitative bureaucracies ) : The spectre of a revolution which subordinates the development of productive forces and higher standards of living to the requirements of creating solidarity for the human species, for abolishing poverty and misery beyond all national frontiers and spheres of interest, for the attainment of peace. In one word: they have taken the idea of revolution out of the continuum of repression and placed it into its authentic dimension : that of liberation."

Marcuse agrees that spontaneity by itself cannot possibly be a radical and revolutionary force. But the new sensibility of small radical groups cannot accept the traditional forms of struggle. 'Socialist solidarity is autonomy: self-determination begins at home... ..' These groups, because they are negating the society in full consciousness may have autonomy, flexibility, mobility to fight against the most powerful monoliths and allow the emergence of utopia which the arch pessimist Marcuse hopefully outlines.

### III

Marcuse admits that the new base of revolution, consisting of non-conformist young intelligentsia, estranged population and the underprivileged sections of the working classes in backward countries which will become 'the new historical subject of change' will get formed slowly. The notion that this new subject can form itself into a class, and that too, a revolutionary class has been criticised from orthodox Marxist viewpoint. Class, by definition, is an economic category, and Marcuse's 'children' have no economic base, no place in production process. Founders themselves showed utter contempt for such social formations. In the *Communist Manifesto*, they had observed: "The dangerous class, the social scum, that passively rotting mass thrown off by the lowest layers of the old society, may, here and there, be swept into the movement by a proletarian revolution; its conditions of life, however, prepare it for more for the part of a bribed tool of reactionary intrigue",



Marx in a famous passage in *Eighteenth Brumaire* had again derided this social scum, *la bohème* which formed the army of the reactionary pretender Louis Bonaparte. "Alongside decayed *noyes* with dubious means of subsistence and of dubious origin, alongside ruined and adventurous offshoots of the bourgeoisie, were vagabonds. Discharged soldiers, discharged jail birds, escaped gally slaves, swindlers, brountebarks, *lazzaroni*, pick pockets, tricksters, gamblers, maquereans, brothol keepers, porters, literati, organ grinders, ragpickers, knife grinders, tinkers, beggars-in short the whole indefinite, disintegrated mass, thrown hither and thither, which the french term *Bohem...* this scum, offal, refuse of all classes the only class upon which he can base himself unconditionally, is the real Bonaparte, the Bonaparte *sans phrase*". Alasdair Mac Intyre, a social critic of Marcuse, echoes these phrases of Marx to say "what traditional Marxism saw as petty-bourgeois bohemia closely allied to the *Lumpenproletariat* has become in Marcuse's latest theoretical stance the potential catalyst of change. Traditional Marxism took the view that it did for a very good reason: that the sensibility of bohemia effectively cuts it off from the vast mass of mankind on whom the bohemians are in economic fact parasitical. So of course are Marcuse's idealised students who have produced the first parent-financed revolts in what is more like a new version of the children's crusade and bear not relationship to a revolutionary movement".

Similarly a case can be built against Marcuse's contention of the integration of working class in industrial society as Jack Woodis does, marshalling a large amount of socio-economic data, to show its nonintegration and its antagonistic character to bourgeoisie even in a advanced industrial society of United States. But these critics are criticising Marcuse in terms of the past, and they ignore the prime importance Marcuse gives to 'consciousness' and his valid reasons for this.



For Marcuse, Marx's basic concerns are ethical and psychological expressed in economic terms for the sake of concretion as is evidenced in Marx's early *Economic and Philosophical Manuscripts*. The ethical and psychological concerns are expressed in categories which, even, if the terms are philosophical, are basically economic. For example, the concept of alienation was an economic ( 'separation of work class from the means of production' ), as well as psychological ( 'total frustration of human faculties' ) category showing ethical concerns. These ethical and psychological concerns also refute the deterministic interpretations by orthodox Marxists. If these deterministic interpretations are accepted then of course there will be no scope left for human intervention, choice and freedom. Marcuse, just like Lukacs ( quoted earlier ) finds that consciousness has a central role in Marxian historic dialectic. Objective conditions provide the mere context for the revolution; the key of its success and the dialectic is consciousness, thus the central importance of 'revolutionary awareness'. Economic logic might well create the material conditions for revolution, but these conditions became revolutionary "only if seized upon and directed by a conscious activity that has in mind the socialist goal", wrote Marcuse in his *Reason and Revolution*, written in 40's. This interpretation is presumed throughout his later writing.

As Paul Robinson says 'In the traditional interpretation of Marx, the concept of an inevitable economic dialectic was linked to a materialist sociology which denied the autonomy, and therefore the historical importance of ideological, religious and philosophical factors...Marx himself...had been the most expert practitioner of the reductionist art... (Marcuse's ) attempt was directed to the historical impact of ideological forces, particularly those which bore on the crystallizing or meeting of revolutionary consciousness.'

## V

Marx's ideas were formulated in a mid-nineteenth century European context. While on the one hand, certain original ideas were twisted and new concepts were introduced



ced to suit the practical, tactical and situational requirements, doctrine itself acquired the reverence of dogma in Marxist and communist circles. In the words of Marcuse, official Marxists have made a fetish of Marx's categories. Instead of reaching for the truth contained in the categories, they are liable to ignore the truth of it overflows the categories. A time of reappraisal of Marxist formulations, of a marxism for post-modern society has arrived in which consciousness must come into its own.

Marcuse's concept of revolution is primarily related to consciousness. As the category of class gets obliterated in advanced industrial society, the revolutionary consciousness may appear in any receptive group of people: Student rebels, exploited minorities, distintegrated and unemployed, young intelligentsia and artists have given some signs of hope, but it does not mean that they will be able to capture the state power, and that was what was meant by the category of revolution originally. Now it might mean the refusal to give any legitimacy to the oppressive state by obeying established rules and roles or by protesting inside the system. While Marcuse approves of this great refusal in industrial society, in underdeveloped Third World he sees another gleam of hope,

## VI

The situation in the Third World countries is characterized by various sorts of colonial exploitation, fight for freedom, and predominantly agrarian production base. Marcuse, in the fight of the Third World, sees the possibility of a 'critical weakening of the global economy of capitalism.' "In any case, by virtue of the evolution of imperialism, the developments in the Third World pertain to the dynamic of the First World, and the forces of change in the former are not extraneous to the latter; the 'external proleletariat' is a basic factor of potential change within the domain of the corporate capitalism. Here is the coincidence of the historical factors of revolution: this predominantly agrarian



proletariat endures the dual oppression exercised by the indigenous ruling classes and those of the foreign metropolises. A liberal bourgeoisie which would ally itself with the poor and lead their struggle does not exist. Kept in object material and neutral privation they depend on a militant leadership."

Marcuse, is apparently writing from the perspective of the First World. He finds guerilla action as the only hope for the Third world, but that too may not succeed because 'the powers that be will not tolerate a repetition of the Cuban example'. He further says that 'the preconditions for the liberation and development of the Third World must emerge in the advanced industrial countries. To an extent this may be correct, but such assertions lack the proper Third World perspective. For the authentic voice of the Third World, of colonial people, we must turn to Frantz Fanon. If Marcuse rejects determinism for ethical and aesthetic reasons, Fanon sees the volutarist act as the only possible way in which colonial people can regain their manhood.

#### **Fanotaz Fanou and the Rejection of Western Models**

A consideration of the ideas of Frantz Fanon in a Marxist framework must face the problem of imperialism and colonialism at the outset. The problem is not whether imperialism is the highest form of development of capitalism, or that both are twins. The problem for Fanon is what imperialism and colonialism does to human consciousness, both in the colonies as well as in metropolitan countries.

Industrial revolution in the West was financed with the surpluses extracted from colonies bringing untold miseries to the colonial people. Industrialization of colonies was halted Later on, it became customary in Marxist circles to treat the colonial societies as pre-capitalist which have yet to pass through a bourgeois revolution. In fact, imperial intervention was sometimes justified because it was performing the 'benevolent' act of creating railroads and industrial infrastructure for a bourgeois breakthrough.



Renate Zahar quotes Charles Bettelheim whose analysis show that these countries may be referred to as backward, but the characteristics of underdevelopment are not present there. The colonies are integrated into a world market. "The intervention into the internal conditions of the colonies by the capitalist countries has modified their social and economic structures in such a way that a whole system of relationships between countries bent on capitalist expansion on the one hand, and their colonial dependencies on the other hand has developed". Colonies had been forced to become suppliers of raw materials and unequal trade terms had been imposed on them.

It has been again, proved by Andre Gunder Frank that imperialism does not introduce industrial but rather mercantile capitalism in the colonies. Fanon too found that in the colonies bourgeoisie as well as the working class, in whatever numbers they were there, were a specific foreign creation and they could not partake in the struggle for the real liberation of man. "What creates a bourgeoisie is not the bourgeois spirit, nor its tastes or manners, nor even its expiration. The bourgeoisie is above all the direct product of precise economic conditions. Now, in the colonies, the economic conditions are conditions of a foreign bourgeoisie". While bourgeoisie is merely parasitical acting as an agent or compradore, ever ready to exploit and permit ever greater exploitation of the natives.

In the underdeveloped countries, according to Fanon, 'the army and the police constitutes the pillars of the regime' which are advised by foreign experts. The new bourgeoisie too sooner or later become men of straw in the hands of army, cleverly handled by foreign experts'. "In this way the former mother country practices indirect government, both by the bourgeoisie that it upholds and also by the national army led by its experts, an army that pins the people down, immobilising and terrorising them".



The working class in these countries, again, is a foreign creation enjoying a privileged and pampered existence. "In capitalist countries the working class has nothing to lose, it is they who, in the long run, have everything to gain. In the colonial countries the working class has everything to lose; in reality it represents that fraction of the colonised nation which is necessary and irreplaceable if the colonial machine is to run smoothly; it includes train conductors, taxi drivers, miners, dockers, interpreters, nurses and so on. It is these elements which constitute also the "bourgeoisie" fraction of the colonized people".

Thus in the colonies, even in the newly free colonies, the national bourgeoisie as well as the working class play a negative role. Peasantry rooted in the countryside, alone remains outside the colonial system and only peasantry, after politicalization can play a revolutionary role. Even during the struggle for freedom the enlightened fighters came to discover the inadequacies of political actions limited to towns. Therefore, they flee to the countryside where "they rediscover politics, no longer as a way of lulling people to sleep nor as a means of mystification, but as the only method of intensifying the struggle,

## II

Fanon derived his political conclusions from his understanding of colonial situation, specifically from what colonialism does to human consciousness. In the colonial system all social and economic structures are mediated through a racialist ideology as there is no integration, economic or otherwise, of the colonizer and the colonized. Because of this ideology none of the antagonistic forces can perceive their real predicament. There is no reciprocity between them. It is through total negation of the colonized that the colonizer gets his power and it is through violent reassertion that the colonized can get back his identity.

Thus, like Marcuse, Fanon fuses economic concepts with psychological and anthropological with political, though



in a different manner. His observations on communist Party of France, which on several occasions supported French government's action in Algeria and his experience in treating mental patients in Algerian hospitals made him reject orthodox Marxism, and gained for him a new insight into the colonial situation. He found that the colonial oppression left deep psychic scars in the colonized and the oppression itself was a racist fact. Concepts of class and race merged and a new existential Marxism was created which was voluntarist to the core. Fanon came to reject the whole thrust of western history as inhuman. If we wish to create another Europe in our countries, he said, it will be better to hand over our countries to the Europeans because they will know better how to go about this once having had the experience. But if we want to create a just humane society of freedom and dignity, then we have to create it ourselves rejecting the western models. He asks the Third World countries to turn their backs on Europe of 'racial hatreds, slavery, exploitation and above all the bloodless genocide which consisted in setting aside of fifteen thousand millions of men.' He asked eloquently :

"For Europe, for ourselves and for humanity, comrades, we must turn once a new leaf, we must work out new concepts, and try to set afoot a new man."

This rejection of western model also implies the rejection of marxist view of stages of socio-historical progress according to which societies have to pass through the trauma of a bourgeois stage before classless society would be ushered in. As the positivist--evolutionary model of society has been the bedrock of marxist determinism, it gets rejected by Fanon lock, stock and barrel. That is the difference between the Leninist type of voluntarism with its emphasis on centralized party apparatus and Fanon's voluntarism which sees society as an existential 'given' even renewed by men who create it.



The creation of a new non-antagonistic, non-alienated society in a colonial situation requires social violence as the colonizers' rule itself is based on institutionalized violence. With his back to the wall and the knife at his throat the native becomes a man. Peter Warrley observes, explicating Fanon: It ( violence ) is given requisite social direction where it is utilized as part of a rationally-planned collective revolutionary struggle. In the process it produces new men, no longer men who react wildly against colonial control by *ad hoc* individual or localized outbreaks of disorganized aggression, but men who "stand up" with arms in their hands and thereby direct the collective destructiveness of organized violence into the positive channel of revolution .... Violence of this kind is thus a *social* violence and the transformations of personality entailed are *social* transformations.

### III

We have already seen that Fanon does not consider the national bourgeoisie or the colonial working class as revolutionary. His emphasis on work amongst the peasantry, its politicization and creation of political party through its revolutionary struggle is now an accepted fact after the Chinese and Vietnamese revolutions, even though earlier peasantry was thought to be the reactionary relic of a past, feudal society. But he also considers the lumpenproletariat as the second urban arm of the revolutionary struggle, which draws severest criticism from the orthodox Marxists. Most of these criticisms we have already encountered in the discussion of Marcuse, who again, puts some trust and hope in the revolutionary potential of young intellectuals, students and urban *declasses*.

But there is a difference between Fanon and Marcuse, as there is a difference between advanced industrial societies of West and colonial societies of North Africa. While Marcuse puts store by the liberated consciousness of the young



system-denying urban declasses, Fanon wants to make political use of the slum dweller, unemployed beggars and criminals as the urban second arm of the politicised colonial peasantry and in the process transform them and bring to them a higher consciousness.

In fact it will be wrong to characterize Fanon's urban under-class as *lumpen*. These are people coming from rural areas to find employment in cities in which they do not get there, and thus remain unassimilated. Moreover they have not cut off their links with their villages and return their often. As Worsley observes: "This new population of the cities of the Third World should not be thought of in static" "structuralist" terms as a separate category—*lumpenproletarias* distinctly marked off from the peasants on the one hand and the workers on the other...( Fanon ) was one of the first to appreciate not simply the existence and sheer size and rate of growth of these populations, but their revolutionary potential. In the place of the familiar revolutionary alliance between the proletariat and the peasantry, he posited an alliance between the peasantry and the urban under-class."

#### Conclusion

Fanon's revolutionary theory implies the rejection of materialist linear view of history, the theory of historical stages. Either the Marxist theory is truly internationalist and accepts the fact that world market has been integrated and colonial market is the part of world bourgeois economy and came to terms with this formulation as far as revolutionary theory is concerned or it must give the colonial people the freedom of transcending the situation without undergoing the various stages of history through which western world has passed. If this is done then determinist theory collapses as its reductionist form has already collapsed in the anthropology of Claude Levi-Straus and social philosophy of existentialist philosophers.



If Fanon's way to voluntarism is through the rejection of historicism, Marcuse reaches there by a marxist analysis of obliteration of the supposed revolutionary class and pins his hope for revolution on the voluntarist act of estranged young populace of the industrial society.

Lenin, already at the beginning of this century has realised the importance of the agency of the revolution, the centralized revolutionary party, recruited but separate from the class itself and sown the seeds of voluntarism. Fanon too will concur with him because he understands that a class by itself is not revolutionary, but it is a category from which people can be recruited for revolutionary cause. The task is to provide an ideology, organization and leadership. Marcuse may not have hope that such an organisation and leadership will germinate in the industrial society in the near future, but he is not averse to the idea. Thus we can bring all the three revolutionary thinkers together on one platform in so far as they, in trying to deal with new special formation have to reject the determinist nineteenth-century heritage of Marxism, if not locally at least in the action, and make revolutionary theory a concrete thing by making it come to terms with new situations in present as well as industrial societies,

We hope to have shown by now the inherence of voluntarism in revolutionary dialectic. Wherever men are involved, they will partake sufficient freedom to make a choice. This choice may to some extent be limited by material factors which can mystify them, generate "bad faith" in them or make their perceptions clouded by class-interests. But only this choice provides them with the power of transcendence. There is no other way but to let similar individual choices cohere in the unified consciousness of a revolutionary political movement.

#### REFERENCES

1. Berlin, Isaiah,—*Karl Marx, His Life and Environment* (1963, London, New York, Toronto ).



2. Bottomore T. B, and Rubel M. ( eds. ) *Karl Marx; Selected Writings in Sociology and Social Philosophy* ( 1964, London, New York, Toronto ).
3. Engels, F.—On the History of Communist League in Marx K. & Engels, F. *Selected Works*, in three Volumes, ( 1977, Moscow ).
4. Fanon, F.—*Toward the African Revolution* ( 1968, New York )  
*The Wretched of the Earth* ( 1970, New York ).
5. Frank, A. G.—*Capitalism and Underdevelopment in Latin America* ( 1967, New York ).  
*Latin America, Underdevelopment of Revolution* ( 1969, New York ).
6. Lefebvre, H.—*Sociology of Marx*. ( 1982, New York ).
7. Lenin, V. I. —What is to be done. *Selected Works*, in three volumes ( 1970, Moscow ).
8. Lukacs—*History and Class Consciousness*.
9. Lichtheim, G.—*Lukacs* ( 72, Glasgow ); *A Short History of Socialism* ( 1975, Glasgow ).
10. McIntyre, A.—*Herbert Marcuse. An Exposition and a Polemic* ( 1970 New York ).
11. Marcuse, H.—*One Dimensional Man* ( 1966 New York ).  
*Negations : Essays in Critical Theory* ( 1968 Boston ).  
*Reason and Revolution : Hegel and the Rise of Social Theory* 1968 ( New York )  
*Eros and Civilization : A Philosophical Enquiry into Freud* ( 1974, New York ).  
*An Essay on Liberation* ( 1969, Boston ).
12. Marx, K.—*Manifesto of the Communist Party*, Marx, K. & Engels, F. *Selected Works*, in three Volumes ( 1977, Moscow ).  
*Eighteenth Brumaire of Louis Bonapare*, *Selected works*, in three volumes. ( 1977, Moscow ).
13. Mills, C. W.—*The Marxists* ( 1962, New York ).
14. Plekhanov—*Selected Philosophical Works* ( 1961, London ).
15. Popper, K.—*The Poverty of Historicism* ( 1977, New York ).
16. Rhodes, I. R. ( ed. )— *Underdevelopment and Revolution* ( 1970, London ).
17. Woodis J.—*The Revolutionary Theories* ( 1972, New York ).  
A Contribution to the Critique of Political Economy, *Selected Works*, in three volumes ( 1967, Moscow )





# **NATIONAL SELF-DETERMINATION IN MARXISM : AN OVERVIEW**

**Priyankar Upadhyaya**

**Anjoo Sharan Upadhyaya**

The question of national self-determination has been a chronic, unsolved theoretical problem of Marxism, and has generated acrimonious debates within the Marxist circle since the days of Marx. Beginning from Marx and Engels, who relegated nationalism to a position of insignificance by comparison with class struggles, this debate has been carried on by Rosa Luxemburg through her statements on Polish independence, to the Austro-Marxists—Otto Bauer and Karl Renner and culminated in Lenin's revolutionary theory of right of nations to self-determination. This development, though brief in span, has nevertheless been intricate and at times displaced. A proper appreciation of the causes and forms of its successive metamorphoses and transferences require a fairly extensive treatment than has been done here. However, the present brief retrospective sketch of certain important ramifications of the debate on national self-determinations amongst the Marxists will help to discern the central theme, if any, in their general statements.

Marx and Engels, being firmly committed to proletarian-internationalism were hardly interested in building a systematic theory of national question. Barring a few reference to nationalism on specific issues, Marx was generally inclined to subordinate this subject to the cause of proletarian internationalism. In Communist Manifesto, he explicitly stated that "workers have no country" but did not offer any strategy to establish proletarian internationalism.

It is only in his later writings on Poland and Ireland that one traces hints of a possible methodology to translate



his conception of internationalism as against the artificial national boundaries created by bourgeoisie. On the specific issue of Polish independence, he found no contradictions in the international workers party striving for the establishment of a Polish nation. It is however debatable whether his support to Polish independence from Russian rule emanated from any esteem for the general democratic principles of self-determination of nations, or because of his aversion for Tsarist Russia, whom he regarded as the main bastion of reaction in Europe and wanted to establish a barrier between Russia and Germany. Later, Engels offered different explanation for this support when he argued in his letter to Kautsky in 1882 that:

Polish national liberation must come first, to make any social advance possible; no nation could fix its mind on any other goal before it was free from alien rule, and an international workers' movement could only flourish on the basis of a harmony of free people.<sup>1</sup>

On the issue of Irish independence, Marx was more forthright in accepting the importance of national self-determination as a strategy to achieve proletarian internationalism—a theme which was later amplified by Lenin systematically. Marx considered the liberation of Ireland as a necessary condition for the liberation of English proletariat.<sup>2</sup> More over, in his last days, his growing interest in a revolution in Russia also indicated his increasing awareness of the importance of national struggles to the cause of world socialist revolution. This is not to deny that Marx and Engels, at least in their early writings, remained largely oblivious of the phenomenon of nationalism which was about to grow explosively in Europe and could hardly provide any systematic theory to correlate national self-determination with proletarian internationalism.

It is relevant here to mention a classic mistake made by Engels on the national question when he developed a



peculiar doctrine of "non-historic nations" while analysing the collapse of democratic revolution in Central Europe in 1948-49. This doctrine though fundamentally foreign to Marxism", has brought much disrepute to Marxism.<sup>3</sup> Engels made this erroneous judgement of distinguishing historical and non-historical people while criticizing the counter-revolutionary role played by minor slav peoples of Habsburg empire ( Czechs, Slovaks, Croats, Serbs, Rumanians, Slovenes, etc. ) by supporting the conservative Russian army to put down the liberal revolution in Austria, Hungary, Poland and Italy. Without analysing the class reasons for the failure of 1948-9, Engels attributed this to the reactionary role played by "non—historic people"—a category which he borrowed from Hegel who believed that nations which fail to create a state or whose state has long been destroyed, are non-historic and condemned to disappear. In a rather intemperate language he spoke in favour of complete extermination or de—nationalization of these non—historic nations by the "historic people—Germans, Poles and Hungarians. It is, however, generally conceded that Engels' distinction between historic and non—historic nation was an impetuous reaction to the events of 1848-9 rather than a consciously built historical theory, and that it had nothing to do with the revolutionary historical materialism.<sup>4</sup>

It is clear that Marx and Engels themselves could not resolve the ambiguities implicit in their own approach to the issue of national self-determination and neither did the later Marxists find the task any easier.

The problem of reconciling the demand of nations to self-determination and the conception of proletarian internationalism was accorded greater significance by the Marxists of Second International especially by those coming from multi-national empires of Russia, Austria-Hungary and Poland. Conscious of the consolidation of nationalistic feelings in their multi-national societies, these Marxists—Rosa Luxemburg, Otto Bauer Lenin, and Stalin, offered



a variety of socialistic solutions to the demand of nationalities to self-determination, all within the corpus of Marxist framework. The synthesis of forces making for a nation and class was, however, done by Lenin and, in this process he fought a polemical battle with Rosa Luxemburg and Austro-Marxists, who were themselves polarised on this issue.

Rosa Luxemburg, representing the radical left, took an extreme stance on the issue of national self-determination by dismissing it as a refuge of petty-bourgeoisie and claimed that the advent of international monopoly capitalism had rendered all national groupings obsolete. Although she was conscious of the oppression of one national by another, she regarded it as a consequence of the rule of capital and hoped that a socialist revolution would automatically do away with all kind of oppression. This led her to believe that any struggle aiming at national self-determination would be detrimental to the international solidarity of workers as it would divide them and divert their attention from the more important task of bringing a socialistic revolution. Moreover, she was convinced that such demands of a separate nationhood were generally in the interest of a particular class and, thereby, national self-determination has no meaning per-se. To her, national separatism should not find any place in Marxist thinking as it was the result of bourgeois infiltration and tended to undermine the class viewpoint which was the *raison d'être* of social democracy."

Rosa Luxemburg as the founder leader of Social-Democratic Party of the Kingdom of Poland (founded in 1893). formulated her views on national self-determination while negating the demand of Polish independence raised by Polish Socialist Party (PPS). She repeatedly stressed the umbilical linkages between Russian and Polish Proletariats and their common destiny. To her "Polish Capitalism was an integral part of Russian capitalism...the irreversible process of economic integration could not be arrested by childish patriotic dreams."⁵ Joining issues with Bolsheviks who



recognized the right of nationalities to self-determination, she set out her arguments in her controversial articles published in 1908 under the title of "The National Question and Autonomy." Here again she branded the right to self-determination as "an abstract or metaphysical right" and a slogan of bourgeois nationalism. While doubting the economic viability of small states like Poland, she held that the natural trend in history was for small nations to be absorbed by larger ones; cultural and linguistic unity was bound to be the ultimate goal and it was reactionary and utopian to seek to reverse this process.

However, the strong upsurge of nationalism on the eve of the First World War and the subsequent collapse of Second International led her to revise her opinion on this issue. Though she blamed Social-democratic leaders for betraying the cause of proletarian internationalism, yet she acknowledged in her Junius Pamphlet (1915) that "Socialism gives to every people the right to independence and freedom of independent control of its own destinies."<sup>6</sup> She conceded in these later writings that national independence could be an expression of deeply felt cultural sentiments. All this was in total contrast to her pre-1914 economist approach which had led her to oppose Polish independence in the name of proletarian internationalism. Luxemburg's methodological inconsistencies were later exploited systematically by Lenin who condemned her for not being able to differentiate between the reactionary and revolutionary aspects of national movements.<sup>7</sup>

Austro-Marxists, anxious to preserve the unity of multinational Austro-Hungarian empire were naturally much involved in the debate over national self-determination.<sup>8</sup> Approaching the problem from the class standpoint both Karl Renner and Otto Bauer declared the demand of nationalities for the right to self-determination as a bourgeois demand which could divide and insulate a large section



of working class form the task of socialist revolution. Instead, they proposed to introduce cultural autonomy within the structure of a multi-national state by converting it into a socialistic federation of nations. So that the concept of nation would itself change and the principle of nationality would begin to lose its importance as a basis for the formation of state.<sup>9</sup> However, Renner and Bauer had notable differences not only in their general approach to the problem but also in the practical solution they envisaged. Of these two, Bauer has been much more pertinent from the Marxist standpoint, and as such is regarded to have made an important effort to develop a Marxist theory of nation.

Karl Renner, whose credentials as a Marxist are indeed doubtful, focussed his attention on the legal and constitutional aspects of the problem. Much concerned to protect the territorial integrity of historic Austrian-state, he expatiated on the problem of national self-determination in his book, "The State and Nation" (1899). In this study, he reduced the question of nationalities to a purely administrative and constitutional problem, taking away in process, the political content of the demand. As a solution to the problem he sought to convert the multi-national Austrian empire into a democratic federal state by granting judicial and constitutional right to its minorities through a rather complex scheme which included national corporations based on the principle of personality, a 'national register' listing all those opting for a nationality, separate electoral roles for each national minority and so on.<sup>10</sup> However, his exclusive legalist perspective was devoid of any revolutionary element of Marxism, and was nearer to the position taken by Lassalle.

Unlike Renner, Otto Bauer subordinated the national question to the interest of international working class movement. Outlining his approach in a monumental work, the National Question and Social Democracy (1907), he stated that a Social-democratic programme concerning nationali-



ties has to start from the position of working class in the society. Although he believed that national oppression was a function of class oppression, he did not agree with his contemporary Marxists especially Rosa Luxemburg and Lenin, that national differences would disappear in a socialistic society. Instead, he ascribed intrinsic value to the concepts of national community and cultural autonomy by putting greater emphasis on the neutrality of psychological and cultural factor making a minority.<sup>11</sup> In doing so, Bauer not only de-politicized the entire issue of national self-determination, by insulating classes and class-struggles from the realm of national culture but also ignored the dialectical relationship of the proletariat to the bourgeois cultural heritage. This led to a severe attack on his formulations by most of his contemporary Marxists.<sup>12</sup> However, Bauer's conception of nation, based as it was on historical materialism, provided tremendous theoretical thrust to the coming generation of Marxists working in the area. Later, Bauer had to relinquish his ideas on the viability of multinational states in the wake of Balkan wars and emergence of Slav nations in Europe. During the First World War he not only recognized the authenticity of Polish demand of independence but also proclaimed the right of every nation to self-determination.

Lenin was far ahead of his contemporary Marxists who were still grappling with the problem of accommodating ever-growing nationalistic feelings in their frame of Socialist revolution. Lenin not only successfully reconciled the mutual antagonism of forces making for nation and class within a Marxist framework but also transformed the concept of national self-determination to act as a revolutionary strategy for the attainment of proletarian internationalism. His seminal contributions in this field added an important component to Marxist theory and provided a prototype to later Marxists who by and large resorted to



Leninist formula while resolving the contradictions between national self-determination and proletarian internationalism.

In the midst of Balkan Wars ( 1912 ) and the general intensification of national feelings that presaged the First World War, Lenin got the firsthand opportunity of studying intensely the self-stultifying struggle between Polish Socialist Party and SDKP of Rosa Luxemburg on the issue of Polish Independence. Lenin found Luxemburg's opposition to Polish independence in the name of "Internationalism, politically retrogressive and out of date. Similarly he became rather averse to the concept of "cultural-autonomy and federalism as proposed by Austro-Marxists. These reservations led him to launch a frontal attack on both these extreme viewpoints and this he did on the basis of meticulously collected materials on both Polish independence and Austria. While criticising polemically both the idealist nationalism of Austro-Marxists and the one-sided abstract internationalism of Rosa Luxemburg, Lenin cogently evolved revolutionary strategy of national self-determination in his writings-above all in "The Right of Nations to Self-Determinations". Lenin sought the true meaning of self-determination not in any "general concept of Law but in the historic-economic study of national movements. Following the dialectical method of reasoning, he asserted that the nationalistic movement arose and spread across the world at a particular stage of social development; the period of the final victory of capitalism over feudalism and were essentially dominated by the bourgeoisie. This was due to the natural tendency of the developments of capitalism which functioned most effectively in politically and linguistically united territories and produced the most profound propensity for forming national-states. Hence the proposition held by Lenin that the formation of national states fulfilling requirements of modern capitalism had been a typical and normal" outcome of an era in which Europe, secure within its national frame had extended its reach around the world.



The development of capitalism in its mature form at a later stage, according to Lenin, would demand the demolition of national difference it had earlier created in favour of international unification of capital, politics and science. This would be the result of "greatest historical progress, the breakdown of hidebound national conservatism especially in backward countries"<sup>13</sup> On this ground, Lenin endorsed the support for "fullest freedom of capitalist intercourse" and keenly waited for this phase of the development of capitalism which would create the ripe situation for a global proletariat confronting a global bourgeoisie. This is how Lenin provided a realistic approach to the upsurge of nationalism in the wake of developmental influence of capitalism and yet remained well within the framework which Marx had expounded.

Having accounted for the dialectical relationship between the demands of national self-determination and proletarian internationalism, Lenin turned his attention to the political dimensions of the problem which were hitherto neglected by other Marxists of the period. He clearly grasped the necessity of granting the freedom to secede which would facilitate free and voluntary unions, associations and co-operation and would make possible in the long run a fusion between nations. While exposing the opportunistic theories of national unity, common national culture and cultural autonomy of Austro-Marxists, he exhorted Bolsheviks to declare themselves in favour of right to self-determination of even the smallest nationality up to the secession.<sup>14</sup> It was a difficult task of Lenin to convince his fellow comrades that his espousal for national self-determination was not a contradiction of his basic centralist views. In this contest he wrote;

We demand the freedom of self-determination, i.e. independence, i. e. the freedom of secession for the oppressed nations, not because we dream of econo-



mic disintegration or because we cherish the ideal of small states, but, on the contrary, we are in favour of large states and the closer unit and even the fusion of nations, but on a truly democratic, truly international basis which is inconceivable without the freedom of secession.<sup>15</sup>

However, Lenin was against all attempts which aim to project the right of nations to self-determination as an absolute and eternally valid doctrine. Emphasising its temporary and conditional validity, Lenin wrote:

Several demands of democracy, including self-determination, are not absolute but only a small part of the general democratic world-movement. In individual concrete cases, the party may contradict the whole, if so it must be rejected.<sup>16</sup>

Lenin was fully conscious of the problems in drawing this boundary line as he pointed out himself that this threshold could be difficult to discern. If the boundary line was overstepped as was attempted by Austro-Marxist in the name of "National Cultural autonomy" then democracy and progress in national question would only betray internationalism. ('Struggle against every national oppression, yes, indeed. But struggle for any development for "national culture" as such never').<sup>17</sup>

Unlike other Marxists of his time who saw only economic, cultural and psychological dimensions of the problem, Lenin emphasised the political ramifications of the problem and declared categorically that the question of national self-determination belonged wholly and exclusively to the sphere of political democracy. In one of his strong statements on the subject he stated:

Not a single Social Democrat, unless he is ready to declare that question of political freedom and democracy are indifferent to him, and in that case it is clear that he has ceased to be a Social Democate.<sup>18</sup>



However, it will be misleading to over-emphasise the element of political-democracy in Lenin's argument on national question. The fact is that Lenin never considered the democratic demand of people to form a nation independently but always subordinated it to the overriding class interest of world proletariat. Hence, he treated the question of national autonomy as purely one of tactic. He clearly stated that we concern ourselves with the self-determination of the proletariat in each nationality rather than with the self-determination of peoples or nations..<sup>19</sup>

After Lenin, the debate over national self-determination was carried on by Stalin who is some times acknowledged as an expert of nationality issue. It was Lenin who initiated Stalin into this issue by sending him to Vienna and spoke to Gorky of "a splendid Georgian was gathering all the Austrian and other material...and writing a big article for *Prosveshchnie*."<sup>20</sup> However, the resultant article *Marxism and National Question* (1913) did not entertain many formulations which Lenin could have appreciated. Consequently Lenin never mentioned the existence of this article in his subsequent writings on national question. Stalin, too, never acknowledged Lenin's influence on his writings and was particularly keen to put his own name before his teachers' in any such reference to national question.<sup>21</sup>

In fact Stalin's formulations differed from those of Lenin in more than one way. Stalin's emphasis on psychological character of nationality—a theme which he borrowed from Bauer, was something totally exclusive to Lenin. Moreover, Stalin by emphasising five essential features of a nation (Stable continuous community, common language, a distinct territory, economic cohesion and collective psychological character) gave his theory a rather ossified and dogmatic character, a dimension which Lenin always condemned. Whereas Lenin spoke strongly in favour of freedom of asso-



ciations of different national communities, Stalin found it utopian and inconceivable. Instead he proposed to establish a national market comprising only of homogenous populations<sup>22</sup>. More significantly Stalin refused to accept the Leninist formulations of distinguishing between nationalism of oppressor such as Tsarist Russia and nationalism of oppressed nations of Poles, Jews and Georgians etc. The differences between Lenin and Stalin on the question of national self-determination gradually became so acute that they literally had to fight it out on the nationality question in Georgia ( December, 1922 ). However, Lenin was not left with much time to settle the issue finally<sup>23</sup>.

The foregoing overview of major Marxist writings on the problem of national self-determination reveal that Marxist theorists have not found it an easy task to reconcile between the forces making for a nation and proletariat internationalism. But for Lenin who grasped the political ramifications of the demand of national self-determination, other Marxists of the period have ignored the essence of the problem. Even for Lenin too it remained a problematic task to resolve the ambiguities implicit in his own doctrine. He, however, filled up an important hiatus in Marxist theory by providing a coherent and realistic model of how to apply the universal principles of Marxism in a multinational state.

Evidently, the developments of twentieth century, and especially the phenomenal growth of nation-states have not occurred in a pattern that would endorse any specific Marxist position on the subject. But, many acrimonious controversies over the specific problems of national self-determination have been resolved by these historical developments—while the disintegration of multi-national empires of Europe proved the falsity of Austro-Marxists, the advent of a unified Poland exposed the limits of “abstract internationalism” of Rosa Luxemburg. The formation of nation-state by ‘non-historic’ Czech people highlighted the extreme instance



of erroneous judgement by Engels. Similarly Lenin's assumption of an international proletariat confronting an internationally united bourgeoisie as mature consequences of the developmental impact of capitalism has not taken place. However, it does not by itself invalidate Lenin's thesis on self-determination which was a practical response to the political realities of his time.

### REFERENCES

1. Tom Bottomore (eds.), *A Dictionary of Marxist Thought*, (Oxford 1983) p. 347.
2. M. Lowy. "Marxism and the National Question" in Robin Blackburn (ed.), *Revolution and Class Struggle A Reader in Marxist Politics*, (Fontana, Glasgow, 1977), P. 138.
3. See "Was Hitler a Marxist" and "Hitler Links with Marxism" in *Times of India* New Delhi, January 11-12, and March 11, 1985.
4. Leszek Kolakowsky, *Main Currents of Marxism, The Golden Age*, (Oxford, 1981), p. 89.
5. Ibid, pp. 90-2.
6. See Mary-Alice Waters (ed.), *Rosa Luxemburg Speaks*, (New York, 1970), p. 304.
7. See Lenin, *The Right of Nation to Self Determination*, (Progress, Moscow, 1979), pp. 7-18.
8. Tom Bottomore and Patrick Goode (eds.), *Austro-Marxism*, (Oxford, 1979), pp. 30-3, and 102-125.
9. Tom Bottomore, *Political Sociology*, (New Delhi, 1981), p. 110.
10. Lowy, n. 2, p. 149.
11. Lowy, n. 4, p. 289.
12. Pannekoek and Strasser both condemned Bauer's thesis as a historical idealist and national opportunist. For a critical discussion on the subject see E. M. Winslow, *The Pattern of Imperialism*, (New York, 1948), pp. 159-69 and 179.
13. See Ralph Pettman, *State and Class ; A Sociology of International Affairs*, (London, 1979), p. 125,



14. See Rushislaw Ulyanovsky, *National Liberation*, (Moscow, 1978), pp. 32-33.
15. Quoted in R. Vaidnath, "Lenin on National Minorities" *Indian Quarterly*, New Delhi, Vol. XXVIII, no.1, Jan-March, 1971, p. 28.
16. V. I. Lenin, "The Discussion on Self-Determination summed up," collected works, Moscow, Vol, 22, p. 341.
17. Bertram D. Wolfe, *Three who made a Revolution*. (Pelican Middlesex. 1966 ), p. 654.
18. Ibid, p. 653.
19. See David McLellan, (ed.), Marx; *The First Hundred Years*, Fontana, 1983, p. 164-5.
20. Wolf, n. 17, p. 643.
21. Ibid.
22. See Bottomore, n. 1, p. 344.
23. Lowy, n. 2, p. 151-4.



## SARTRE AND MARXISM

Pitambar Datt Kaushik

### EVOLUTION OF SARTRE : AS A COMMENTATOR OF MARX

Sartre, the most famous of all French philosophers of twentieth century, the leading existentialist thinker is also regarded as a prominent commentator of Marxism. To Sartre "Marxism", writes Joseph H. Mc Mahon, "is the philosophy of our times because, as far as Sartre can see, Marxism is the only philosophy which resolves the dilemma of the individual—he is a free being who discovers his freedom in the midst of need."<sup>1</sup> However, though Sartre is a Marxist, he is not a Marxist of Leninist-Stalinist brand. His Marxism is unique in many ways. First, he is an existentialist, though to him the role of existentialism is to reintroduce man into Marxism by insisting that man makes history by whatever projects he accepts as his own. Secondly, he rejects the principal of economic determinism, which is one of the important aspects of orthodox Marxism. Thirdly, he was not an *admirer* of Soviet Russia's Communist regime. He was disillusioned by discovering concentration camps in Soviet Russia and described Stalinism as "this bloodstained monster which destroys itself."<sup>2</sup> Fourthly his relations with the French Communist party were far from cordial. He criticized the French Communist party because "the Communist party, which claims to be revolutionary, has, since the beginning of peaceful co-existence, been reduced to seeking power in the bourgeois manner by accepting the institution of bourgeois suffrage."<sup>3</sup>

Sartre's love for Marxism grew slowly. It passed through three distinct phases :

#### I Period of Intellectual Curiosity :

Till the second World War Sartre had no active interest in politics. He was fired with the hatred of bourgeois and



hence was attracted towards Marxism, but his study of Marx was little more than a purely intellectual exercise, which did not elicit much enthusiasm.

## II. Period of friendly hostility :

After the outbreak of the Second World War, Sartre gradually came to recognize Marx as presenting a coherent analysis and programme for the liberation of the proletariat. Marx's ideas became the basis from which Sartre could work out his own commentaries and theories. After the liberation Sartre founded the socialist journal "Les temps modernes." However, though Les temps Modernes was generally sympathetic towards the Soviet Union, yet it did not hesitate to condemn excesses in the internal and external policies of the Soviet Union.

## III Period of Reinterpretation of Marxism :

However, it was only with the publication of "Critique of Dialectic Reason" that Sartre emerged as a forceful commentator of Marxism. In this book Sartre made an attempt to bring about an union of Marxism with Existentialism. In 1974 came his "Between Existentialism and Marxism". However, Sartre still "describes himself as a Marxist, but not a dialectical materialist, nor yet as a communist."<sup>4</sup> Sartre has always been a bold and uncompromising champion of debate and as such has always been critical of Communist party for not allowing free discussion of all crucial political issues. He prefers Titolsm to Stalinism.

## Union of Existentialism and Marxism

The chief feature of Sartrean political thought is union of Existentialism and Marxism. "By combining Marxism with Existentialism", writes Roy Pierce, "Sartre has tried to give political content to the highly schematic and nearly empty existentialist framework, and at the same time reject, as Simone Weil rejected, the unseen hand of economic determinism".<sup>5</sup>



On the face of it, Existentialism and Marxism seem to be two contradictory school of thought. Existentialism extolls freedom of the man, Marxism propounds the theory of economic determinism which emphasises man's helplessness before the economic forces, which determine his fate; Existentialism is a philosophy of resignation. Marxism is a call for revolution. This seeming incompatibility between Existentialism and Marxism and Sartre's assertion that Marxism is the only valid philosophy of the present era while Existentialism is only an ideology, a sort of parasite which feeds on the body of Marxism at the same time as it contributes to Marxism's explanatory power have led some to conclude that Sartre has renounced Existentialism in favour of Marxism. But as we shall see, there is neither any inevitable incompatibility nor any necessary connection between the two. To some extent the two are opposed, but at the same time the two are also to some extent complimentary. And as Pierce remarks," In general, when Sartre discusses persons, existentialism is still his chief tool of analysis, but when he discusses contemporary politics, Marxism dominates the field."

There is no inevitable incompatibility between existentialism and Marxism. The two philosophies have a common ancestry in the writings of Hegel. They also tend to complement each other. Existentialism is generally concerned essentially with the individual, while it excludes the social phenomena with which politics is associated. Marxism is chiefly concerned with social phenomenon and studies individual only as a social being. Existentialism is a dynamic philosophy and has a built-in stimulus to action, but it is totally devoid of any ingredients that might give direction to the action it compels. On the other hand Marxism is a philosophy and programme of action. Existentialism can provide Marxism with an analytical perspective, while Marxism can provide Existentialism with a sociology and a programme for concrete political action.



At the same time there is no necessary connection between Sartrean Existentialism and Marxism. Marxism is opposed to policy of resignation. It believes in economic determinism, subordinates liberty to economic and social equality and gives a call to action of a specific sort because it holds that action to be right. But Existentialism is not a call for action. It is morally indifferent. It gives supreme place to liberty, defined as freedom of choice. And yet Sartrean Existentialism, at least if it is to be equated with the arguments set forth in "Being and Nothingness", alone provides no justification for any particular act, not even for action designed to enlarge man's possibilities of choice.

Thus revolutionary Marxism does not necessarily follow from existentialism, yet there is an intelligible relationship between revolutionary Marxism and Sartrean Existentialism. Sartrean concept of responsibility constitutes the man link between Sartrean Existentialism and Marxism. Existentialism is morally neutral, but existentialist man is not. He suffers from "anguish" of freedom, which refers to the awareness that each person is responsible for his actions and can not shift that responsibility to anyone else anything. It also refers to the problem of deciding at what points of the complex social structure to exercise one's responsibility and attempt to make a better world.

Now, the world can be made better either by reform or by revolution. But in the face of evil Sartre visualises only two alternatives. namely, resignation or revolution. He rules out the alternative of reform, while his concept of responsibility makes resignation an undesirable choice. Thus revolution becomes the only choice. Sartre does not want to reform the world. He is impatient and ambitious and wants to eliminate all evil and wants to act on society on a scale consonant with the ambitiousness of the goal. This revolutionary attitude makes Marxism an attractive



philosophy as Marxism is a philosophy of revolution. "still", writes Roy Plerce, "one needs to know what kind of a revolution to promote and one needs an instrument with which to promote it. It is at this point that Sartre borrows from Marxism, for this theory conveniently provides a sociology of the situation in terms of capitalist exploitation and class struggle, designates a revolutionary class-the proletariat-and prescribes a general social remedy-socialism,"<sup>7</sup>

#### SARTRE'S INTERPRETATION OF MARX

Sartre's theory of history :

"The peculiarity of existentialism" argued Sartre, "is that it has always insisted upon the uniqueness of each individual and particular historical event." Both Existentialism and Marxism "seek the same object; but the second has reabsorbed man into a general idea while first looks for him every where, at work, at home, in the street."<sup>8</sup>

Sartre consider history to be force which moves across time and space and with a sense of purpose and an intended direction, not because it is an independent force, but because it is a vehicle which tells us if we look at it in its totality, what men have been seeking. Sartre and Marx both agree that if men make history, the history they make is not Hegel's, men would indeed be greatly mistaken if they thought that they were making that kind of history. Men works in time, not in order to justify an already proclaimed meaning for that time, but simply and frighteningly because he can do nothing else. To act is his praxis; in acting, he leaves behind a legacy which is his contribution either of shame or glory.

The thing with which Sartre is concerned most is freedom. To Sartre, the question of how history as freedom is faring is something that can be evaluated only by examining the place of the oppressed. The study of the oppressed as the most meaningful force in the history has a few prominent features. First, it has little concern with arousing



sympathy for them. Second, it has everything to do with seeking to find out why they are oppressed. Thirdly, the study is conducted with an eye to identifying the possibilities they have as free men to breakaway from their misery.

#### Sartre rejects Economic determinism

However, beyond this Sartre does not ditto Marxist interpretation of history. He rejects Marxist theory of Economic determinism. Marx believed that "men make their history themselves, but they make it within a given milieu which conditions them." In his earlier works Sartre out-rightly denies the force of that conditioning; in *Critique of the Dialectic Reason* he concedes that that conditioning is of such great power as to make it impossible for most men to overcome it in order to make their history with the full capacities of their freedom. Explaining his concept of freedom he makes a distinction between minerals and vegetables, whose growth is wholly determined by their environment and genetic structure, and for whom the 'obedience is automatic', and man. Because man is free, the only archetype to which he can conform in one which he himself selects, "perpetually choosing himself to be as he is." In other words Sartre rejects all types of determinism - economic or otherwise. "I know", Sartre writes, "that man can be saved only by the liberation of the working class I know it simply by looking at the facts, without needing to be a materialist."

Sartre rejects the Marxist theory that "means of production" are the chief force which shape the society and gives birth to classes and conflict. Instead, he maintains that all systems and all reactions to the systems result from the fundamental fact of human alienation. The primary source of this alienation is the situation of scarcity, which creates the obstacle he finds standing between his apprehension of his liberty and his free exercise of it; he lives in need. Sartre is of view that Marx did not give enough weight to



the fact that there is never enough to go round. Marx consequently did not see that the real basis of class war lay in man's immediate recognition of his fellows not as potential helpmates but rivals for the inadequate food and shelter available. Sartre maintains that no society has as yet passed beyond the stage where all human relationships are governed by scarcity, for even an economy characterized by overproduction suffers from it under the form of a shortage of actual or potential consumers. As Pietro Chioldi maintains, "In taking scarcity as the original context of all social formations Sartre is drawn into a polemic both with Engels and with Marxism in general, over the origin of classes"<sup>10</sup>

#### Sartre on dictatorship of proletariat

Sartre was critical of Soviet Russia. He rejected the view that Soviet Union exemplified a socialist state or a dictatorship of proletariat. "The dictatorship of the proletariat," he says, is an optimistic phrase coined too hastily as a result of ignorance of the formal laws of dialectical reason". "Historical experience has undeniably revealed that the first moment of a socialist society in process of construction could not be—when we consider it still on the abstract level of power—anything but the indissoluble aggregate of bureaucracy, terror and cult of personality."<sup>11</sup>

#### Sartre on withering away of state

Sartre does not seem to subscribe to the Marxism concept of "withering away of State" as a consequence of socialist revolution which would create a classless society and would thus destroy the foundation of state, which is a class institution—an instrument by which the dominant class exploits the other classes. As Sartre regards situation of scarcity the chief cause of alienation and the growth of social institutions culminating in state, so withering away of state through the establishment of a socialist state would require the elimination of the situation of scarcity.



But Sartre sees no possibility of the elimination of the situation of scarcity in foreseeable future. He is of the view that a fully socialist society, in the sense of one that definitely eliminated the burden of scarcity from human relations of reciprocity, is a kind of society which remains beyond our experience and comprehension. "As soon as there will exist", writes Sartre, "*for everyone* a margin of *real* freedom beyond the production of life, Marxism will have lived out its span, a philosophy of freedom will take its place. But we have no means, no intellectual instrument, no concrete experience which allows us to conceive of this freedom or of this philosophy"<sup>12</sup>

Sartre's interpretation of marx an evaluation

According to Raymond Aron, "when Sartre presents his enterprise as destined to establish the foundation of Marxism (or the possibility of the Truth of the Marxist interpretation, which he takes to be self evident) he neglects to add explicitly that he is searching for these foundations on the basis of his own philosophy or his own ontology, that for itself, the project and freedom. And so the paradoxes multiply. Sartre bases the necessity of aggregate history upon the freedom of the individual agents; dialectic appears with individual action and not with dialogue, totalizes diversity in the light of a goal yet to come; it is free by essence or having as its essence the property of not having one and submits, qua-dialectic, to no law, whether natural or ideal."<sup>13</sup>

According to Joseph H. McMahon, "At the point when he embraces Marxism. Sartre's honesty and impatience involve him in what appears to be a contradictory program : the acceptance, despite some discouraging information, of Marxism as the dialectical force which will not dissolve and which can avoid the practico-inert. Marxism's escape is not miraculous; it is willed."<sup>14</sup>

Thus Sartre's attempt to unite Existentialism and Marxism, philosophy of resignation and freedom with philo-



sophy of action and economic determinism has its pitfalls; "The critique de la Raison dialectique marks a final effort by Sartre to place himself within the mainstream of the marxist thought without betraying his own thought."<sup>15</sup> For all his sympathy for Marxism, Sartre remains a thoroughly existentialist thinker, but as Mc Mahon maintains, "If Sartre's doggedness has done nothing else it has imposed new directions on Marxist theory in France."<sup>16</sup>

## REFERENCE

1. Joseph H. McMahon : Human Beings, The world of Jean Paul Sartre, (University of Chicago Press, Chicago, 1971), P 345.
2. Cited in Philip Thody : Sartre, a Biographical Introduction, ( Studio Vista London 1971 ), p. 109.
3. Jean Paul Sartre : Life/Situations, Essays written and spoken (Tr. Paul Auster & Lydia Davis ), ( Pantheon Books, New York ) p. 208.
4. Arne Naess : Four Modern Philosophers ( Tr. Alastair Henny ), ( Phoenix Books, Chicago, 1969 ), p. 274.
5. Roy Pierce : Contemporary French Political Thought (Oxford University Press, New York, 1966), p. 161.
6. Ibid.
7. Ibid, p. 168.
8. Cited in Philip Thody, op. cit., p. 110.
9. Cited in Philip Thody, op. cit., p. 92.
10. Pietro Ghiodi ; Sartre and Marxism (Tr. by Kate Soper) (The Narvesster Press, 1976), pp. 69-70.
11. Cited in Ibid, p. 66.
12. Cited in Ibid, p. 101.
13. Raymond Aron : History and the Dialectic of Violence, An Analysis of Sartre's Critique de la Raison Dialectique, ( tr. by Barry Cooper ), ( Basial Blackwell, Oxford, ) p. 15.
14. Joseph H. Mc Mahon, op. cit., p. 349.
15. Raymond Aron : op. cit., p. xiv.
16. Joseph H. Mc Mahon; op. cit., p. 334.







# A STUDY OF CHINESE PEASANT SOCIETY AND THE CONCEPT OF CLASS AND CLASS RELATION

DR. KAMAL SHEEL

The present paper analyses the concept of class and class relations in the context of Chinese peasant society. Within the Marxist historical tradition, this concept is not only most frequently used but often times misunderstood. This poses a serious problem in any examination of the precapitalist agrarian society. In this paper, we would first briefly indicate problems inherent in the study of Chinese peasant society by outlining one of its essential social characteristics and later examine the concept in detail to point out its full meaning. Our task in this paper is, therefore, limited to review this concept for the purposes of its use in the historical analysis of a precapitalist agrarian society.

Scholars have pointed out that Chinese peasants neither lived in a social vacuum nor did they struggle daily against antagonistic classes<sup>1</sup>. In fact, they lived in a world which was dominated by the gentry (i. e., landed upper classes) who had control over their production and market. Although they had the right to private ownership of land and tenants were free to rent land from landlords on the basis of a business type contractual relationship, their socio-economic survival depended essentially upon their moral relationship with the gentry. In Chinese rural society, this moral relationship is frequently expressed in terms of *k'an-ch'ing*.

*K'an-Ch'ing* characterizes the gentry-peasant reciprocity and not class struggles. More precisely, it refers to a moral equilibrium between two antagonistic classes at the time of apparent social quiescence. Anthropologists Morton



Fried in his study of a village in Anhwei province, writes: "*K'an-ching* expresses a relationship between two individuals who are not on precisely the same social plane . . . ( It ) is the primary institutionalized technique by which class differences are reduced between non-related persons or even . . . between distantly related kins. In this respect it differs from the state of friendship which, in many cases makes a tacit assumption of equality."<sup>2</sup> *K'an-ch'ing* however does not express a one sided relationship. The peasant imposes upon the gentry some of the duties and functions of paternalism and in turn obligations of deference are imposed upon him. For a peasant, deference means self preservation and the security of subsistence, while, the gentry, paternalism grants the maximum possible extraction of the peasant's surplus and control over peasant labor. Fried notes that "there are only protection of customary rights and *K'an-ching* which ensure two tenant of his land year after year." And, "even the wealthiest landlord had a certain interest in *K'an-ching* because production may be spurred by it, cheating may be reduced by it, and it is within the grounds of propriety that all relationships can be carried out properly".<sup>3</sup> Expressed in local vocabulary as "good", "not good", or worst of all "absent" the *K'an-ch'ing* relationship determines the nature of the balance between surplus appropriation ( through tenantry, trade, or taxation ) and subsistence demands.

However, if *K'an-ch'ing* relationship between gentry and peasants presents a seemingly apparent picture of class reconciliation in the Chinese rural society, does that mean that peasants were not a class, are at best, only a class of "low" or false" consciousness incapable of bringing about themselves desired historical change? Similarly, do peasants socio-political actions in China, witnessed in numerous revolts and rebellions during nineteenth and twentieth centuries (and characterized by their defensive nature, reflect historically meaningless, futile and unproduct-



ive exercises ? Finally, how should one account for a class of "low" or "false" consciousness to indulge in "class struggles" and a "Communist Revolution" in China ?

I think that these problems emerge in any historical analysis of Chinese rural society mainly because of the mechanistic Marxist class interpretations. This determines that peasants are a class ( i. e., class in itself ) by their mode of production, but, in so far as, they cannot act politically on behalf of their class, they are not a class ( i. e., class for itself ). To be sure, the Marxian emphasis on the determining role of antagonistic classes in the historical developement ( or non-development ) of a society cannot be denied. However, in the scholarly studies of rural society, as compared to clearly observable and quantitatively measurable economic, demographic and socio-structural changes, only a slight attention has been paid to the shifting social relationships which accompanied and furthered these changes. The shift in social relationship is generally assumed and not demonstrated. In fact, class struggles within a socio-political structure are, in most scholarly works, reduced to socio-economic forces and conflicts which ignore any analysis of the inner dynamic of a social system. Thus, instead of viewing the social dynamic of *k'an-ch'ing* relationship itself, its seemingly apparent character of class reconciliation leads scholars to assume that peasants were not a class for itself and, therefore, the role of outside intellectuals was necessary to transform them into a "full" class in the Marxist sense for bringing about the Communist Revolution. Hence, without denying the significant role of economic forces and conflict, it is equally necessary to comprehend the fundamentals of a social structure ( i. e., the existence of specific classes ) and its internal dynamic ( class relations expressed in class struggle and also class reconciliation ) as well as to analyze how the dynamic breaks down, creates a social crisis and ultimately alters the whole social system. This cannot be understood without reference to the concept of class and class relations,



We must therefore begin with classes. But this immediately raises the problem what do we, as historians, mean by the concept of Class? In spite of the crucial and pervasive place of this concept in Marx's historical writings, he nowhere discusses it in full and, systematic fashion. Moreover, he uses the notion of class in two different conceptual constructions. The first is an abstract or 'pure' model of class domination, which exists in all types of human societies beyond the primitive communal and until the victory of proletarian revolution. The second is a more concrete description of the specific characteristics of classes in capitalist society. His overriding concern with an analysis of the development of modern capitalism led him to develop specific tools to amine the nature and form of classes only in the capitalist social structure. However, in a most critical and influential passage in his Introduction to the Critique of Political Economy, Marx comes close to arriving at a definition of class :

In the social production of their life, men enter into definite relations that are indispensable and independent of their will, relations of production which correspond to a definite stage of development of their material productive forces. The sum total of these relations of production constitute the economic structure of society, the real foundation on which rises a legal and political superstructure and to which correspond definite forms of social consciousness. The mode of production of material life conditions the social, political, and intellectual life process in general. It is not the consciousness of men that determines their being, but, on the contrary, their social being that determines their consciousness.<sup>4</sup>

Classes thus correspond to the mode of production and its antecedent productive relations. We also have an unfinished chapter by Marx on "class" in the third volume of



Capital where he indicates that not all relations of production are class relations. He explains:

What constitutes a class? And this follows naturally from another question, namely, what constitutes wage laborers, capitalists, and landlords into three great social classes?

At first glance, it might seem that the identity of their revenues and their source of revenue does that. They are three great social groups, whose component elements, the individuals forming them, live on wages, profit and ground rent, or by the utilization of their labor power, their capital, and their private land.

However, from this point of view physicians and officials would also form two classes, for they belong to two distinct social groups, and the revenue of their members flow from the same common source. The same would also be true of the infinite dissipation of interests and positions created by the social division of labour among laborers, capitalists, and landlords. For instance, the landlords are divided into owners of vineyard, farms, forests, miners, fisheries...<sup>5</sup>

This illuminates the difference between classes and social groups. A class is not determined by a common income level or by the extraction of income from a common source, as is a social group. Relations of production thus define various social groups, while only such social groups constitute classes as are subject to contradictions of interests arising from the way they are related to the means of production. It is the nature and points of contradiction which distinguish classes from social groups, and define the boundaries of classes.

In the absence of a well-developed definition of pre-capitalist classes, scholars in the Marxist tradition have app-



lied the analytic concept of class, as it is used in Marx's historical writings, to discuss rural societies. We know that in rural societies, class differentiation in terms of agricultural laborers, poor peasants, middle peasants, rich peasants, etc., is not as real and empirically observable as is the case with industrial capitalists and the industrial proletariat. Anthropologists have informed us that poor peasants and rich peasant, despite differences in income, are part of the same social class and share a common culture which distinguishes them from upper classes. The peasantry as a social exists because of the existence of other non-peasant classes which live off the surplus product of peasant labor. In this instance, the concept of class is basically used as a heuristic category to organize historical evidence. This becomes necessary for as Hobsbawm has pointed out, "under capitalism class is an immediate and in some sense a directly experienced historical reality, whereas in pre-capitalist epochs it may merely be an analytical construct which makes sense of a complex of facts otherwise inexplicable."<sup>6</sup> To employ the concept of classes a heuristic category in rural society also necessary to explain how the polarization of society into essentially antagonistic classes historically takes place.

Within the Marxist tradition, two opposing views dominate the study of classes. Scholars belonging to the most influential Marxist tradition, using Marx's critical passage in the *Introduction to the Critique of Political Economy*, tend to horizontally structure a society into "economic" base and socio-cultural superstructure. It is thus argued that the mode of production and its attendant relations of production (which together constitute the economic base) give rise to corresponding classes. It is assumed that a shift in economic base will lead to a shift in social relationship. Classes, class relationships, and classes struggle are thus reducible to economic forces and conflicts.

In order to understand classes, it is necessary to examine the mode of production. This raises further problems, for



Marx does not provide a formal definition of the mode of production. We have modes defined by Marx in the context of a specific historical analysis of Western Europe. But economies, and especially pre-industrial agrarian economies on non-western lands, which do not fit these western derived modes have generated a good deal of polemics about identifying a mode of production. Scholars have proposed such particular modes as the "colonial" mode of production, the "peasant" mode of production, and so forth.<sup>7</sup> But fundamentally, all these modes of production present a very static picture of classes arising from a static mode, which one may doubt ever existed in "pure form" at any given historical period.

On the other hand, structuralists, in their analyses, emphasize the "relatively autonomous" characteristic of elements of superstructure within a structural totality. Only "in the last instance", are classes determined by economic forces. The highly theorized and sophisticated structuralist theory, as Thompson writes, "tends to have larger theoretical arsenal to explain ideological domination and the mystification of consciousness," but it "disallows the real *experiential* historical process of class formation."<sup>8</sup> Examples of the application of this theory in the analysis of rural society can be seen in the recent works of Robert Brenner (on Western Europe) and Victor Lipsett (on China).<sup>9</sup> Neither confronts the issue of the mode of production, but rather attempts to analyze the overall economic development (or non-development) in the context of the static notion of class structure. The essential argument of both the scholars is the same. Rejecting the assumption of two dominant schools of thought, namely Malthusian or neo-malthusian and economic deterministic (which emphasizes the primacy of commercialization, trade, and market), Brenner argues that "different class structures, especially 'property relations' or 'surplus extraction relations', once established, tend to impose rather strict limits and



possibilities, indeed rather specific term patterns on a society's economic development,"<sup>10</sup> These class structures are not shaped by, or alterable in terms of, change in demographic or commercial trends. In fact, it is the structure of class relations that determines the manner and degree in which demographic and commercial changes affect historical trends in the distribution of income and economic growth. Thus "it is critical to analyze the relatively autonomous process by which particular class structures, especially property or surplus extraction relations, are established and in particular the class conflicts to which they do (or do not) give rise. For it is in the outcome of such class conflicts the reaffirmation of the old property relations or their destruction and the consequent establishment of a new structure- (that) is to be found perhaps the key to the problem of longterm economic development in late mediæval and early modern Europe, and more generally of the transition from feudalism to capitalism."<sup>11</sup>

Without denying the crucial role of class relations in the specific course taken by a society, the reversal of the historical conclusion that productive relations generate class relations leads to the overstatement and distortion of the concept of class. The essential weakness of these views, as Thompson and others have aptly demonstrated, stems from the false assumption that class is a static and predetermined category which, independent of historical relations and struggle, contributes to economic "surplus extraction" and exploitative property relations" and finally to class struggle. Such a theoretical model of class never exists in historical reality.

If both the model fail to treat class as an historical category, it is because abstract theory precedes historical reality. The basic problem arises out of the base and super-structure model, which arbitrarily puts social norms, culture,



forms of power ( that are essentially elements of relations of production and the mode of production itself ) into superstructure. For example, in the analysis of the Chinese rural society; the *K'an-iching* relations and its crucial significance in the hisorical development or non-development of the society is geneally ignored by the scholars, for it does not fit in the mechanistic Marxisit theoretical pattern. Thompson correctly writes: "We cannot even begin to describe feudal or capitalist society in 'economic' terms indenpedently of the relations of power and domination, the concept of use rights or private ownership (and attendant laws), the culturally endorsed norms and culturally formed needs characteristic of the mode of production. No agrarian system could be continued for a day without complex concept of rights of use of access and ownership: where are we to put such concept-in a 'basis' or a 'superstructure'?"<sup>12</sup> It is thus necessary to discard the notion of base and supersturcture and to enlarge the concept of the mode of production beyond its narrower 'economic' sense. To be sure, this is not a reversal of Marx's theories. At certain places, and especially in *Grundrisse*, minimizing the primacy of economics and indicating the simultaniety of expression of characteristic productive relations in all systems and areas of social life, Marx writes:

In all forms of society it is a determinate production which assigns every other production and its relations their rank and influence. It is a general illumination in which all other colors are plunged and which modifies their specific tonalities. It is a special other which defines the specific gravity of everything found in it.<sup>13</sup>

Thus, by avoiding the analogy of base and superstructure and the theoretical priority of the "economic" realm or base, we can use the concept of the mode of production in its full sense, by taking together the relations of production and attendant norms, value, and forms of power, into which



men or women involuntarily enter. This provides the "general illumination in which all other colors are plunged and which modifies their specific tonalities." Classes are thus both economic and cultural formations. In a real historical process, it is the relationship of different social being who find themselves antagonistically linked to the relations of production, that ultimately produces classes and class consciousness. "To put it bluntly," Thompson writes, "classes do not exist as separate entities, look around, find themselves in a society structured in determined ways (crucially but not exclusively, in productive relations); they experience exploitation (or the need to maintain power over those whom they exploit), they identify points of antagonistic interest, they commence to struggle around these issues and in the process of struggling they discover themselves as classes."<sup>14</sup> This approach does not invalidate the Marxian concept that "social being determines consciousness," but indicates that in any historical analysis social being cannot be understood as class without its social consciousness.

If we cannot conceive of social being apart from social consciousness and norms, ascribing priority of one over the other, it also naturally follows that in a society, structured along, class lines, specific "colors", "tonalities", and the "general illumination" of class relations (expressed in class struggles, class reconciliation, or class equilibrium) cannot be understood without describing the cultural hegemony and the ideological domination of the ruling class.

Hegemony, as Gramsci, the eminent Italian Marxist theoretician, explains, is the 'normal' form of control in any post-feudal society, and the strength of bourgeois rule in advanced capitalist society. Following Marx's comment in the *German Ideology* that the "ideas of ruling class are, in every age, the ruling ideas", Gramsci states that the dominant social class not only controls the means of material production but also the means of ideological (symbolic) production. The intellectual and moral leadership of the



dominant class, which is exercised through various cultural institutions of civil society, aims at establishing its cultural hegemony. When a social system has become established, what perpetuates it is not so much the coercion of the dominant class but its cultural hegemony which permeates the society and effectively mediates class consciousness and class struggle. Thus, hegemony in the Gramscian sense, Gwyn Williams writes, is "an order in which a certain way of life and thought is dominant, in which one concept of reality is diffused through society, in all its institutional and private manifestations, informing with its spirit all tastes, morality, customs, religious and political principles, and all social relations, particularly in their intellectual and moral connotations."<sup>15</sup>

The cultural hegemony of the dominant class thus effectively neutralizes class struggle. Within the subordinate classes, it generates a contradictory class consciousness. It prevents them from acting on behalf of their actual class interests, and as such reveals, in the terms of orthodox Marxism, their "false consciousness". But this notion of false consciousness ignores the fact that hegemony does not prevent the subordinate class from nurturing its own value system and acting on the basis of that system within the framework of the hegemonic order. Gramsci writes :

The active man-in-the-masses...has two theoretical consciousness (or one contradictory consciousness) : one which is implicit in his activity and which truly unites him with all his fellow workers in the practical transformation of reality; and one superficially explicit or verbal, which he has inherited from the past and uncritically accepted. But this 'verbal' conception is not without consequences. It binds together a specific social group, it influences moral conduct and the direction of will, in a manner more or less powerful, but often powerful enough to produce a situation in which the contradictory character of



consciolusness does not permit of any action, any decision or any choice, and produces a condition of moral and political passivity.<sup>16</sup>

The passive compliance to hegemony by the subordinate class entails points of reciprocity or congruities in class relations which over a long period of time keep antagonisms inarticulate and inhibited. Thompson explains :

There is often a kind of 'cut off' : the villager is wise within his own village, but accepts the inevitable organization of the outer world in terms of the rulers' hegemony : he bitterly resents the exactions of the landowner and moneylender but continues to believe in just king or a righteous Tsar. Very often even protest is legitimized in terms of the dominant system, by taking over its rhetoric and turning it to a new account : the rulers are unjust or forgetful, they must be recalled to their duties, they must intervene to prevent their subordinates or the dealers in food from exploiting the poor. Only in exceptional circumstances do the people reach out from their local experience, their lived (as opposed to assumed) values, and offer a more general challenge.<sup>17</sup>

Hegemony thus defines and influences the limits of what is socially and politically tolerable. It offers, only within the particular confines of relations of domination and subordination, a framework for action. It is in this context that we can comprehend the variety of social and political actions of the masses against the violation of their rights, which notions of "false consciousness" or "deviant behaviour" fail to illuminate. Such notions reduce crucial and significant popular expressions of protest into meaningless, loose, and disorderly acts, without analyzing the particular equilibrium of class relationship that defines its form of protest. Any particular equilibrium of class relationship changes as the mode of production and relations of pro-



duction (i.e., also relations of domination and subordination) change. This entails contradictions, conflict of value, and class struggles.

The *K'an-ch'ing* relationship in the Chinese rural society needs to be viewed in such a perspective of class and class relations to analyze the origin of the agrarian discontent in late nineteenth and early twentieth centuries. We have no dearth of evidence indicating changes in the *K'an-ch'ing* relationship especially after the Taiping Rebellion, when change in the relation of domination and subordination altered primarily because of the formalization of the informal power of the gentry by the weakened Ch'ing state. This brought about contradiction, class struggle and finally a communist Revolution in Chinese rural society.

#### REFERENCES

1. e. g., Fu Yi-ling, *M'ing-ch'ing nung-ts' un she hui ch'ing-chi* (Peking 1961); *Chin-tai nung yeh shih tsu liao* (Peking 1957); Fei Hsiao-tung, *Peasant Life in China* (New York 1939); Ramon H. Myers, *The Chinese Peasant Economy* (Harvard 1970); etc.
2. Morton Fried, *Fabric of Chinese Society* (Praeger 1953) p. 103
3. Fried *Fabric*, pp. 102-163
4. Marx. "Preface to the Critique of Political Economy", in *Selected Works*, p. 182
5. Marx, *Capital*, Vol. III, pp. 1031-1032.
6. Eric Hobsbawm, "Class Consciousness in History" in *Aspects of History and Class Consciousness*, ed. Istvan Meszaros (London 1971), p. 8
7. For an ongoing discussion on the mode of production in India, see *Economic and Political Weekly* (Bombay 1975-1978). For a fine summary of different views on the mode of production, also see Adrian Foster-Carter, "The Mode of Production Controversy" in *The New Economic Anthropology*, ed. John Clammer (Macmillan 1978)



8. E.P. Thompson, "Eighteenth Century English Society; Class Struggle without Class" in *Social History*, 3, no. 2 (May 1978) p. 148. This illuminating article has helped me considerably in formulating the present review Paper.
9. Robert Brenner, "Agrarian Class Structure and Economic Development in Pre-Industrial Europe", in *Past and Present*, 70 (February 1976) pp. 30-75; and Victor, "The Development of Underdevelopment in China", in *Modern China*, 4, no. 3 (July 1978), pp. 251-328.
10. Brenner, p. 31
11. Brenner, p. 32
12. E. P. Thompson, "Folklore, Anthropology, and Social History" in *The Indian Historical Review*, 1, pp. 262
13. Marx, *Grundrisse*, (Penguin 1973), pp. 106-107, as quoted in Thompson, "Folklore", p. 261
14. Thompson, "Eighteenth Century" p. 145
15. Gwyn Williams, "Egemonia in the Thought of Antonio Gramsci; Some Notes on Interpretation", in *Journal of a History of Ideas*, 28, 4 (October-December 1960), p. 587
16. Gramsci, *Collected Works*, Vol. II, (1948). p. 117
17. Thompson, "Folklore", p. 266





## सहयोगी लेखक

- \* शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी  
रीडर, साहित्य विभाग  
संस्कृत विद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी—221005
- \* प्रभाकर माचवे  
निदेशक, भारतीय भाषा परिषद  
36-ए. शेक्सपीयर सरणि  
कलकत्ता—700017
- \* शोभाशंकर  
राजनीतिशास्त्र विभाग  
डॉ० हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय  
सागर—470003
- \* मुहम्मद एहसानुल्लाह  
प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग  
शिब्ली नेशनल महाविद्यालय, आजमगढ़
- \* गोरीशंकर  
गांधी विद्या संस्थान, राजघाट  
वाराणसी—5
- \* कृष्णनाथ  
प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग  
काशी विद्यापीठ, वाराणसी
- \* कुँवरपाल सिंह  
रीडर, हिन्दी विभाग  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय  
अलीगढ़—202001
- \* रमाकान्त अस्थाना  
रीडर  
अंग्रेजी विभाग, प्रौद्योगिक संस्थान  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी—221005



- \* श्रीकान्त पाण्डेय  
हिन्दी विभाग  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी-221005
- \* राजेन्द्र पाण्डेय  
मानविकी एवं समाज विज्ञान विभाग  
भारतीय प्रयोगिक संस्थान  
काचपुर (उ० प्र०)
- \* कैवर्पाळ सिंह  
शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी-221005
- \* डॉ० बी० पी० गुप्ता  
रीडर, समाजशास्त्र विभाग  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी-221005
- \* दीणा व्यास  
प्रबक्ता, इतिहास विभाग  
वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा  
वाराणसी-221005
- \* सत्य प्रकाश आर्य  
अध्यक्ष, समाजशास्त्र ( स्नातकोत्तर ) विभाग  
पी० सी० बांगला महाविद्यालय  
हाथरस-204101 ( उ० प्र० )
- \* भगवान शरण भारद्वाज  
कामायनी, इलायतगंज  
डाकघर: इयामगंज  
बरेली-243003
- \* नरेन्द्र सिंह  
शोध सहायक, हिन्दी विभाग  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी-221005



\* मोहन

हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-221005

\* कोशल किशोर मिश्र

प्रवक्ता, राजनीतिशास्त्र विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-221005

\* प्रवेश भारद्वाज

शोधछात्र

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-221005

\* वैरिस्टर सिंह

पत्रकारिता विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-221005

\* जनार्दन उपाध्याय

प्रवक्ता

संस्कृत विद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी- 221005

\* कैलाश नाथ तिवारी

हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-221005

\* हीरालाल प्रजापति

प्रवक्ता, ललित कला संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-221005

\* अविरल श्रीवास्तव

बी० एफ० ए० चतुर्थ वर्ष

ललित कला संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-221005



## CONTRIBUTORS

- \* Immanuel Wallerstein  
Professor  
Department of Sociology  
State University of New York  
Binghamton, New York, U. S. A.
- \* Jaganath Pathy  
Reader  
Department of Sociology  
South Gujarat University  
Gujarat, India
- \* O. P. Dwivedi  
Professor and Chairman  
Department of Political Studies  
William Graff and J. Nef  
Associate Professors  
Department of Political Science  
University of Guelph, Guelph, Canada
- \* James Petras  
Department of Political Science  
Haverford College, Haverford,  
Pennsylvania 19041-1392-215-896-1000
- \* S. K. Chaube  
Professor and Director  
Centre for Himalayan Studies  
University of North Bengal, Siliguri, W. Bengal
- \* Narhari Kaviraj  
12, Avenue, North Road  
Calcutta-75
- \* Sharit Kumar Bhowmik  
Department of Sociology and Social Anthropology  
University of North Bengal, Siliguri, W. Bengal



- \* A. R. Desai  
Jaykutir, Talkalwadi Road  
Mahim, P. O.  
Bombay-400016
  
- \* M. L. Upadhyaya  
Professor and Principal  
University College of Law  
and  
Dean, Faculty of Law  
Calcutta University  
Calcutta
  
- \* N. Rajaram  
Department of Sociology  
Faculty of Arts  
M. S. University  
Baroda—390002
  
- \* R. S. Srivastava  
Associate Professor  
Department of Sociology  
University of Jodhpur  
Jodhpur
  
- \* P. N. Singh  
U. G. C. Teacher Fellow  
Department of English  
University of Rajasthan  
Jaipur
  
- \* Aditi Misra  
Research Scholar  
Department of Political Science  
Banaras Hindu University  
Varanasi-221005



- \* **H. N. Tripathi**  
**Professor**  
**Department of Political Science**  
**Banaras Hindu University**  
**Varanasi-221005**
  
- \* **Adam Przeworski**  
**Professor**  
**Department of Political Science**  
**University of Chicago**  
**Chicago, U. S. A.**
  
- \* **Rajendra Prasad Dubey**  
**Department of Sociology**  
**Banaras Hindu University**  
**Varanasi-221005**
  
- \* **Priyanka Upadhyaya**  
**Lecturer**  
**Anjoo Sharan Upadhyaya**  
**Reader**  
**Department of Political Science**  
**Banaras Hindu University**  
**Varanasi-221005**
  
- \* **Pitambar Dutt Kaushik**  
**Professor**  
**Department of Political Science**  
**Banaras Hindu University**  
**Varanasi-221005**
  
- \* **Kamal Sheel**  
**Reader in Chinese**  
**Banaras Hindu University**  
**Varanasi-221005**

**SRI JAGADGURU VISHWARADHYA**  
**JNANA SIMHASANA JNANAMANDIR**  
**LIBRARY**

**Jangamwadi Math, Varanasi**  
**Acc. No. ....7938.....**







# विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो ।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना ।
3. भारतीय घरेलू धर्मों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना ।
4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना ।

## OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Sanskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India.
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches.
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country: and
4. To promote building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.

---

मुद्रक : सीमा प्रेस, ईश्वरगढ़ी, वाराणसी । फोन : 52092